वैदिक रश्मि विज्ञानम्

बलकारी, ऊर्जनम्, प्रकाशः
-महर्षि दयानन्द

–आचार्य अग्निव्रत

ओ३म्

वैदिक रश्मिविज्ञानम्

व्याख्याकार

आचार्य अग्निव्रत

प्रमुख, श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास

(संचालक, वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान)

सम्पादक

डॉ. मधुलिका आर्या एवं विशाल आर्य

उपप्राचार्या एवं प्राचार्य, वैदिक एवं आधुनिक भौतिकी शोध संस्थान

द वेद साइंस पब्लिकेशन

भीनमाल (राज.)

समर्पणम्

मैं इस ग्रन्थ को विश्वभर के भौतिक वैज्ञानिकों, वेद के अनुसन्धानकर्त्ताओं, प्रबुद्ध व विचारशील धर्माचार्यों, मानव-एकता के स्वप्नद्रष्टाओं, सुविचारशील समाजशास्त्रियों, तर्कसम्मत पन्थनिरपेक्षता के समर्थकों, वैज्ञानिक बुद्धि के धनी उद्योगपतियों, शिक्षाशास्त्रियों, भारत के प्रतिभासम्पन्न राष्ट्रवादियों एवं सभी प्रबुद्ध युवाओं एवं युवतियों की सेवा में भारतवर्ष के प्राचीन वैज्ञानिक गौरव को पुनः प्राप्त कराने एवं सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की भावना से ऋषि दयानन्द के २००वें जन्मदिवस पर सप्रेम समर्पित करता हूँ।

—व्याख्याकार

सन्दर्भ ग्रन्थ संकेत सूची

क्र.सं.	ग्रन्थ नाम	संकेत
१.	अथर्ववेद संहिता	अथर्व.
२.	अष्टाध्यायी	अष्टा.
३.	आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश	आ.को.
४.	उणादि कोष	उ.को.
५.	ऋग्वेद संहिता	ऋ.
६.	ऐतरेय आरण्यक	ऐ.आ.
७.	ऐतरेय ब्राह्मण	ऐ.ब्रा.
८.	कपिष्ठल संहिता	क.सं.
९.	काठक संकलन	काठ.संक.
१०.	काठक संहिता	काठ.सं.
११.	काण्वीय शतपथ ब्राह्मण	का.श.ब्रा.
१२.	कौषीतकि उपनिषद्	कौ.उ.
१३.	कौषीतकि ब्राह्मण	कौ.ब्रा.
१४.	गोपथ ब्राह्मण (पूर्वभाग/उत्तरभाग)	गो.पू./उ.
१५.	जैमिनीय ब्राह्मण	जै.ब्रा.
१६.	जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण	जै.उ.
१७.	ताण्ड्य महाब्राह्मण	तां.ब्रा.
१८.	तैत्तिरीय आरण्यक	तै.आ.

१९.	तैत्तिरीय उपनिषद्	तै.उ.
२०.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	तै.ब्रा.
२१.	तैत्तिरीय संहिता	तै.सं.
२२.	दैवत ब्राह्मण	दै.ब्रा.
२३.	निघण्टु	निघं.
२४.	निरुक्तम्	निरु.
२५.	न्याय दर्शन	न्या.द.
२६.	मनुस्मृति	मनु.
२७.	महर्षि दयानन्द भाष्य	म.द.भा.
२८.	महर्षि दयानन्द ऋग्वेद भाष्य	म.द.ऋ.भा.
२९.	महर्षि दयानन्द यजुर्वेद भाष्य	म.द.य.भा.
३०.	मैत्रायणी संहिता	मै.सं.
३१.	यजुर्वेद संहिता	यजु.
३२.	वैदिक कोश (आचार्य राजवीर शास्त्री)	वै.को.
३३.	शतपथ ब्राह्मण	श.ब्रा.
३४.	शांखायन आरण्यक	शां.आ.
३५.	सत्यार्थ प्रकाश	स.प्र.
३६.	संस्कृत धातु कोश	सं.धा.को.
३७.	सांख्य दर्शन	सां.द.
३८.	षड्विंश ब्राह्मण	ष.ब्रा.

❋ ❋ ❋ ❋ ❋

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	विषय	पृ.सं.
1.	भूमिका	1
2.	विद्या	22
3.	सृष्टि-विज्ञान की उपयोगिता	39
4.	विकासवाद की समीक्षा	46
5.	भाषा व ज्ञान की उत्पत्ति	50
6.	वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान	89
7.	सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया के अन्य ज्ञातव्य तथ्य	265
8.	वेद का यथार्थ स्वरूप	299

* * * * *
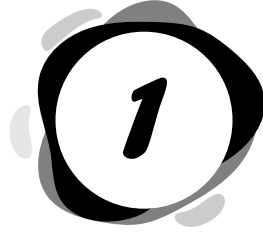
भूमिका

वेद संसार का सबसे प्राचीन ग्रन्थ है, यह तो सर्वविदित है, लेकिन वेद का परिचय केवल इतना ही नहीं है। जो ग्रन्थ सबसे पुराना हो, वह सबसे प्रामाणिक भी हो, यह भी अनिवार्य नहीं है। वेद के विषय में संसार में भिन्न-२ मत प्रचलित हैं। कुछ महानुभाव वेद को केवल हिन्दुओं का ग्रन्थ मानते हैं। इसके साथ ही वे इस ग्रन्थ को हिन्दुओं के पूर्वज ऋषियों द्वारा भिन्न-२ काल में लिखा हुआ मानते हैं। इस ग्रन्थ में वे अथर्ववेद को सबसे नवीन वेद मानते हैं। ये महानुभाव यह भी मानते हैं कि वेदों में इन्द्र, वरुण और अग्नि आदि कल्पित देवताओं की स्तुति की बहुलता है। वेद में कुछ राजाओं, ऋषि-महर्षियों का इतिहास है और अथर्ववेद में जादू-टोना, भूत-प्रेत, शकुन-अपशकुन का वर्णन है। वेद में भिन्न-२ देशों, नदियों और पर्वतों का भी वर्णन है और ये नदी, पर्वत वा व्यक्ति प्राचीन भारत से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि में वेद एक अति साधारण ग्रन्थ है, जो भारतीयों, विशेषकर हिन्दुओं के लिए है।

उधर हिन्दू समाज वेदों को ईश्वरीय ग्रन्थ मानता है, परन्तु अनेकत्र कुछ विद्वान् इसे विभिन्न ऋषियों द्वारा लिखा गया ग्रन्थ मानते हैं। इनकी दृष्टि में वेद में नाना प्रकार की

स्तुतियाँ हैं और इनका उपयोग नाना प्रकार के कर्मकाण्डों के लिए होता है, इसलिए वे विद्वान् वेदमन्त्रों का नाना प्रकार के कर्मकाण्डों में विनियोग करते दिखाई देते हैं और उन कर्मकाण्डों से स्वर्ग की प्राप्ति की अभिलाषा रखते हैं। कुछ लोग इन कर्मकाण्डों में पशुबलि, यहाँ तक कि नरबलि एवं मांस-मदिरा का सेवन करना भी वेदोक्त मानते हैं। इसी प्रकार की मान्यता ने संसार में वाममार्ग को उत्पन्न किया, जिसमें पञ्च मकारों (मांस, मदिरा, मैथुन, मुद्रा, मछली) को ही पूजा माना गया था।

जब कुछ विज्ञ जनों ने वेदों का यह बीभत्स रूप देखा और ऐसे वेदों को अपौरुषेय भी मानते देखा, तब उन्होंने कहा कि वेद भाण्ड, धूर्त व निशाचरों की रचना है। इस कारण उन्होंने न केवल वैदिक कर्मकाण्डों की आलोचना की, अपितु ईश्वर, आत्मा, जन्म और कर्मफल आदि मान्यताओं को भी सर्वथा नकारते हुए कहा—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

(सत्यार्थ प्रकाश द्वादश समुल्लास से उद्धृत)

इस प्रकार वाममार्ग वेद को मानने वाला था, परन्तु वेदज्ञान से शून्य होने के कारण संसार को अनेक प्रकार के पाप देने वाला बन गया। दूसरी ओर अनीश्वरवादी एवं वेदविरोधी नास्तिक मत चार्वाक नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार यह मानव समाज दो वर्गों में विभाजित हो गया। एक वर्ग शिखा, सूत्र व शास्त्रधारी होकर भयंकर पाप कर रहा था, यज्ञों में मांस-मदिरा और चर्बी की दुर्गन्ध फैला रहा था, उधर दूसरी ओर चार्वाक मत मनुष्य को स्वेच्छाचारी विषयभोगी बना रहा था। उस परिस्थिति में ऐसे किसी पवित्रात्मा, जो वेदों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता हो, का किंकर्तव्यविमूढ होना स्वाभाविक ही था। इसी कारण महात्मा बुद्ध और महावीर स्वामी जैसे महापुरुषों ने एक ओर तो वेद से दूरी बना ली अथवा उदासीन हो गये, तो दूसरी ओर उन्होंने नास्तिक चार्वाक मत को भी अस्वीकार कर दिया। वे दोनों ही अहिंसा और सत्य को आधार बनाकर नवीन मार्ग पर चल पड़े।

ऋषि दयानन्द के अनुसार प्रतिमापूजन की परम्परा इन्हीं के अनुयायियों द्वारा प्रारम्भ हुई। ऐसा सुना जाता है कि इनके दिवंगत होने के पश्चात् इनके अनुयायियों ने वेद को हिंसा का पोषक ग्रन्थ मानकर वैदिक साहित्य को जलाना प्रारम्भ कर दिया, यह बात कहाँ तक सत्य

है, हम नहीं जानते। इस प्रकार वेद विज्ञान के अस्त होने के पश्चात् छाये हुए अज्ञान के अन्धकार में चारों मत पृथक्-२ आगे बढ़ रहे थे। वैदिक विद्या तो समाप्त हो ही चुकी थी, इसके साथ ही वैदिक साहित्य भी विनाश को प्राप्त होता जा रहा था। ऐसी परिस्थिति में दक्षिण भारत में आदि शंकराचार्य जैसे महापुरुष का जन्म हुआ। सुनते हैं कि वे आठ वर्ष की आयु में संन्यासी बन गये और उन्होंने वेद एवं भारतवर्ष की अधोगति को देखा, तो उन्होंने धर्म की स्थापना का विचार किया। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के ११ वें समुल्लास में आदि शंकराचार्य को बहुत सम्मान के साथ वर्णित किया है। ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

"२२०० वर्ष हुए कि एक 'शंकराचार्य' द्रविड़ देशोत्पन्न ब्राह्मण ब्रह्मचर्य से व्याकरणादि सब शास्त्रों को पढ़कर सोचने लगे कि अहह! सत्य आस्तिक वेदमत का छूटना और जैन नास्तिक मत का चलना बड़ी ही हानि की बात हुई है, इनको हटाना चाहिए। शंकराचार्य शास्त्र तो पढ़े ही थे, परन्तु जैनमत के भी पुस्तक पढ़े थे और उनकी युक्ति भी बहुत प्रबल थी।"

ऐसे महान् विद्वान् शंकराचार्य ने भारतवर्ष की सांस्कृतिक एकता के लिए चार मठों की स्थापना की। दुर्भाग्य से ३२ वर्ष की अल्पायु में ही विश्वासघात करके विष देकर इनकी हत्या कर दी गई और वे अपने विचारों को स्पष्टता से समझाने का अवसर प्राप्त नहीं कर पाये। उनके पश्चात् उनके अनुयायियों ने ब्रह्मसूत्र का सहारा लेकर ब्रह्मसूत्र के ही विरुद्ध 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' जैसा मिथ्या एवं अवैदिक घोष प्रारम्भ कर दिया। उनके ग्रन्थों में नारी और शूद्र के प्रति हेय भाव के दुर्भाग्यपूर्ण प्रकरण हमें उपलब्ध होते हैं और कदाचित् इन्हीं प्रकरणों को देखकर मनुस्मृति, रामायण एवं महाभारत आदि ग्रन्थों में ऐसे पापपूर्ण प्रक्षेप किये गये हैं। सम्भव है कि इससे पहले से भी शास्त्रों के मिथ्या अर्थ और प्रक्षेपों की दुर्भाग्यपूर्ण परम्परा प्रारम्भ हो चुकी हो।

मेरा अपना निजी मत यह है कि जो युवक बाल्यावस्था से ही वैराग्यवान् हो, जिसने समूचे भारतवर्ष में अपनी विद्वत्ता का डंका बजाया हो, जिसके मन में वैदिक सनातन धर्म एवं भारत देश को बचाने की प्रबल उत्कण्ठा हो, जो सम्पूर्ण भारतवर्ष में अकेला ही विजय यात्रा के लिए चल पड़ा हो, ऐसा तेजस्वी, अप्रतिम आत्मबलसम्पन्न और प्रज्ञावान् पुरुष पूर्ण योगी ही हो सकता है। किसी भी योगी के लिए यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि वह मानव

मात्र में भेदभाव करे। योग का प्रारम्भ ही अहिंसा से होता है और अस्पृश्यता (छुआछूत) भी एक प्रकार की हिंसा है, जिसका योग से सर्वथा विरोध है, इसलिए यही सम्भव प्रतीत होता है कि कुछ लोगों ने अपने पापों को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए शंकराचार्य के ग्रन्थों में मिलावट कर दी हो। यदि दुर्जन-तोष न्याय से यह उनका निजी मत भी मान लें, तब भी वेदविरुद्ध होने से यह किसी को स्वीकार नहीं होना चाहिए।

इस प्रकार अब भारतवर्ष के अन्दर पाँच मुख्य धाराएँ प्रचलित हो गईं— वाममार्ग, चार्वाक, बौद्धमत, जैनमत और तथाकथित अद्वैतवाद। बौद्धमत भारतीयों को अहिंसा के नाम पर कायर बना रहा था, तो दूसरी ओर अद्वैत मत 'अहं ब्रह्माऽस्मि' एवं 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' जैसे भ्रामक नारे लगाकर भारतीयों को पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय हितों से विरक्त कर रहा था। वाममार्ग और चार्वाक तो वैसे भी अधर्म के दूसरे नाम थे। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण भारतवर्ष वेदविद्या से निरन्तर दूर से दूरतर होता जा रहा था। अनेक आचार्य अपने-२ मतों का प्रवर्तन करते जा रहे थे, परन्तु किसी भी मत में वेदविद्या का यथार्थ प्रकाश न होने के कारण राष्ट्रीयता एवं सामाजिक अवधारणा ही समाप्त हो रही थी। कोई भी आचार्य राष्ट्र और समाज के प्रति कर्त्तव्यों को बताने वाला नहीं था। अधिकांश जनसंख्या के लिए वेद का पठन-पाठन प्रतिबन्धित कर दिया था और जो पठन-पाठन कर भी रहे थे, वे भी वेदपाठ और कर्मकाण्ड तक ही सीमित रह गये थे। हाँ, इतना अवश्य है कि वेदार्थ से सर्वथा शून्य वेदपाठियों ने वेदों को सस्वर कण्ठस्थ करके प्रत्येक परिस्थिति में बचाये रखा और इस कारण उनमें प्रक्षेप भी लगभग नहीं हो पाया। बीभत्स कर्मकाण्डियों ने भी ब्राह्मण ग्रन्थों एवं श्रौत सूत्र आदि ग्रन्थों को बचाये रखा। इस कारण संसार इन ब्राह्मणों का अवश्य ही ऋणी रहेगा।

ऐसी परिस्थिति में मृतप्राय भारत विदेशी आक्रान्ताओं के आक्रमणों से आहत होने लगा। इस प्रकार यह भारत देश धार्मिक, दार्शनिक, राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक सभी रूपों से छिन्न-भिन्न और किंकर्तव्यविमूढ हो रहा था। अनेक मत-पन्थ जन्म ले रहे थे, देश विदेशियों से पदाक्रान्त हो रहा था। कोई राजा-महाराजा वा धर्माचार्य ऐसा दिखाई नहीं दे रहा था, जो इस सम्पूर्ण परिस्थिति का मूल्यांकन करके प्रत्येक क्षेत्र में देश और विश्व को उचित दिशा दे सके। इस देश में अनेक महापुरुषों ने जन्म भी लिया, जिनमें से आचार्य चाणक्य, संत कबीर, गुरु नानकदेव, संत रविदास, गोस्वामी तुलसीदास, मीरा बाई, संत

ज्ञानेश्वर आदि प्रमुख हैं। यहाँ हम वीर क्षत्रियों की चर्चा करना प्रासंगिक नहीं समझते हैं, क्योंकि देश को दिशा धर्माचार्य और दार्शनिक ही देते हैं। दुर्भाग्य से इन सभी महापुरुषों में से कोई भी वेदविद्या का विशेष ज्ञाता नहीं था, पुनरपि इन्होंने अपने सामर्थ्य और परिस्थिति के अनुसार निष्काम पुरुषार्थ किया।

ऐसी विषम परिस्थिति में गुजरात के टंकारा गाँव में एक महापुरुष ने जन्म लिया और वह महापुरुष स्वामी दयानन्द सरस्वती नाम से विश्वविख्यात हुआ। सौभाग्य से उन्हें महान् प्रज्ञावान् स्वामी विरजानन्द सरस्वती जैसा गुरु मिला। दण्डी स्वामी विरजानन्द सरस्वती नेत्रहीन होते हुए भी अपनी महती प्रज्ञा एवं योगारूढ़ आत्मा के बल से भारतवर्ष की अधोगति को जिस सूक्ष्मता से देख पा रहे थे, वैसा देखने में उस समय भारतवर्ष का कोई आचार्य अथवा राजा-महाराजा भी समर्थ नहीं था। ऐसे महान् गुरु ने स्वामी दयानन्द सरस्वती को एक विराट् व्यक्तित्व वाला बना दिया। उन्होंने अपने गुरु की भावनाओं के अनुरूप, जो प्राचीन आर्ष परम्परा के अनुसार ही थी, शास्त्रों के साथ-२ देश और समाज के उद्धार का संकल्प लिया। उन्होंने एक कुशल वैद्य की भाँति इस यथार्थ को जाना कि प्राचीन आर्यावर्त देश का जो भी उत्कृष्ट रूप था, उसका कारण वेदविद्या का प्रकाश ही था और भारत का जो भी विनाश हुआ है, उसका कारण वेदविद्या का पतन हो जाना ही है।

यद्यपि उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश आदि ग्रन्थों में विविध क्षेत्रों में देश और विश्व को एक नई दिशा देने का प्रयास किया और देश को स्वतन्त्र कराने का प्रथम उद्घोष भी उन्होंने ही दिया, परन्तु उनका सबसे प्रमुख कार्य था— विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्डों की बेड़ियों में जकड़े वेद के यथार्थ स्वरूप को संसार के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास करना। उन्होंने वेद को सनातन आर्ष परम्परा के अनुकूल देखने का प्रयास किया और उन्होंने आशा व्यक्त की कि जिस दिन उनका वेदभाष्य पूर्ण हो जायेगा, उस दिन भूमण्डल पर सूर्य जैसा प्रकाश हो जायेगा, जिसे मेटने और ढाँपने का सामर्थ्य किसी का नहीं होगा। उनकी दृष्टि आर्ष थी, महान् योगबल था और उनके हृदय में वैदिक धर्म के मिटने का प्रबल सन्ताप था। शरीर में अद्भुत बल और मस्तिष्क प्रबल प्रतिभासम्पन्न था। इस कारण उन्होंने आर्यावर्त देश और सनातन वैदिक धर्म की दुरवस्था के मूल कारण को पहचाना। ऐसी पहचान करने वाले हजारों वर्ष पश्चात् वे प्रथम महापुरुष थे। उन्होंने अनुभव किया कि जब से भारतवर्ष अथवा विश्व में वेद का यथार्थ स्वरूप लुप्त हुआ है, तब से ही यह पतन प्रारम्भ हुआ है।

इस कारण उन्होंने परम्परागत शैली से अलग हटकर वेदभाष्य करना प्रारम्भ किया। उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ही वेदों के यथार्थ विज्ञान की एक अति संक्षिप्त झाँकी प्रस्तुत की। ऋग्वेद के प्रारम्भिक मन्त्रों का कुछ विस्तार से दो-दो प्रकार का भाष्य किया और शनैः-शनैः उनका भाष्य संक्षिप्त से संक्षिप्ततर होता चला गया और ऋग्वेद के भाष्य के पश्चात् उन्होंने यजुर्वेद का भाष्य भी संक्षिप्त रूप में ही किया। आर्य विद्वान् आचार्य विश्वश्रवा व्यास के अनुसार 'ऋषि दयानन्द कहते थे कि चारों वेदों का भाष्य करने के लिए उन्हें चार सौ वर्ष की आयु चाहिए', परन्तु उन्हें वेदभाष्य के लिए मात्र ७-८ वर्ष ही मिले होंगे, उसमें भी वे एक स्थान पर निश्चिन्तता से बैठकर भाष्य नहीं कर पाये।

वर्तमान में हमें ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ६१वें सूक्त के दो मन्त्रों तक ही उनका भाष्य उपलब्ध होता है, परन्तु उन्होंने यजुर्वेद भाष्य के प्रारम्भ में जो लिखा है, उससे स्पष्ट होता है कि उन्होंने ऋग्वेद का भाष्य पूर्ण किया था, परन्तु किसी के प्रमादवश ऋग्वेद के शेष भाष्य की पाण्डुलिपि सम्भवतः कहीं खो गई। किसी ने उसे ढूँढने का प्रयास किया वा नहीं, यह हमारी जानकारी में नहीं है। उनका उपलब्ध भाष्य भी सांकेतिक मात्र ही है, क्योंकि कहीं-२ तो उन्होंने कई पदों को ही बिना भाष्य किये छोड़ दिया है। भाष्य का हिन्दी अनुवाद भी उनका नहीं है, बल्कि उनका लेखन कार्य करने वाले पण्डितों का है। उन्होंने हिन्दी-अनुवाद में अनेकत्र ऋषि दयानन्द के मन्तव्य के विपरीत अनुवाद कर दिया है, जो कहीं-२ हास्यास्पद भी हो गया है। सामान्य जन हिन्दी अनुवाद ही पढ़ता है, इस कारण वेद के स्वाध्याय से भी आर्यजन कुछ भी विशेष लाभ नहीं उठा पाये। ऋषि दयानन्द का संस्कृत भाष्य भी विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखता है।

सम्भवतः ऋषि को यह अनुभव हो गया था कि उनका जीवन अधिक दिन नहीं चलेगा और उनके पास कार्यों की अधिकता भी थी। इस कारण वे सांकेतिक भाष्य ही कर पाये। जो आर्यजन हठपूर्वक इस भाष्य को पूर्ण मानते हैं, वे आज तक उसमें से कुछ भी प्रकाश स्वयं और स्वयं के परिवार में नहीं कर पाये, जबकि उन्हें यह प्रकाश सारे भूमण्डल पर करना था। कोई यह विचार करने के लिए उद्यत नहीं कि क्यों हम वेदभाष्य के रहते हुए भी पाश्चात्य कुशिक्षा और कुसभ्यता के दास बन गये? क्यों हम अपने परिवारों में वेदों की श्रेष्ठता को स्थापित नहीं कर पाये? हम आत्मनिरीक्षण करें कि क्या उपलब्ध वेदभाष्य पढ़कर ऐसा निश्चय हो पाता है कि जो भी वेदभाष्य में है, वह मनुष्य नहीं लिख सकता? क्या हमें ऐसा

लगता है कि वेद में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की चर्चा की जा रही है और चर्चा भी इतनी गम्भीर कि उसे वर्तमान विज्ञान पूर्ण रूप से कभी न जान पाये? क्या हमें ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वेदभाष्य सांकेतिक ही है, जिसके आधार पर हम संसार में वेद को प्रतिष्ठित नहीं कर सकते?

यह सब लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि मैं ऋषि दयानन्द की अवमानना कर रहा हूँ, बल्कि मेरा उद्देश्य यह है कि ऋषि दयानन्द के समय की परिस्थिति और उनकी विवशता को भी अनुभव करने का प्रयास किया जाये। कोई कितना ही प्रतिभाशाली व्यक्ति क्यों न हो, वह ऋषि दयानन्द की उस परिस्थिति में रहकर इतना बड़ा कार्य नहीं कर सकता, यही उनका गौरव है। ऋषि दयानन्द के पश्चात् उनसे प्रेरित पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी ने वेदादि शास्त्रों को कुछ वैज्ञानिक दृष्टि से देखने का प्रयास किया। उनकी लेखनी ने यूरोपियन वैदिक विद्वानों में धूम मचा दी, परन्तु यूरोप के पदार्थ विज्ञान को चुनौती देने वाला अथवा नई दिशा देने वाला कार्य वे नहीं कर पाये। आर्यसमाज और डी.ए.वी. कॉलेज के प्रचार करने में अति व्यस्त रहने के कारण और अल्प वय में संसार से चले जाने के कारण वे विशेष प्रतिभा के धनी होने के उपरान्त भी वेद पर काम नहीं कर पाये।

ऋषि से प्रेरित अन्य महानुभावों में महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द), लेखराम, पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द), प्रो. श्यामकृष्ण वर्मा, लाला लाजपतराय एवं महात्मा हंसराज प्रमुख हैं, जिन्होंने राष्ट्र व समाज को जगाने और स्वाधीनता आन्दोलन को खड़ा करने में अग्रणी भूमिका निभाई। उनके पश्चात् भी अनेक विद्वान् और देशभक्त आर्यसमाज में हुए, जिन्होंने अपना सारा जीवन देश और समाज के लिए आहुत कर दिया, परन्तु वेद के यथार्थ स्वरूप को समझने का प्रयास करने वाला ऐसा कोई विद्वान् नहीं हुआ, जो वेद की अपौरुषेयता एवं सर्वविज्ञानमयता को सिद्ध करने में समर्थ होवे। इस कारण हमारे गुरुकुल विदेशी शिक्षा की आँधी को रोकने में समर्थ तो नहीं हो सके, बल्कि गुरुकुल स्वयं मैकाले की शिक्षा के प्रवाह में बहते जा रहे हैं। यदि हम आधुनिक शिक्षा का कोई विकल्प प्रस्तुत कर पाते, वैदिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी का कुछ भी विकास कर पाते और सम्पूर्ण हिन्दू समाज आर्यसमाज के विद्वानों को अपना साथ देता, तो आज देश में अपनी स्वदेशी शिक्षा और चिकित्सा का साम्राज्य होता।

मैंने लगभग ३० वर्ष पूर्व ही यह अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया था कि हम आर्यसमाज के प्रथम और तृतीय नियम पर भले ही कितने भी भाषण-प्रवचन क्यों न कर लें, परन्तु

वैज्ञानिक जगत् में इसे सिद्ध कर पाना अति दुष्कर है। इसी कारण मैंने वेद पर इस दृष्टि से विचार करने का व्रत लिया कि वेद ईश्वरीय भी सिद्ध हो जाये और सर्वविज्ञानमय भी। आर्य विद्वानों में से कोई भी ऐसा दिखाई नहीं दिया, जो इस दिशा में कुछ मार्गदर्शन वा परामर्श दे सके। इस कारण स्वयं ही आर्ष ग्रन्थों को पढ़ने का निश्चय किया। इस क्रम में पढ़ते-२ ब्राह्मण ग्रन्थों की बारी आयी। सर्वप्रथम ऐतरेय ब्राह्मण का सायण भाष्य तथा डॉ. सुधाकर मालवीय द्वारा किया हुआ हिन्दी अनुवाद देखा। इसके साथ ही आर्य विद्वान् आचार्य वीरेन्द्र शास्त्री का हिन्दी अनुवाद एवं पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय के द्वारा किया गया शतपथ ब्राह्मण का हिन्दी अनुवाद देखा। यह सब देखकर बहुत भय हुआ कि यदि यही ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, तो वेद को अपौरुषेय और सर्वविज्ञानमय कहना नितान्त मूर्खता की बात होगी। इससे आर्यसमाज की मूल विचारधारा का भवन ही ढह जायेगा।

मुझे ऋषि दयानन्द के कथनों पर विश्वास था और सभी प्राचीन ऋषियों पर अटूट श्रद्धा भी थी। इससे प्रेरित होकर मैंने यह विचार किया कि ब्राह्मण ग्रन्थों का कोई भी भाष्य या अनुवाद ठीक नहीं है। इसलिए स्वयं भाष्य करना चाहिए। इसी क्रम में मैंने 'वेदविज्ञान-आलोक:' नाम से ऐतरेय ब्राह्मण का वैज्ञानिक भाष्य किया। इसमें लगभग १२५ ग्रन्थों को उद्धृत किया। इससे सिद्ध है कि हमारा भाष्य ऋषियों के विचारों के अनुरूप ही है। कहीं भी कोई बात कल्पना से नहीं लिखी गई है। यही स्थिति इस ग्रन्थ में भी है। वेद मन्त्रों को रश्मियों के रूप में मानने तथा वेद के ऋषियों का भी रश्मिरूप में अन्तरिक्ष में विद्यमान होने का संकेत पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर के निरुक्त-भाष्य से प्राप्त हुआ। इसके साथ ही ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदनित्यत्व विषय नामक अध्याय में उल्लिखित इस वचन से भी हुआ— "किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं। शब्द नित्य हैं। वेदों के शब्द सब प्रकार से नित्य बने रहते हैं।" इसके अतिरिक्त अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषद् एवं आरण्यक तथा वेद की कुछ शाखाओं के वचनों से यह स्पष्ट हुआ कि सम्पूर्ण सृष्टि वैदिक छन्द रश्मियों से बनी है और उन्हीं के द्वारा संचालित भी है। इन सबका भी मूल संचालक परब्रह्म परमात्मा है।

इस प्रकार हमने सृष्टि को समझने के लिए वैदिक रश्मि सिद्धान्त का आविष्कार किया, जो वास्तव में हमारा सिद्धान्त नहीं, बल्कि प्राचीन ऋषियों और वेदों का ही सिद्धान्त है, जिसे हम हजारों वर्षों से भूले हुए थे। इस सिद्धान्त के आधार पर ही सम्पूर्ण सृष्टि की ऐसी व्याख्या

की जा सकती है, जो वर्तमान विज्ञान के किसी भी सिद्धान्त से अधिक सूक्ष्म, गम्भीर और व्यापक हो। वैदिक रश्मि विज्ञान के द्वारा ही वेद को अपौरुषेय एवं सर्वविज्ञानमय सिद्ध किया जा सकता है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। इस सिद्धान्त के द्वारा ही प्राचीन इतिहास के अन्वेषण करने में किसी भी घटना के सम्भव वा असम्भव होने की पहचान भी की जा सकती है। इसके आधार पर वेदादि शास्त्रों की व्याख्या करके उन्हें पूर्ण निर्दोष और सर्वहितकारी रूप में संसार में प्रतिष्ठित किया जा सकता है। इस प्रकार इस विज्ञान का विकास करके सुदूर भविष्य में ऐसी वैदिक शिक्षा प्रणाली का विकास भी किया जा सकता है, जो आधुनिक शिक्षा प्रणाली से अधिक श्रेष्ठ और हितकारी हो, किन्तु यह सब करने के लिए हमारे पास पर्याप्त आर्थिक संसाधन होवें।

इसके लिये उन सभी महानुभावों को गम्भीरता से विचार करना चाहिए, जो वेद को संसार में प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। जिनमें भारतवर्ष को बौद्धिक दासता से मुक्त कराने की गहरी तड़प है और जिनमें ऋषि-मुनियों और देवों तथा अन्य प्राचीन महापुरुषों के प्रति गहरे सम्मान का भाव विद्यमान है। आज आसुरी कुशिक्षा और कुसंस्कारों को प्रचारित और प्रसारित करने के लिए विश्व के सभी संसाधन लगे हुए हैं, जबकि वेदों और देवों की बात करने वाले महानुभावों के पास न कोई योजना है और न कोई दिशा। पौराणिक सनातनी कहाने वाले महानुभाव मन्दिरों पर धन व्यय करने व नाना कर्मकाण्ड करने-कराने में ही व्यस्त हैं और आर्यसमाजी मात्र यज्ञ, कथित योग, प्रवचन आदि करके ही स्वयं को वेदभक्त मान बैठे हैं। वस्तुतः वेद कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा। आशा है कि सभी देशभक्त और वैदिक सनातन धर्मप्रेमी सज्जन इस पर अवश्य विचार करेंगे।

प्रश्न— आपका यह कथन कि सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि चार ऋषियों को वेद का ज्ञान प्राप्त हुआ, उचित नहीं है। भारतीय परम्परा महर्षि ब्रह्मा को सर्वप्रथम वेदों का ज्ञान प्राप्त होना मानती है।

उत्तर— यहाँ सर्वप्रथम तो हम यह कहना चाहते हैं कि यह हमारा मत नहीं है, बल्कि संसार के सर्वोच्च व सर्वप्रथम राजर्षि भगवान् मनु का मत है, जिनके विषय में प्राचीन ऋषियों का कथन है— 'यद्वै किञ्च मनुरवदत् तद् भेषजम्' (तै.सं.२.२.१०.३) अर्थात् मनु महाराज के कथन औषधि के समान हितकारी हैं। इस कारण कोई भी भारतीय परम्परा इनके विरुद्ध

हो ही नहीं सकती। अब हम अन्य आर्ष ग्रन्थों को भी उद्धृत करते हैं—

'ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत (प्रजापतिः) त्रय्येव विद्या
तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजामिति' (श.ब्रा.६.१.१.१०)।

इस कथन से यह संकेत मिलता है कि परमात्मा ने महर्षि ब्रह्मा को त्रयी विद्या अर्थात् चारों वेदों (शैली के आधार पर तीन) का ज्ञान दिया। यह कथन महर्षि याज्ञवल्क्य का है। यद्यपि महर्षि याज्ञवल्क्य की अपेक्षा भगवान् मनु का स्थान अत्यन्त उच्च है, पुनरपि महर्षि याज्ञवल्क्य भी आप्त पुरुष होने से इनका कथन भी मिथ्या नहीं हो सकता। तब हमें किसी एक पक्ष को नहीं देखना, बल्कि दोनों में सामंजस्य बिठाना होगा। इसके लिए भगवान् मनु प्रोक्त श्लोक में 'अग्निवायुरविभ्यः' में पञ्चमी विभक्ति माननी होगी। इस प्रकार शतपथ के उपर्युक्त वचन के प्रकाश में मनु प्रोक्त श्लोक का अर्थ इस प्रकार होगा—

महर्षि ब्रह्मा ने यज्ञ अर्थात् लोककल्याणार्थ अग्नि, वायु आदि ऋषियों से ऋक्, यजुः एवं साम लक्षण वाला वेद दुहा अर्थात् प्राप्त किया। इसका अर्थ यह है कि परमात्मा इस सृष्टि में सब जीवों के कल्याण के लिए अग्नि, वायु आदि महर्षियों के माध्यम से महर्षि ब्रह्मा को सम्पूर्ण वेद का ज्ञान प्राप्त कराता है। इस प्रकार महर्षि ब्रह्मा ही इस पृथिवी पर प्रथम पुरुष थे, जिन्हें सम्पूर्ण त्रयीविद्या का ज्ञान प्राप्त हुआ। अग्नि, वायु आदि को एक-एक वेद का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार एक-एक वेद को प्राप्त करने वाले अग्नि, वायु आदि चार ऋषि थे, जबकि चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त करने वाले महर्षि ब्रह्मा ही प्रथम व्यक्ति थे। इस प्रकार भगवान् मनु एवं महर्षि याज्ञवल्क्य दोनों के कथन सत्य हैं।

प्रश्न— आप बार-२ वेदमन्त्रों को रश्मि नाम देते हैं, ऐसा अन्य किसी ऋषि ने तो कभी कहा नहीं। क्या यह आपके मन की मिथ्या कल्पना नहीं है? जब आप इस रश्मिजाल से बाहर निकलकर वेदों का चिन्तन करेंगे, तब आपको वेदों का अर्थ समझ में आयेगा।

उत्तर— इस प्रश्न का उत्तर समझने के लिए पहले आपको यह समझना होगा कि वेद क्या है? वेद छन्दरूप है, इस विषय में किसी प्रकार के तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं है। छन्द के विषय में महर्षि यास्क का कहना है— छन्दांसि च्छादनात् (निरु.७.१२)। इसी विषय में दैवत ब्राह्मण ३.१९ का कहना है— 'छन्दांसि छन्दयन्तीति वा'। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ये छन्द किस पदार्थ का नाम है, जो किसी अन्य पदार्थ को आच्छादित करता

है। आच्छादन शब्द यह बताता है कि छन्द कोई द्रव्य है, जो किसी अन्य द्रव्य को आच्छादित करता है। 'छन्द:' पद के अनेक अर्थ ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में किये हैं—

प्रकाशकर्म (म.द.य.भा.१५.४)
ऊर्जनम् (म.द.य.भा.१५.४)
बलकारी (म.द.य.भा.१४.१८)
प्रकाश: (म.द.य.भा.१४.१८)

इन अर्थों से भी यह सिद्ध हो रहा है कि छन्द कोई द्रव्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि वेद मन्त्र द्रव्यरूप हैं। उधर एक अन्य ऋषि का कथन है— 'प्राणा: वै छन्दांसि' (कौ.ब्रा. ७.९.१७.२)। इसका अर्थ यह हुआ कि छन्द प्राण रूप हैं अर्थात् वेदमन्त्र प्राणरूप हैं। प्राण निरन्तर कम्पन करने वाला पदार्थ है। इसके लिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है— 'अध्रुवं वै तद्यत्प्राण:' (श.ब्रा.१०.२.६.१९)। उधर महर्षि व्यास जी का कथन है— 'प्राण: कम्पनात् (ब्र.सू.१.३.३९)। इसका अर्थ यह हुआ कि वेदमन्त्र रूपी पदार्थ इस सृष्टि में सदैव कम्पन करता रहता है। रश्मि भी निरन्तर कम्पन करती रहती है, इसलिए महर्षि तित्तिर ने कहा है— 'प्राणा रश्मय:' (तै.ब्रा.३.२.५.२)। आपका यह प्रश्न कि रश्मि शब्द का प्रयोग किसी ने नहीं किया, आपके स्वाध्याय की कमी को ही दर्शाता है।

रश्मि शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है। उदाहरणार्थ—

मासा रश्मय: (जै.ब्रा.१.१३७)
रश्मय: ऋतव: (मै.सं.४.८.८, क.सं.४३,१)
रश्मयो मरुत: (जै.ब्रा.१.१३७)

इस पर आप प्रश्न कर सकते हैं कि मरुत् तो रश्मि है, परन्तु छन्द को रश्मि कहाँ कहा? यद्यपि प्राण को रश्मि कहने और छन्द को प्राण कहने से स्वत: ही छन्द रश्मिरूप सिद्ध होता है, पुनरपि आपके सन्तोष के लिए हम एक और प्रमाण प्रस्तुत करते हैं— 'एष यानि क्षुद्राणि छन्दांसि तानि मरुताम्' (ता.ब्रा.१७.१.३) अर्थात् जो न्यून अक्षर वाले छन्द होते हैं, वे ही मरुतों का रूप हैं। अथर्ववेद १९.५३.१ में काल को सप्तरश्मि कहा है। यहाँ सप्तरश्मि का अर्थ सात प्रकार के प्राण ही हैं। सम्पूर्ण सृष्टि इन वैदिक रश्मियों से ही बनी है, इसलिए ऋषियों ने कहा है—

एते वै विश्वेदेवा रश्मय: (श.ब्रा.२.३.१.७)
अन्नं रश्मि: (श.ब्रा.८.५.३.३)
एते वै रश्मयो विश्वेदेवा: (श.ब्रा.१२.४.४.६)

इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण सृष्टि रश्मिरूप ही है अर्थात् रश्मियों से ही मिलकर बनी है। इस सृष्टि में एक विशेष प्रकार के विभाग की दृष्टि से सभी पदार्थ अन्न एवं प्राण इन दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं और दोनों ही प्रकार के पदार्थ रश्मिरूप ही हैं। उधर यजुर्वेद में सभी पदार्थों को छन्दरूप कहा है—

पृथिवी छन्दोऽन्तरिक्षं छन्दो द्यौश्छन्द: समास्छन्दो नक्षत्राणि छन्दो मनश्छन्द: कृषिछन्दो हरिण्यं छन्दो गौश्छन्दोऽजा च्छन्दोऽश्वछन्द: ॥ (यजु.१४.१९)

शैली की दृष्टि से वेद (छन्द) तीन प्रकार के होते हैं—

१. ऋक् — इनके विषय में कहा गया है—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहु: (तै.ब्रा.३.१२.९.११)
ऋक् वा अयं पृथिवीलोक: (जै.ब्रा.२.३८०)

अर्थात् इस सृष्टि में जो भी मूर्तिमान पदार्थ हैं, उनमें ऋक् छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है।

२. यजु: — इनके विषय में कहा गया है—

सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् (तै.ब्रा.३.१२.९.१)
अन्तरिक्षं वै यजुषामायतनम् (गो.पू.२.२४)
अन्तरिक्षलोको यजुर्वेद: (ष.ब्रा.१.५)

इन प्रमाणों का अर्थ यह है कि इस सृष्टि में जो भी पदार्थ गति कर रहे हैं, वे यजु: छन्द रश्मियों से बने आकाश में ही गमन कर रहे हैं। इन छन्द रश्मियों का विस्तार ही आकाश महाभूत कहलाता है।

३. साम — इनके विषय में कहा है—

सर्वं तेज: सामरूप्यं ह शश्वत् (तै.ब्रा.३.१२.९.२)

साम वा असौ द्युलोक: (तां.ब्रा.४.३.५)
अर्चि: आदित्यस्य सामानि (श.ब्रा.१०.५.१.५)

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि प्रकाश की किरणों एवं प्रकाशित लोकों में साम नामक छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है।

विस्तारभय से हम और अधिक प्रमाण नहीं दे रहे हैं और न ही ऐसा करना आवश्यक है। इन प्रमाणों के रहते हुए भी कोई व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि वेदमन्त्रों से सृष्टि नहीं बनी और वेदमन्त्र रश्मि रूप नहीं हैं, यह भी कोई नहीं कह सकता।

प्रश्न— वेदमन्त्र क्रियारूप हैं या द्रव्यरूप? आप छन्दों को मनस्तत्त्व में उत्पन्न लहरों के समान मानते हैं, इस मान्यता से तो वेद क्रियारूप ही हो सकता है, द्रव्यरूप नहीं और क्रियारूप पदार्थ निमित्त कारण तो हो सकता है, परन्तु उपादान कारण नहीं। जबकि आपने उपर्युक्त प्रमाणों से वेद को उपादान कारण सिद्ध किया है, क्या यह आपके विचारों में परस्पर विरोध को नहीं दर्शाता है?

उत्तर— यह मेरे विचारों में विरोध नहीं, बल्कि आपका मतिविभ्रम है। जिस प्रकार से जल में लहरें उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार से मन में उत्पन्न लहरें छन्द रश्मियाँ कहलाती हैं। लहर जल से पृथक् अस्तित्व नहीं रखती, बल्कि क्रियाशील अर्थात् कम्पन करता हुआ जल ही लहर कहलाता है, उसी प्रकार कम्पन करता हुआ मनस्तत्त्व ही छन्द रश्मि अर्थात् वेदमन्त्र कहलाता है। बिना कम्पन अर्थात् क्रिया किए बिना कोई भी पदार्थ विकार को प्राप्त होकर अन्य किसी पदार्थ को उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिए मनस्तत्त्व मन्त्रों के रूप में बिना कम्पित हुए सृष्टि की रचना करने अर्थात् पदार्थान्तर में परिवर्तित होने में समर्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार कोई भी मन्त्र अर्थात् मनस्तत्त्व में उत्पन्न कम्पन किसी भी पदार्थ का निमित्त कारण है और कम्पन करता हुआ मनस्तत्त्व, जो वाक् रूप ही होता है, इस सृष्टि का उपादान कारण है। इसलिए ऋषियों ने वाक् और मन का पारस्परिक सम्बन्ध बतलाते हुए लिखा है—

वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम् (ऐ.ब्रा.५.२३)
वागिति मन: (जै.३.४.२२.११)

अब रश्मि के विषय में महर्षि यास्क का कथन है— रश्मिर्यमनात् (निरु.२.१५) अर्थात् रश्मि वह पदार्थ है, जो अपने से स्थूल पदार्थों को नियन्त्रित करता है। इस प्रमाण से आप यह कह सकते हैं कि यहाँ रश्मि रस्सी के लिए कहा गया है, क्योंकि रस्सी से घोड़े आदि को नियन्त्रित किया जाता है। इस विषय में हम यही कहना चाहेंगे कि आपको शास्त्रों के निर्वचनों के स्वरूप का बोध नहीं है। वस्तुतः शास्त्रों के निर्वचन गणित के सूत्रों की भाँति व्यापकता से कार्य करते हैं, जिनका अर्थ प्रसंग से ही जाना जा सकता है। यदि हम प्रसंग का ध्यान नहीं रखेंगे, तो वेदों के सभी पद रूढ़ हो जायेंगे और तब उनका हास्यास्पद अनुवाद ही किया जा सकता है, यौगिक व्याख्या कदापि नहीं।

प्रश्न— आपके 'वेदविज्ञान-आलोकः' और 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' को समझना अति दुष्कर है। क्या वेदों और ऋषियों के विचारों को इतना कठिन बनाकर प्रस्तुत करना उचित है? इससे कितने लोग जुड़ पायेंगे?

उत्तर— कोई भी विद्या जितने संक्षेप में बतलायी जायेगी, वह उतनी ही सांकेतिक व जटिल भाषा में होगी। जब किसी विद्या को अधिकाधिक सरल रूप दिया जायेगा, तो उसके ग्रन्थों का आकार उतना ही अधिक बढ़ जायेगा। सृष्टि का ज्ञान अनन्त है, उस अनन्त ज्ञान को सीमित शब्दों में बाँधना अति दुष्कर ही होगा। इसके पश्चात् वेदों के व्याख्यान ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थ वा निरुक्तादि शास्त्र वेद संहिताओं की अपेक्षा सरल और विस्तृत होंगे, परन्तु वे भी उनमें वर्णित ज्ञान की अपेक्षा संक्षिप्त और जटिल ही हैं। इसका कारण यह है कि ऋषि भगवन्त कम शब्दों में अधिकाधिक ज्ञान देने वाले हुआ करते थे, जिससे उन्हें कण्ठस्थ करने में भी सहजता होवे। ये ग्रन्थ उस समय के मनुष्यों के लिए तो कठिन नहीं थे, परन्तु आर्ष परम्परा समाप्त होने के हजारों वर्ष पश्चात् आज वे ग्रन्थ सबके लिए दुरूह हो गये हैं, भले ही उनकी दुरूहता वेद की ऋचाओं की अपेक्षा कम ही क्यों न हो। उस समय कौन जानता था कि ऋषियों और देवों की भूमि आर्यावर्त (भारतवर्ष) में प्रज्ञा का ऐसा पतन होगा कि संस्कृत भाषा के बड़े-२ विद्वान् वेदों और आर्ष ग्रन्थों के ऐसे घृणित व मूर्खतापूर्ण भाष्य करेंगे और उन भाष्यों के आधार पर ही विश्व भर में वैदिक सत्य सनातन धर्म ऐसी अधोगति को प्राप्त हो जायेगा।

मैंने इन ग्रन्थों का भाष्य करके इनको वह स्थान दिलाने का प्रयास किया है, जो वास्तव

में होना चाहिए। मैंने उन मूल ग्रन्थों को यथापरिस्थिति और यथाशक्ति सरल करने का प्रयास किया है, पुनरपि संसाधनों और समय की न्यूनता के कारण मैं इन्हें और सरल रूप देने में असफल रहा हूँ। इतने पर भी मैं यह कहना चाहूँगा कि वेद सम्पूर्ण सत्य विद्याओं का ग्रन्थ है अर्थात् उसमें सम्पूर्ण नित्य ज्ञान अर्थात् विज्ञान प्रतिष्ठित है, फिर चाहे वह पदार्थ विज्ञान हो या आध्यात्मिक विज्ञान। जब गुरुकुल वाले अथवा आधुनिक शिक्षण संस्थानों में विज्ञान से इतर विषय पढ़ने वाले ईश्वर की सृष्टि के विषय में साधारण ज्ञान भी नहीं रखते, तब उनको ये वैज्ञानिक ग्रन्थ कैसे समझ में आयेंगे? जब यम-नियमों का पालन करना दुर्लभ हो गया हो, तब ये ग्रन्थ उन्हें आध्यात्मिक विज्ञान का प्रकाश भी कैसे दे सकते हैं? कोई अंग्रेजी भाषा का बहुत अच्छा विद्वान् अंग्रेजी भाषा में लिखे हुए विज्ञान के ग्रन्थों को कैसे समझ सकता है? वह अपने भाषा और व्याकरण के ज्ञान के आधार पर वैज्ञानिकों को कैसे चुनौती दे सकता है? इसी प्रकार संस्कृत भाषा, साहित्य और व्याकरण का ज्ञाता प्रबल पवित्र तर्क और ऊहा के बिना और वैज्ञानिक पृष्ठभूमि के बिना वैदिक विज्ञान के महान् ग्रन्थों को कैसे समझ सकता है?

इसी परिस्थिति के चलते वेद तो क्या सभी आर्ष ग्रन्थ भी भाषा और व्याकरण के पण्डितों के लिए इतने दुरूह हो गये कि उन्हें उनकी व्याख्या में लिखे गये ग्रन्थ भी दुरूह लगने लगे। यदि अपने अन्दर वैज्ञानिक सोच का विकास किया जाये और आधुनिक पद्धति से ही सही, लेकिन वर्तमान विज्ञान का भी कुछ अध्ययन किया जाये और अपने आत्मा व अन्तःकरण को पवित्र बनाकर ईर्ष्या और अहंकार को दूर फेंक दिया जाये, तो सतत अभ्यास से मेरे ग्रन्थ भी धीरे-२ समझ में आने लग जायेंगे। नयी प्रणाली है, तो समझने में कठिनाई तो आयेगी ही। वेद में गूढ़ विद्याएँ हैं, उन्हें मैं कथावाचकों के स्तर तक जाकर नहीं समझा सकता। आज देश में कथाएँ और प्रवचन बहुत हो रहे हैं, कहीं भागवत कथा, श्रीराम कथा, वेदकथा, उपनिषद् कथा, कहीं गीता प्रवचन, कहीं वेद प्रवचन। इन सबके स्तर को देखा जाये, तो कहीं से भी यह नहीं लगता कि हमारे वेदादि शास्त्र अपार विज्ञान के भण्डार हैं।

यदि आपको ये कथाएँ ही सरल लगती हैं, केवल दक्षिणा के उद्देश्य से किये जाने वाले नाना प्रकार के कर्मकाण्ड तथा केवल स्वास्थ्य और धन के लोभ में योग की चादर ओढ़े व्यायाम और प्राणायाम ही यदि सरल लगते हैं, इसी प्रकार थोड़ी देर नेत्र बन्द करके ही समाधि प्राप्त हो जाने जैसी मिथ्या बातें ही मोक्ष प्राप्त कराने वाली प्रतीत होती हैं, तब तो मेरा

ग्रन्थ कभी समझ में नहीं आ पायेगा और न उनको समझाने के लिए वेदादि शास्त्र हैं। यदि इन सब कार्यों से ही देश और धर्म का उत्थान हो सकता, तो इस देश व धर्म का पतन कभी हो ही नहीं सकता था, क्योंकि इन कार्यों में कभी विशेष अवरोध आया ही नहीं है। यदि अवरोध आया है, तो केवल शास्त्रों के विज्ञान को समझने की प्रणाली में और जब से इसमें अवरोध आया है, तब से देश और धर्म दोनों का ही पतन हो गया है। हम सबको मिलकर इस पतन को रोकना है।

यहाँ मैं यह भी कहना चाहूँगा कि ऐसा भी नहीं है कि मेरे ग्रन्थों को कोई समझ ही न रहा हो। अनेक पाठक और श्रोता वेदविज्ञान-आलोक ग्रन्थ को कुछ अंशों में समझ भी रहे हैं और भरपूर आनन्द भी ले रहे हैं। इसको समझकर हमारी मानस सन्तान (प्रिय विशाल आर्य एवं डॉ. मधुलिका आर्या) उच्च शिक्षा को प्राप्त करके भी यहाँ विज्ञान की गहराइयों को समझने के लिए अपना जीवन समर्पित कर बैठे हैं, जिन्होंने उज्ज्वल भौतिक भविष्य की सम्भावना को ठोकर मारी है। भौतिक विज्ञान के अनेक विद्वान् हमारे साथ मिलकर काम करने की इच्छा भी करते हैं, तो कुछ विदेश से आकर भी हमारे साथ काम करना चाहते हैं। अनेक उच्च शिक्षित युवाओं ने अपने जीवन को पूर्ण रूप से बदल लिया है। कितने ही विज्ञान के लोग संस्कृत पढ़ना सीख रहे हैं और कितने ही संस्कृत वाले विज्ञान पढ़ने की इच्छा कर रहे हैं, तब कैसे कहें कि हमारा विज्ञान किसी की समझ में नहीं आ रहा?

जिस प्रकार मुमुक्षु मुक्ति की कामना के लिए योग का तप करता है और कामना के साथ योग्यता न होने पर उसमें असफल भी रहता है, परन्तु उसे कुछ आनन्द तो मिलता ही है। इसी प्रकार जो वास्तव में शास्त्रों के विज्ञान का आनन्द लेना चाहते हैं, वे 'वैदिक रश्मिविज्ञानम्' को अवश्य पढ़ेंगे। इनमें से जो विशेष मेधावी होंगे, वे विशेष आनन्द प्राप्त कर सकेंगे और जिनमें पर्याप्त मेधा नहीं होगी, वे भी इतना विश्वास तो कर ही पायेंगे कि हमारे वेदादि शास्त्र महान् विज्ञान के असाधारण ग्रन्थ हैं। आज जनसामान्य को इतना भी विश्वास हो जाये, तब भी राष्ट्र और धर्म का बहुत कल्याण हो सकता है।

प्रश्न— जब तक आपका सिद्धान्त प्रयोग, परीक्षण, प्रेक्षण व गणित में से किसी एक से भी पुष्ट न हो जाये, तब तक आपके वैदिक रश्मि सिद्धान्त पर विश्वास कैसे करें?

उत्तर— आपको किसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए प्रयोग, प्रेक्षण वा गणित की अनिवार्यता

प्रतीत होती है और आपने यह सब अपनी आदर्श पाश्चात्य शिक्षा परम्परा से सीखा है। वैसे मैं इनकी महत्ता को नकार नहीं रहा, परन्तु पश्चिमी वैज्ञानिक स्वयं इनकी अनिवार्यता के विषय में क्या कहते हैं, इसे हम आपकी जानकारी के लिए उद्धृत कर रहे हैं—

प्रसिद्ध ब्रिटिश भौतिकशास्त्री स्टीफन हॉकिंग का कथन है—

"Any physical theory is always provisional in the sense that it is only a hypothesis, you can never prove it. No matter how many times the result of experiments agree with some theory. you can never be sure that the next time a result will not contradict the theory, on the other hand you can disprove a theory by finding even a single observation that disagree with the predictions."

(A Briefer History of Time, Pg. 14)

इसका भाव यह है कि कोई भी भौतिक सिद्धान्त अस्थायी होता है। वस्तुतः एक परिकल्पना ही होता है। आप उसे कभी सिद्ध नहीं कर सकते, भले ही उसे आपने कई बार प्रयोगों से परीक्षित कर लिया हो। आप इसे सुनिश्चित नहीं कर सकते कि आगामी किसी प्रयोग में विपरीत निष्कर्ष प्राप्त नहीं होगा। आपका कोई एक भी विपरीत निष्कर्ष आपकी कई भविष्यवाणियों को असिद्ध कर सकता है।

इसी प्रकार का विचार विश्वप्रसिद्ध भौतिकशास्त्री सर अल्बर्ट आइंस्टीन ने व्यक्त करते हुए लिखा है—

"No amount of experimentation can ever prove me right, a single experiment can prove me wrong."

(Meeting the standards in primary science, Lymn D. Newton, Pg. 21)

इसी पुस्तक का लेखक पृ.सं. 21 पर ही ऑस्ट्रिया के दार्शनिक कार्ल पॉपर को उद्धृत करते हुए लिखता है—

"...you can never prove or verify a theory, you can only ever disprove it. So investigations and experiments serve the purpose of testing the idea but not to prove it to be true. "

यहाँ भी वर्तमान विज्ञान की असंदिग्धता पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है। स्टीफन हॉकिंग के ही साथी रोजर पेनरोज का भी यही मत है, वे लिखते हैं—

"One might have thought that there is no real danger here because if the direction is wrong the experiment would disprove it, so that some new direction would be forced upon us. this is the traditional picture of how science progresses- But I fear that this is too stringent a criterion and definitely too idealistic a view of science in this modern world of 'Big Science'. "

(The Road To Reality, Pg. 1020)

इसका आशय यह है कि कोई वैज्ञानिक यह विचार कर सकता है कि विज्ञान में कोई संकट नहीं है अर्थात् उसके सभी निष्कर्ष सत्य ही होते हैं। वह मान सकता है कि यदि निष्कर्ष गलत होता, तो उसे प्रयोग व परीक्षण ही असिद्ध कर देते और दूसरी पृथक् निष्कर्षयुक्त दिशा प्राप्त हो जाती। इस पर लेखक लिखता है कि आधुनिक विज्ञान का यह विचार अधिक ही कट्टर और आदर्शवादी है।

विज्ञान की प्रायोगिकता के विषय में इन दो वैज्ञानिकों की टिप्पणी के पश्चात् इसके गणितीय आधार पर भी हम प्रख्यात अमरीकी वैज्ञानिक रिचर्ड पी. फेनमैन के विचारों को उद्धृत करते हैं—

"But mathematical definitions can never work in the real world. A mathematical definition will be good for mathematics, in which all the logic can be followed out completely, but the physical world is complex."

(Lectures on Physics, Pg. 148)

अर्थात् गणितीय व्याख्याएँ कभी भी वास्तविक संसार में कार्य नहीं करतीं। ये व्याख्याएँ गणित के लिए तो अच्छी हैं, जहाँ ये व्याख्याएँ पूर्णतः तर्क का अनुसरण करती हैं, परन्तु भौतिक संसार बहुत जटिल है। इन तीनों वैज्ञानिकों के मत से सहमति रखते हुए एक अन्य वैज्ञानिक जेम्स क्लार्क मैक्सवेल का कथन है—

"The true logic of the world is in the calcululs of probabilities."

(वही पृ.सं.64)

इसका भाव यह है कि संसार वास्तव में सम्भावनाओं का गणित है। फेनमैन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में स्वीकारते हैं—

"We do not yet known all basic laws. There is an expanding frontier of ignorance. " (वही पृ.सं.1)

अर्थात् अभी तक वैज्ञानिक विज्ञान के मूल सिद्धान्तों को नहीं जान पाये हैं। अब वर्तमान विज्ञान का एक विचित्र लक्षण भी देखें। स्टीफन हॉकिंग ने अपनी वेबसाइट पर एक स्थान पर लिखा है—

"One can not ask whether the model represents reality, only whether it works. A model is a good model if first it interprets a wide range of observations, in terms of a simple and elegant model. And second, if the model makes definite predictions that can be tested and possibly falsified by observation." (www.hawking.org.uk)

यहाँ हॉकिंग स्वयं वर्तमान विज्ञान के खोखलेपन किंवा अनेकत्र मिथ्यापन को न केवल स्वीकार कर रहे हैं, अपितु प्रेक्षणों द्वारा मिथ्या सिद्ध हो सकने को विज्ञान का एक लक्षण वा विशेषता भी घोषित कर रहे हैं। ऐसा मिथ्या सिद्ध हो सकने वाला विज्ञान कैसे किसी सत्यपिपासु वा सत्यव्रती के लिए प्रमाण बन सकता है? क्या हम वैदिक वैज्ञानिकों को ऐसे विज्ञान से सत्यता का प्रमाणपत्र लेने की आवश्यकता है?

इतने पर भी हम कहना चाहेंगे कि हमारा वैदिक रश्मि सिद्धान्त उन सूक्ष्म तत्त्वों की बात करता है, जिन्हें वर्तमान में किसी भी टेक्नोलॉजी से ग्रहण कर पाना कदापि सम्भव नहीं है। वर्तमान टेक्नोलॉजी फोटोन व इलेक्ट्रॉन के द्वारा ही किसी कण का अनुभव कर पाती है, इस कारण स्वयं इन दोनों ही कणों को जानने की भी कोई विधि वर्तमान भौतिकी में नहीं है। तब, जबकि हम इन कणों से सात चरण पीछे प्रकृति (जो सर्वथा अव्यक्त है) की बात तो छोड़ें, मनस्तत्त्व, प्राण, आकाश तत्त्व एवं छन्द रश्मियों को भी इनसे ग्रहण कर पाना सर्वथा असम्भव है। इसके साथ कुछ प्रयोग हो भी सकते हैं, उनके लिए अत्युच्चस्तरीय प्रयोगशाला चाहिए। जब कणों के स्तर के शोध के लिए सर्न (सी.ई.आर.एन.) जैसी विश्व

की सबसे बड़ी प्रयोगशाला की आवश्यकता पड़ती है, तब इससे सूक्ष्म स्तर के लिए प्रयोग कहाँ व कैसे सम्भव हैं? पुनरपि उच्चस्तरीय प्रयोगशालाओं में कुछ स्थूल प्रयोग हो सकते हैं, लेकिन बिना संसाधनों के यह अभी सम्भव नहीं है। संसाधनों की उपलब्धता के आधार पर आगे प्रयोग भी किये जायेंगे।

रही बात यह कि तब तक कैसे विश्वास करें? इस विषय में हम कहना चाहेंगे कि यदि किसी ऐसे व्यक्ति, जो गणित की बहुत कम जानकारी रखता हो, को त्रिकोणमिति के सूत्र पढ़ाने लगें, तब वह यह विचारेगा कि इन सूत्रों से क्या होगा? इन सूत्रों की सत्यता क्या है? परन्तु जब उन सूत्रों से हम किसी उड़ते विमान, वृक्ष वा पर्वत शिखर की ऊँचाई बता दें, तब उस व्यक्ति को त्रिकोणमिति के सूत्रों की सत्यता पर विश्वास हो जायेगा। इसी प्रकार बीजगणित, निर्देशांक ज्यामिति आदि के विषय में भी समझें।

इसी प्रकार वर्तमान भौतिकी की कुछ ऐसी जटिल समस्याएँ, जिनका हल नहीं मिल पा रहा है और हल करने के प्रयास में अरबों डॉलर व्यय भी हो रहे हैं, फिर भी संसार के वैज्ञानिक असफल हो रहे हैं। यदि हम अपने वैदिक रश्मि सिद्धान्त से ऐसी अनसुलझी समस्याओं के हल के रूप में कोई मॉडल प्रस्तुत कर देते हैं और वह मॉडल उस समस्या को चरणबद्ध एवं तार्किक ढंग से सुलझा दे, तब तो विश्वास होगा। इसी प्रकार वर्तमान भौतिकी के कुछ स्थापित सिद्धान्त, जिनके सत्य होते हुए भी तर्कसंगत ढंग से व्याख्यात नहीं हो पा रहे, उनकी व्याख्या यदि हम तर्कसंगत ढंग से कर दें, तब भी बुद्धिमानों को विश्वास हो ही जायेगा। हाँ, हठधर्मी वा अज्ञानी को विश्वास अवश्य नहीं होगा और ऐसे व्यक्तियों के विश्वास का कोई महत्त्व भी नहीं है।

प्रश्न— यदि आपको अपने वैदिक विज्ञान पर इतना ही विश्वास है, तो आप विज्ञान की राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ शोध लेख क्यों नहीं लिखते? यदि कुछ शोध पत्र उच्चस्तरीय पत्रिकाओं में प्रकाशित हो जायें, तो आपका विज्ञान शिक्षित जगत् को मान्य हो जायेगा।

उत्तर— शोधपत्र लिखने की हठ करना पश्चिमी देशों की दासता का परिचायक है। हमारी भारतीय वा वैदिक परम्परा ऐसी कभी नहीं रही। शोध पत्र भी लिखो और उनके मानदण्डों के अनुसार ही लिखो, हमें ऐसी दासता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारी परम्परा

शास्त्रार्थ-संवाद करने की रही है, उसके लिए हम सदा तत्पर रहते हैं, परन्तु उसी व्यक्ति के साथ, जिसका विषय वैदिक विज्ञान हो अथवा वर्तमान विज्ञान ही हो। हमारी दूसरी परम्परा रही है— ग्रन्थ लिखने की, वे हमने लिख दिये हैं। 'वेदविज्ञान-आलोक:', 'वेदार्थविज्ञानम्' और यह ग्रन्थ आप सबके समक्ष हैं। हमने ५-१० पृष्ठ के शोधपत्र नहीं लिखे, बल्कि सैकड़ों व हजारों पृष्ठों के विशाल ग्रन्थ लिख दिये। जिन्हें समझ में आ सकें, वे पढ़ने का प्रयास करें। इस ग्रन्थ का एक-२ पृष्ठ ही शोधपत्र है, इसे आप पढ़ सकते हैं।

मैं शोधपत्रों के प्रकाशित होने की कथाओं को अच्छी प्रकार से जानता हूँ। पश्चिमी शैली में लिखो, वे ही उनकी परीक्षा करें और बिना कारण बताये उन्हें निरस्त करने के भी वे पश्चिमी शैली के महानुभाव ही अधिकारी हैं। यह तो खुला आत्मसमर्पण हुआ। उन आधुनिक वैज्ञानिकों के भी ऐसे लेखों, जो किसी प्रचलित मान्यता के विरुद्ध लिखे गये हों, के प्रकाशन में भी अनेक बाधाएँ आती हैं, तब उस व्यक्ति के शोधपत्रों, जो वर्तमान विज्ञान की जड़ें हिलाने वाले हों तथा प्राचीन भारतीय वा वैदिक परम्परा के आधार पर लिखे गये हों, को कौन प्रकाशित करेगा? क्या कुछ वर्तमान वैज्ञानिक हमारी सम्पूर्ण वैदिक विज्ञान-परम्परा का मूल्यांकन करने के अधिकारी हैं, जिस विज्ञान की वे वर्णमाला भी नहीं जानते? इस बात को स्वीकार करने वाला कोई बौद्धिक दास वा मूर्ख ही हो सकता है। वर्तमान पाश्चात्य परम्परा में ईमानदार शोधकर्त्ताओं को भी किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इसका एक ज्वलन्त उदाहरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जो निम्न चित्र में दिया गया है—

Anti-Big Bang theory scientists face censorship by international journals

24 astronomers and physicists from 10 countries including reputed astrophysicist Jayant V Narlikar of Inter-University Centre for Astronomy and Astrophysics are among the protesting scientists.

Published: 09th August 2022 06:17 AM | Last Updated: 09th August 2022 10:28 AM

* * * * *

विद्या

संसार के समस्त प्राणियों में मनुष्य ही सबसे बुद्धिमान् प्राणी है। यद्यपि अन्य समस्त प्राणी भी सर्वथा बुद्धिहीन नहीं होते हैं, किन्तु उनमें बौद्धिक क्षमता का विकास अनेक प्रयत्न करने पर भी बहुत कम ही हो सकता है। यह भी एक सत्य है कि मनुष्येतर सभी प्राणी स्वयमेव अपना बौद्धिक विकास करने में प्राय: सक्षम नहीं होते हैं। किसी अन्य के द्वारा उन्हें बौद्धिक प्रशिक्षण दिये जाने पर भी वे बहुत अधिक विकसित नहीं हो पाते हैं। हाथी, घोड़े, कुत्ते और बन्दरों की विभिन्न प्रजातियाँ आदि कुछ प्राणियों को प्रशिक्षण देने पर कुछ बौद्धिक विकास अवश्य होता है, परन्तु इनमें से कोई भी प्राणी मनुष्य के समान बुद्धि का विकास नहीं कर सकता। इसी कारण संसार भर में विभिन्न विद्याओं का विस्तार और उनका उपयोग मनुष्य जाति के द्वारा ही हुआ एवं हो रहा है।

विद्या की परिभाषा

विद्या ही एक ऐसा गुण है, जो इस मनुष्य जाति को अन्य समस्त जीवधारियों से पृथक् एक विशिष्ट पहचान प्रदान कराता है। विद्या ही वह गुण है, जो संसार के समस्त जड़ और चेतन पदार्थों का यथार्थ स्वरूप विदित कराता है। यह बात भी विशेष समझने की है कि कोई भी मानव सृष्टि के विभिन्न पदार्थों के यथार्थ स्वरूप और उनके परस्पर वास्तविक सम्बन्ध को ठीक-ठीक जाने बिना उनसे यथायोग्य उपकार नहीं ले सकता है। इसी कारण ऋषि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं—

"जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिए सब सुखों को सिद्ध कर सकें, वह विद्या कहाती है।" (व्यवहारभानु)

बिना विद्या के मानवों का परस्पर न्याययुक्त व्यवहार भी सम्भव नहीं है, इसी कारण

ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

''जिससे पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म किये जावें, वह विद्या कहाती है।'' (व्यवहारभानु)

ऋषि दयानन्द की दृष्टि में विद्या का क्षेत्र बहुत व्यापक है, जिसमें वर्तमान जगत् में पढ़ाई जाने वाली अनेक विद्याएँ यथा— भौतिक विज्ञान एवं इसकी शाखाएँ, जैसे— खगोल भौतिकी, खगोल विज्ञान, परमाणु भौतिकी, नाभिकीय भौतिकी, कण भौतिकी, भू-भौतिकी, सूर्य विज्ञान, जैव भौतिकी आदि। रसायन विज्ञान की विभिन्न शाखाएँ, जैसे— कार्बनिक रसायन, अकार्बनिक रसायन, भौतिक रसायन, जैव रसायन आदि, प्राणि विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, तकनीकी के विभिन्न क्षेत्र, अत्यन्त विकसित चिकित्सा विज्ञान, शरीर रचना एवं क्रियाविज्ञान, पशु-पक्षी विज्ञान, पर्यावरण एवं मौसम विज्ञान, भूगोल, अर्थशास्त्र, राजनीति एवं समाजशास्त्र, भाषा-विज्ञान, सूचना तकनीक, उद्योग-व्यापार प्रबन्धन, युद्ध विज्ञान, समुद्र विज्ञान, संगीत आदि विभिन्न उपयोगी कलाएँ महर्षि की विद्या के अन्तर्गत ही आती हैं। यह भी ध्यातव्य है कि ये सभी विद्याएँ केवल जड़ पदार्थों से ही विशेष सम्बन्ध रखती हैं, जबकि हम जानते हैं कि यह समस्त ब्रह्माण्ड केवल जड़ पदार्थों का संघात अर्थात् जड़मात्र नहीं है और न ही यह सारा जड़ पदार्थ स्वयं के लिए ही है। न तो इस ब्रह्माण्ड को बनाने वाला जड़ हो सकता है और न इसको भोगने वाला ही जड़ हो सकता है। वैसे इस विषय पर विस्तृत विचार हम अगले अध्यायों में करेंगे।

ऋषि दयानन्द की दृष्टि में उपरिवर्णित जो भी वर्तमान विद्याएँ प्रचलित हैं, वे विद्या का केवल आधा भाग हैं, जबकि विद्या का दूसरा आधा भाग, जो चेतन पदार्थों से सम्बन्ध रखता है, साथ ही जो भौतिक जगत् के सूक्ष्मतम विज्ञान (कण भौतिकी, तरंग भौतिकी, क्वाण्टम फील्ड थ्योरी एवं स्ट्रिंग थ्योरी) से भी सूक्ष्म एवं विशालतम सृष्टि विज्ञान से भी व्यापक है, इन दोनों के मिलने से विद्या का स्वरूप पूर्ण होता है। इसलिए ऋषि विद्या की परिभाषा करते हुए लिखते हैं—

''जिससे ईश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम विद्या है।'' (आर्योद्देश्यरत्नमाला)

विद्या बनाम अविद्या

इन विद्याओं के भी केवल शब्द अर्थात् सैद्धान्तिक ज्ञानमात्र को महर्षि विद्या नहीं मानते थे, बल्कि इनके उचित उपयोग द्वारा प्राणिमात्र का हित सिद्ध होने पर ही उसे विद्या की श्रेणी में रखते थे। इससे सिद्ध हुआ कि पहले समस्त जगत् का शाब्दिक एवं सैद्धान्तिक ज्ञान होवे, फिर उस ज्ञान की सत्यता की परीक्षा के लिए विभिन्न प्रयोग, परीक्षण एवं प्रेक्षण होवें। उसके पश्चात् सत्य सिद्ध हुआ वह ज्ञान-विज्ञान सर्वहित के लिए अनुकूल है वा नहीं, इसकी भी भली-भाँति परीक्षा होवे, तब उस ज्ञान-विज्ञान को संसार में विद्या के पद पर प्रतिष्ठित किया जाए। तभी वह विद्या सकल जगत् के लिए सुख और शान्तिदायक हो सकती है। दुर्भाग्य से वर्तमान संसार इस यथार्थ विद्या से अति दूर चला गया है। आज की प्रचलित विद्याएँ स्वयं परस्पर विरोधी होकर संसार में दुःख और अशान्ति को उत्पन्न कर रही हैं। इसे हम इस प्रकार समझने का प्रयास करते हैं—

संसार के विभिन्न देशों और समाजों में खान-पान की विभिन्न श्रेणियाँ एवं उनको उत्पन्न करने के लिए विभिन्न प्रकार के ज्ञान और तकनीक का विकास हो रहा है। उन खाद्य पदार्थों की गुणवत्ता एवं सरसता की वृद्धि के लिए भी विभिन्न वैज्ञानिक परीक्षण किए जाते हैं। उनके प्रसंस्करण एवं संरक्षण के लिए नाना प्रकार की तकनीकों का अनुसन्धान हो रहा है। इतना होने पर भी उन खाद्य पदार्थों का मानव आदि के शरीर, मस्तिष्क एवं मन पर प्रतिकूल प्रभाव उत्पन्न हो रहा है। जिस खाद्य को किसी एक रोग विशेष की दृष्टि से उपयोगी घोषित किया जाता है, वही खाद्य पदार्थ कुछ दिनों के अनुसन्धान के पश्चात् किसी अन्य रोग को उत्पन्न करने वाला सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार पहले किसी पदार्थ को किसी विशेष रोग वा अंग की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध करने में समय, धन एवं तकनीक का व्यय किया जाता है, फिर कुछ वर्षों के पश्चात् ऐसा ही व्यय उसके दुष्परिणामों को खोजने में किया जाता है और परिणाम शून्य प्राप्त होता है।

हमने आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में उल्लेखनीय प्रगति की है, मानव की औसत आयु में वृद्धि भी हुई है, अनेक महामारियों पर विजय भी पाई है, परन्तु यह भी दुर्भाग्यपूर्ण सत्य है कि पूँजीपतियों के क्रीतदास बने वैज्ञानिकों व अदूरदर्शी शोधों ने नाना महामारियों को जन्म भी दिया है और यह आशंका प्रबल है कि भविष्य में अधिकाधिक रोगों को पैदा किया जायेगा। जानबूझकर नपुंसकता व बाँझपन का रोग उत्पन्न किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त

क्या मानव ने शारीरिक और मानसिक बल, प्रसन्नता, स्मृति, मेधा, शान्ति एवं पूर्ण आरोग्यता को प्राप्त किया है? क्या संसार भर में हो रहे अण्डा, मांस-मछली के आहार, मदिरा आदि अभक्ष्य पेयों का उपयोग एवं विषय-लम्पटता आदि दोषों के कारण व्यक्तिगत व पारिवारिक, सामाजिक ढाँचा तथा पर्यावरण तन्त्र क्षत-विक्षत नहीं हुआ है? विभिन्न कृषि तकनीकों ने खाद्यान्न में वृद्धि तो की, परन्तु क्या उसकी गुणवत्ता का क्षरण नहीं हुआ है?

इस गुणवत्ता की वृद्धि आदि के लिए उच्च जैव तकनीक के विभिन्न आविष्कार क्या अनेकों प्रत्यक्ष एवं परोक्ष समस्याएँ पैदा नहीं कर रहे हैं? क्या विलासिता आदि के संसाधनों पर होने वाले आविष्कार एवं कथित विकास के नाम पर हो रहे औद्योगिकीकरण से कुपित हुआ पर्यावरण बाढ़, सूखा, जल संकट, भूकम्प, सुनामी, अति हिमपात, ओलावृष्टि, अति उष्णता एवं भीषण दावानल की समस्याएँ पैदा नहीं कर रहा है? क्या मनोरंजन के नाम पर हो रहे विविध आविष्कार इस मानव समाज में हिंसा, कामुकता, अशान्ति, अकर्मण्यता आदि दोष उत्पन्न कर नैतिकता, सदाचार, अहिंसा एवं शान्ति जैसे सद्गुणों को नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर रहे हैं? क्या बढ़ती हुई सूचना तकनीक ने अनेक सुविधाएँ देने के साथ-साथ अनेक मनोरोग, अपराध, आतंकवाद एवं विकिरण प्रदूषण जैसी गम्भीर समस्याओं को उत्पन्न नहीं किया है? सूचना तकनीक के मद में चूर हाईटेक मानव विकिरण प्रदूषण को गम्भीरता से नहीं ले रहा है। हमारी दृष्टि में यह प्रदूषण सभी भौतिक प्रदूषणों से भयानक तथा दीर्घकाल तक हानि पहुँचाकर प्राणिमात्र को एक दिन भारी संत्रास पहुँचाएगा। इससे भी भयंकर वैचारिक प्रदूषण सर्वत्र घोर दुःख का सामान एकत्र कर रहा है। हिंसा, क्रूरता, कामुकता, ईर्ष्या, शोक, द्वेष आदि से उत्पन्न सूक्ष्म तरंगें सम्पूर्ण प्राणिजगत् के लिए एक दिन अत्यन्त घातक सिद्ध होंगी।

आज का पदार्थ विज्ञान जैसे-२ प्रगति कर रहा है, वैसे-२ उसे अपनी तकनीक के दुष्प्रभाव भी अनुभव में आते जा रहे हैं। वह सुविधाओं की मृगतृष्णा में अनेक दुविधाओं को आमन्त्रित कर रहा है। उसे अपनी दुविधा का बोध तब होता है, जब वह विलासी मनुष्य को सुविधाओं का आसक्त व अभ्यस्त बना देता है। ऐसी स्थिति में विषयभोगी मानव दुविधाओं को भोगने के लिए विवश होता है, क्योंकि वह सुविधाओं की आसक्ति वा मोह से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाता। वस्तुतः वर्तमान विज्ञान उस चंचल बच्चे के समान है, जो कोई कार्य अपने अल्पज्ञान के आधार पर कुतूहलवश किंवा किसी लोभ वा आसक्तिवश

प्रारम्भ तो कर देता है, परन्तु जब उसे कुछ ज्ञान होता है कि उसके कार्य का अन्तिम परिणाम तो उसके लिए हानिकारक होगा, तब वह बालक चाहते हुए भी उस कार्य को नहीं छोड़ पाता। इसी प्रकार वर्तमान विज्ञान अपने अपूर्ण ज्ञान एवं सुख-सुविधाओं की असीमित आसक्तिवश निरन्तर अपने ही विनाश का जाल बुनता जा रहा है।

मैं संसार के सभी आधुनिक विज्ञानवादियों को चेतावनी दे रहा हूँ कि वे अपनी दिशा बदलें, अन्यथा पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगेगा। आज विज्ञान को मेरी यह बात समझ नहीं आएगी, परन्तु मुझे विश्वास है कि भविष्य में मेरी यह चेतावनी इस विज्ञान को भी अवश्य समझ में आयेगी। सम्पूर्ण संसार को अपनी मुट्ठी में रखने का प्रयास करने वाला मानव क्या अपने परिवार एवं स्वयं अपने आत्मा से भी दूर नहीं हो गया है? क्या संसार कभी विचार करेगा कि ऐसा क्यों हो रहा है? इतना होने पर भी यह सब लिखने का हमारा प्रयोजन यह नहीं है कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के उपर्युक्त विभिन्न आविष्कार बन्द कर दिये जाएँ। इसी प्रकार संसार की आर्थिक और राज व्यवस्थाओं के कारण, जो अशान्ति, गरीबी, शोषण, वर्ग-संघर्ष आदि समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं, उसके कारण भी मैं इन व्यवस्थाओं को ही उखाड़ फेंकने का आह्वान नहीं करूँगा।

मैं जर्मन विद्वान् एडोल्फ जस्ट के शब्दों में विज्ञान को बेदम एवं हानिकारक बताकर पशु-पक्षियों को अपना गुरु बनाकर घास-फूस या भूमि पर सोने के लिए नहीं कहूँगा और न फ्रांसीसी सुधारक रूसो की भाँति राजव्यवस्थाओं को सारे दुःखों का मूल कहूँगा, परन्तु मैं इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि वर्तमान ज्ञान-विज्ञान की परम्परा में एक बहुत बड़ी भूल हो रही है। वर्तमान जगत् चेतन तत्त्व की नितान्त उपेक्षा करके अथवा उसको सर्वथा नकार कर उपभोक्तावादी, अपूर्ण एवं विकृत सभ्यता का विस्तार कर रहा है। विद्या की विभिन्न शाखाओं में कोई समन्वय और नियमन दिखाई नहीं दे रहा है। जगत् में जीने का प्रयोजन किसी को कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। इसका एक ही मुख्य कारण है कि हमारा सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान चेतन तत्त्व के विज्ञान के बिना नितान्त अपूर्ण है। इसके साथ ही हमारा यह भी दृढ़ मत है कि वर्तमान विकसित विज्ञान को भी सृष्टि के सभी जड़ पदार्थों का भी पूर्ण एवं निर्भ्रान्त ज्ञान नहीं है।

अभी भी सैद्धान्तिक भौतिकी (थ्योरेटिकल फिजिक्स) को गम्भीरता व सूक्ष्मता से समझने हेतु यथार्थ प्रयास नहीं हो रहा है। मूलकणों पर अनुसन्धान की यात्रा समाप्त होती

प्रतीत हो रही है। योगसाधनाजन्य अन्तर्दृष्टि का न केवल सर्वथा अभाव है, बल्कि उस पर किंचिदपि विश्वास नहीं है। खान-पान, आचार-विचार की सात्त्विकता के अभाव में सूक्ष्मग्राही बुद्धि का उज्ज्वल प्रकाश वैज्ञानिकों के पास किंचित् भी नहीं है। वे प्रत्येक बात को प्रयोगों व प्रेक्षणों किंवा गणितीय व्याख्याओं के आधार पर ही समझना चाहते हैं। वैज्ञानिक प्रयोग व प्रेक्षण तकनीक की सीमा के पश्चात् असहाय हो जाते हैं। विश्व में एक बड़ी संख्या में वैज्ञानिक मांस, मछली, अण्डा, मदिरा, धूम्रपान आदि अभक्ष्य व भ्रष्ट पदार्थों का सेवन करते हैं, इससे उनकी बुद्धि सात्त्विक कैसे हो सकती है? जब बुद्धि सात्त्विक नहीं होगी, तो वे जड़ व चेतन जैसे सूक्ष्म पदार्थों की गम्भीर व विस्तृत विवेचना कैसे कर सकते हैं? इसी कारण उनका विज्ञान चेतन तत्त्व तो क्या, जड़ पदार्थ जैसे— मन, प्राण, छन्द आदि सूक्ष्म तत्त्वों, जो मूलकण, ऊर्जा आदि के भी मूल कारण हैं, के विषय में तनिक भी विचार नहीं कर पा रहा, परिणामतः उनका सृष्टि विज्ञान अपूर्ण है। उसे ईश्वर व जीवात्मा के अस्तित्व में तो विश्वास ही नहीं है।

यह सामान्य सी बात है कि जब तक हम किसी पदार्थ का यथार्थ विज्ञान प्राप्त नहीं कर पाएँगे, तब तक भला उस पदार्थ का उचित उपयोग कैसे कर सकेंगे? इसी प्रकार यह भी सत्य है कि जब तक उपभोक्ता मानव स्वयं के चेतन स्वरूप का यथार्थ बोध नहीं करेगा, तब तक भला वह उपभोग्य वस्तुओं के उपभोग तथा जीवन जीने का प्रयोजन भी कैसे समझ सकेगा? इसी प्रकार सृष्टि विज्ञान को जानते समय जब तक मूल निमित्त तत्त्व, जो सृष्टि का स्रष्टा व नियामक है, उस चेतन परमात्मतत्त्व के अस्तित्व की अनिवार्यता एवं उसके यथार्थ स्वरूप पर विचार नहीं किया जायेगा, तब तक जगत् रचना का प्रयोजन एवं विभिन्न जीवधारियों के परस्पर सम्बन्ध एवं उचित व्यवहार का भी यथार्थ बोध कैसे हो सकेगा?

प्रश्न— ईश्वर और जीवात्मा जैसी रूढ़िवादी नष्टप्राय मान्यताओं का किसी भी यथार्थ ज्ञान-विज्ञान परम्परा से भला क्या सम्बन्ध हो सकता है? आप ज्ञान-विज्ञान की बातें करने चले और इस २१वीं सदी के वैज्ञानिक युग में रूढ़िवादी अन्ध परम्पराओं को ज्ञान-विज्ञान की मिथ्या चादर ओढ़ाकर इस देश और संसार को उसी आदिम और पाषाण युग में ले जाना चाहते हैं। क्या आपको यह जानकारी नहीं है कि इस भारत और विश्व में ईश्वर, जीव एवं धर्म आदि अन्ध परम्पराओं के नाम पर कितना खून बहाया गया है, मानव-मानव के बीच

दीवारें खड़ी की गई हैं, विकास के रास्ते में अवरोध डाले गये हैं? क्या यही विद्या की वास्तविक एवं समग्र दृष्टि है?

उत्तर— आपका यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक व सामयिक है। इस प्रकार के प्रश्नों के लिए मैं आप जैसे महानुभावों को दोषी नहीं मानता, बल्कि मैं उन महानुभावों को दोषी मानता हूँ, जो ईश्वर, धर्म, पुनर्जन्म और जीवात्मा जैसे विषयों पर व्याख्यान-लेखन तो बहुत करते रहे, उपासना, भक्ति, पूजा आदि भाँति-२ की विधियाँ प्रचलित करते रहे, परन्तु वे महानुभाव न केवल सृष्टि विद्या की विभिन्न ज्ञान-विज्ञान आदि शाखाओं को पूर्णतः भुला बैठे, अपितु जिस धर्म, ईश्वर, जीव आदि की बातें करते रहे एवं एतद् विषयक अनेकों ग्रन्थ लिखते व पढ़ते रहे, उनके भी यथार्थ स्वरूप से अति दूर हो गये। यह स्मरणीय तथ्य है कि विद्या मानव मात्र की हर समस्या का समाधान है, हर रोग की औषधि है, परन्तु जिस प्रकार अपूर्ण अथवा विपरीत औषधि रोगी के प्राण ले सकती है, उसी प्रकार अपूर्ण विद्या अथवा विपरीत ज्ञान संसार में समस्याओं को ही उत्पन्न करता है। अतः जिस प्रकार एकाकी वर्तमान विज्ञान ने विश्व में उपरिवर्णित समस्याओं को उत्पन्न किया है, उसी प्रकार कुछ हजार वर्ष पूर्व से भारत एवं शेष विश्व में धर्म, ईश्वर, जीवात्मा एवं पुनर्जन्म जैसे गम्भीर विषयों पर यथार्थता के स्थान पर कल्पनाओं और अन्धविश्वासों ने इस मानव जाति को अनेकविध दुःखसागर में डुबोने का काम किया है।

वर्तमान प्रचलित भाषा में जड़ पदार्थों के ज्ञान को विज्ञान (साइंस) एवं चेतन तत्त्व के विज्ञान को धर्म कहा जाता है। वस्तुतः ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इसी कारण ऋषि दयानन्द की विद्या की परिभाषा में इन दोनों का ही सुन्दर समावेश है। महान् आधुनिक वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन ने भी कहा था—

"Science without religion is lame, religion without Science is blind."
अर्थात् धर्म के बिना विज्ञान लंगड़ा है और विज्ञान के बिना धर्म अन्धा है।

"I am of the opinion that all the finer speculations in the realm of science spring from a deep religious feeling."

(मद्रचित 'सृष्टि का मूल उपादान कारण' पुस्तक की प्रस्तावना में प्रो. आभास कुमार मित्रा द्वारा उद्धृत वचन।)

अर्थात् मेरी राय है कि विज्ञान के साम्राज्य के सुन्दर विचार गहरी आध्यात्मिक भावनाओं से जुड़े रहते हैं अथवा उनसे उत्पन्न होते हैं।

यहाँ यह बात स्मरणीय है कि अंग्रेजी भाषा का 'रिलीजन' शब्द 'धर्म' शब्द की समानता नहीं रखता। यह शब्द सम्प्रदाय को ही व्यक्त करता है। 'धर्म' शब्द का समानार्थक अंग्रेजी भाषा में कोई शब्द नहीं है। इस कारण इसे धर्म ही कहना उचित है, चाहे उसे किसी भी भाषा में बोला जाए।

ऋषि दयानन्द विद्या (विज्ञान) एवं धर्म के अनिवार्य सम्बन्ध को दर्शाते हुए लिखते हैं—

"अविद्वान् लोग दूसरों को धर्म में निश्चय नहीं करा सकते और विद्वान् लोग धार्मिक होकर अनेक मनुष्यों को भी धार्मिक कर सकते हैं और कोई धूर्त मनुष्य अविद्वान् को बहकाके अधर्म में प्रवृत्त करता है, परन्तु विद्वान् को अधर्म में कभी नहीं चला सकता, क्योंकि जैसे देखता हुआ मनुष्य कुएँ में कभी नहीं गिरता, परन्तु अन्धे को तो गिरने का सम्भव है, वैसे विद्वान् सत्यासत्य को जान के उसमें निश्चित रह सकते और अविद्वान् ठीक-ठीक स्थिर नहीं रह सकते हैं।" (व्यवहारभानु)

"धर्म का रक्षक विद्या ही है, क्योंकि विद्या से ही धर्म और अधर्म का बोध होता है। उनसे सब मनुष्यों को हिताहित का बोध होता है, अन्यथा नहीं।" (ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन — दयानन्द-विचार-कोष, भाग-१, पृ.सं. ३ से उद्धृत)

प्राचीन आर्य्यावर्त (भारत) में विद्या-विज्ञान की व्यापकता

प्राचीन वैदिक भारत में विद्या के समग्र स्वरूप का ही प्रचलन था। इसी कारण एक बार देवर्षि नारद महर्षि सनत्कुमार के पास जाकर बोले—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याँ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि॥" (छां.उ.७.१.२, डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार भाष्य)

अर्थात् [नारद] ने कहा (ऋग्वेदम्) ऋग्वेद को (भगवः) हे भगवन् (अध्येमि) पढ़ता हूँ, पढ़ चुका हूँ (यजुर्वेदम्) यजुर्वेद को (सामवेदम्) सामवेद को (आथर्वणम्) अथर्ववेद को

(चतुर्थम्) चौथे (इतिहासपुराणम्) इतिहास-पुराण को (पञ्चमम्) पाँचवें (वेदानाम्) वेदों के (वेदम्) वेद [ज्ञान कराने वाले ज्ञापक अर्थात् व्याकरण, निरुक्त, छन्द, शिक्षा, कल्प आदि] को (पित्र्यम्) पितृ कर्म [पितृ-शुश्रूषा शास्त्र अर्थात् गृह विज्ञान, आयुर्वेद, कृषि विज्ञान आदि] को (राशिम्) गणित शास्त्र को (दैवम्) मौसम विज्ञान, विभिन्न प्राकृतिक प्रकोप आदि से सम्बन्धित विज्ञान एवं कर्मफल व्यवस्था (निधिम्) अर्थशास्त्र को (वाकोवाक्यम्) तर्कशास्त्र एवं विधि शास्त्र को (एकायनम्) नीतिशास्त्र (देवविद्याम्) समस्त प्रकाशित सूक्ष्म पदार्थों के विज्ञान एवं वेदमन्त्रों के विभिन्न देवताओं के विज्ञान (ब्रह्मविद्याम्) विद्युत् विद्या, मन-वाक् तत्त्व आदि के विज्ञान एवं परमात्मतत्त्व विज्ञान को (भूतविद्याम्) भौतिकी, रसायन विज्ञान, प्राणि विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, भूगर्भशास्त्र आदि को (क्षत्रविद्याम्) युद्ध एवं अस्त्र-शस्त्र विद्या को (नक्षत्रविद्याम्) खगोल भौतिकी, खगोल विज्ञान, सूर्य एवं तारों का विज्ञान (सर्पदेवजनविद्याम्) पृथिवी पर रेंगने वाले प्राणियों एवं वन्य प्राणियों का विज्ञान, शिल्पशास्त्र अर्थात् तकनीकी एवं संगीत आदि ललित विद्याओं को (एतद्) इस सबको (भगवः) हे भगवन् (अध्येमि) शिक्षा पा रहा हूँ (पा चुका हूँ)।

परन्तु—

> सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति
> शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति।
> तँ होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्॥ ३॥ (छां.उ.७.१.३)

अर्थात् (सः अहम्) वह मैं अर्थात् वेदादि शास्त्रों को जानने वाला भी मैं (भगवः) हे भगवन्! (मन्त्रवित्+एव) मन्त्रवेत्ता ही (अस्मि) हूँ अर्थात् पाठकमात्र हूँ (आत्मवित् न) ब्रह्मवित् नहीं (हि) क्योंकि (भगवद्दृशेभ्यः) आपके समान तत्त्ववेत्ताओं से (मे) मुझे (श्रुतमेव) सुना ही हुआ है कि (आत्मवित्) ब्रह्मवित् (शोकम् तरति) शोक को तर जाते हैं अर्थात् शोक नहीं करते (इति), परन्तु (भगवः) हे भगवन्! (सोऽहम्) सो मैं (शोचामि) शोक कर रहा हूँ, इस हेतु मैं आत्मवित् नहीं (तम्) शोकग्रस्त उस (मा) मुझको (भगवान्) आप (शोकस्य पारम्) शोक के पार (तारयतु) उतारें (इति) यह मेरी प्रार्थना है। (तम् ह उवाच) वे प्रसिद्ध सनत्कुमार उस नारद से बोले कि (यत्किञ्च) जो कुछ (एतत्) पूर्वोक्त विज्ञान का (वै) निश्चय (अध्यगीष्ठाः) आपने अध्ययन किया है (एतत् नामैव) यह सब नाम ही है। (भाष्य— पण्डित शिवशंकर शर्मा 'काव्यतीर्थ')

पाठकगण यहाँ विचार करें कि देवर्षि नारद का अध्ययन कितना विशाल था। कोई भी अकेला व्यक्ति इतने विषयों का विशेषज्ञ भी बन सकता है, ऐसी कल्पना करना भी अति कठिन है। दुर्भाग्य से आर्य्यावर्त (भारतवर्ष) अथवा विश्व भगवान् नारद आदि महापुरुषों के यथार्थ चरित्र को विस्मृत कर बैठा। अब जरा इस पक्ष पर विचार करें कि सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत् का विस्तृत ज्ञान रखने वाले देवर्षि नारद भी शोकमग्न क्यों थे? वे किस ज्ञान-पिपासा में महर्षि सनत्कुमार के श्री चरणों में उपस्थित हुए थे?

इस बात का उत्तर वे स्वयं देते हैं कि मैं मन्त्रवित् हूँ, आत्मवित् नहीं हूँ अर्थात् वे उपर्युक्त सारी विद्याओं का विस्तृत सैद्धान्तिक ज्ञान तो रखते थे। शिल्प शास्त्र अर्थात् तकनीक का विशेषज्ञ होने के कारण उन्हें सम्पूर्ण पदार्थ विद्याओं का प्रयोगात्मक ज्ञान भी था। ज्ञातव्य है कि वे बहुत बड़े वैज्ञानिक थे, जो नाना लोकों की यात्रा करते रहते थे। वे अनेक तारों की यात्रा भी करते थे। ईश्वर और जीव दोनों चेतन तत्त्वों का गहन मनन-चिन्तन भी उन्होंने कर रखा था, परन्तु इन चेतन तत्त्वों का साक्षात्कार करके वे उस समय तक जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाये थे और यही एकमात्र उनके शोक का कारण था। इस विषय में दो बातें गम्भीर रूप से विचारणीय हैं—

१. समस्त सृष्टि के ज्ञान-विज्ञान एवं ईश्वर-जीव के पूर्ण सैद्धान्तिक ज्ञान के बिना चेतन तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव नहीं है। इसी कारण भगवान् नारद संसार की विविध विद्याओं का अध्ययन पहले कर चुके थे और उनके गुरुजनों ने भी इतनी विद्याओं का अध्यापन उन्हें कराया था। यदि ईश्वर एवं आत्म साक्षात्कार के लिए ये सभी विद्याएँ अनावश्यक होतीं, तो उस महान् वैदिक काल में एवं उस महान् देव समाज के महान् ऋषि महानुभाव नारद जैसे महान् व्यक्ति को इन सारी विद्याओं को पढ़ाने का पुरुषार्थ नहीं करते। इस बात पर उन महानुभावों को गम्भीरता से विचार करना चाहिए, जो पदार्थ विज्ञान एवं लोकव्यवहार की विद्याओं की नितान्त उपेक्षा करके केवल ईश्वर और मुक्ति की बातें करते हैं। तो कोई-२ महानुभाव क्षणभर में समाधि प्राप्त कराने का दावा करते हैं। वस्तुतः ऐसे महानुभाव वैदिक आर्ष परम्परा एवं इसके ही एक अंग पातञ्जल योगशास्त्र से नितान्त अनभिज्ञ हैं।

प्रश्न— आपके अनुसार ईश्वर-प्राप्ति के लिए यदि इतना ज्ञान-विज्ञान आवश्यक है तथा इसके उपरान्त ही ईश्वर साक्षात्कार का उपाय किया जाये, तब तो कोई मनुष्य ईश्वर की

उपासना कर ही नहीं सकता, क्योंकि न तो महर्षि नारद जैसा ज्ञान होगा और न ही कोई आत्म साक्षात्कार का प्रयत्न करेगा।

उत्तर— हमारे उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि उपर्युक्त पदार्थ विद्याओं अथवा चेतन विद्याओं के अध्ययन करते समय ईश्वर की उपासना न की जाए। हमारी वैदिक संस्कृति में तो बच्चे के जन्म लेने के तुरन्त पश्चात् बालक का पिता स्वर्ण शलाका के द्वारा मधु से बच्चे की जिह्वा पर 'ओम्' लिखता है। उसका प्रयोजन यही होता है कि वह बालक जीवन में मधुरता लिए हुए संसार में अपने मधुर व्यवहार के द्वारा मधुरता भर दे तथा मधु उत्तम स्वास्थ्यवर्धक होने के कारण वह बालक आयुर्विज्ञान, आहार शास्त्र एवं शरीरोपयोगी विभिन्न विद्याओं का ज्ञाता बनकर उत्तम बल, बुद्धि, पराक्रम, प्रज्ञा और दीर्घायु से युक्त होकर समस्त संसार को अपने समान ही गुणों से पूर्ण करने का प्रयत्न करता हुआ एवं सुवर्ण आदि रत्नों से समृद्ध होकर विभिन्न लोकोपयोगी विद्याओं के द्वारा संसार को सुखी-समृद्ध करने का प्रयत्न सदा करता रहे।

यह बात विशेष विचारणीय है कि ऐसी व्यापक उदार भावना किसी भी व्यक्ति में तभी आ सकेगी, जब वह सम्पूर्ण संसार को अपना ही परिवार समझेगा और अपना परिवार तभी बनता है, जब उसको उत्पन्न करने वाला पिता एक ही होता है। इसलिए उस बच्चे की जिह्वा पर 'ओम्' शब्द लिखा जाता है। यह इस बात का संकेत होता है कि हे बालक! यह परमात्मा ही इस सम्पूर्ण जगत् का माता और पिता है अथवा चेतन परमात्मा सबका पिता है और जड़ प्रकृति सबकी माता है। इस कारण संसार के सभी प्राणी एक परिवार के सदस्य हैं। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्रकृति को माता तो कहा है, परन्तु पिता कहीं नहीं कहा गया है। जबकि परमात्मा को माता और पिता दोनों नामों से सम्बोधित किया है, जैसे—

> त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ।
> अथा ते सुम्नमीमहे॥ ११॥ (ऋ.८.९८.११), (सा.११७०, अथर्व.२०.१०८.२)

इसलिए वही सर्वोपरि उपास्य देव है एवं उसी का मुख्य एवं निज नाम 'ओम्' है। इस कारण बच्चे को न केवल ऐसी शिक्षा दी जाती है कि संसार परमात्मा का परिवार है, अपितु वह परमात्मा ही हमारा अन्तिम परमधाम है, यह भी संकेत किया जाता है।

इस कारण पातञ्जल योग के विभिन्न अंगों की साधना करते हुए बचपन से ही ईश्वर

की उपासना हर बालक का सर्वोपरि धर्म होना चाहिए। ईश्वर उपासना एवं ब्रह्मचर्य-प्राणायाम आदि तपों के द्वारा विद्यार्थी महती प्रज्ञा को प्राप्त होकर विभिन्न पदार्थ विद्याओं के गम्भीर रहस्यों एवं आध्यात्मिक विज्ञान को भी समझने में अपेक्षाकृत समर्थ होता है और ऐसा करते हुए ही महर्षि नारद उपरिवर्णित विद्याओं के महान् विशेषज्ञ बन पाये थे। इस कारण किसी भी अध्यात्मवेत्ता के लिए पदार्थ विद्या की उपेक्षा व निन्दा कदापि उचित नहीं मानी जा सकती, बल्कि पदार्थ विद्या हर अध्यात्मवेत्ता के लिए अनिवार्य विषय है। यह बड़ी सरल सी बात है कि कार्य को देखे बिना किसी कर्त्ता का अनुमान भी कैसे सम्भव है और जब उसके अस्तित्व का अनुमान भी नहीं होगा, तो उसके स्वरूप का यथार्थ ज्ञान और उसकी प्राप्ति की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।

२. समस्त सृष्टि को जानने के पश्चात् तथा ईश्वर-जीवात्मा विषयक विभिन्न वेदादि शास्त्रों को गम्भीरता से पढ़ने के उपरान्त भी ईश्वर-आत्मा के साक्षात्कार के बिना किंवा जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त किये बिना पूर्ण विशोक अवस्था का प्राप्त होना सम्भव नहीं है, इसी अवस्था को मुक्ति भी कहते हैं। हमारी दृष्टि में महर्षि नारद महर्षि सनत्कुमार के पास आने से पूर्व आत्मा अथवा ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर चुके थे, ऐसा कदापि सम्भव नहीं लगता। बिना मन्त्रद्रष्टा ऋषि बने इतना विशाल और गहन अध्ययन करना किसी भी पुरुष के लिए सम्भव नहीं है और मन्त्रद्रष्टा ऋषि वही बनेगा, जो ईश्वर का साक्षात्कार कर चुक होगा। वर्तमान में किसी आध्यात्मिक और प्रतिभाशाली विद्वान् के द्वारा वेदार्थ करना अलग बात है और उस महान् युग में महर्षि नारद द्वारा स्वयं को मन्त्रवित् कहना बहुत ऊँची बात है। हमारी दृष्टि में 'मन्त्रवित्' का अर्थ केवल पाठकमात्र नहीं है, बल्कि मन्त्रद्रष्टा ऋषि का स्तर प्राप्त कर लेना है। हम विभिन्न विद्वानों के द्वारा मन्त्रवित् शब्द का अर्थ 'पाठक मात्र' करने से सहमत नहीं हैं।

प्रश्न— यदि 'मन्त्रवित्' का अर्थ ऋषि ही है, तो क्या ऋषि भी शोकाकुल एवं अपूर्णविद्य होते हैं, तब उनमें और सामान्य मनुष्यों में क्या भेद रहा?

उत्तर— संसार में सर्वथा पूर्णपुरुष तो केवल परमात्मा ही हो सकता है और जीवात्माओं के स्तर पर पूर्ण शोकरहित एवं समस्त ज्ञेय का ज्ञाता केवल मुक्तात्मा एवं जीवनमुक्त पुरुष ही हो सकता है। अन्य स्तरों पर यदा-कदा यत्किंचित् शोक-दुःख आते रह सकते हैं और

यही अवस्था उस समय महर्षि नारद की थी। यह भी ध्यातव्य है कि इस स्तर के महापुरुषों एवं अन्य स्तर के मनुष्यों के सुख-दु:ख व शोक-आनन्द में बहुत भेद होता है।

अब महर्षि नारद उस समय जो आत्मवित् न होने की बात करते हैं, उसका आशय यही है कि वे मुक्ति की कामना हेतु जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त करने के लिए ईश्वर के साक्षात्कार को सुदृढ़ करने तथा अपने सभी संस्कारों को दग्धबीज करने के अभ्यास के लिए जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त हुए सद्‌गुरु महर्षि सनत्कुमार की शरण में आये थे। इस प्रकार यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि सम्पूर्ण पदार्थ विद्याओं का ज्ञाता वैज्ञानिक तब तक पूर्ण सुख को प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि वह चेतन तत्त्व के साक्षात्कार से उसका यथार्थ विज्ञान प्राप्त न कर ले। समस्त ज्ञान-विज्ञान एक सुन्दर माला के समान है। संसार की सभी पदार्थ विद्याएँ उस माला के सुन्दर मोतियों के समान हैं और उन मोतियों को परस्पर जोड़ने वाला धागारूप आधार चेतनतत्त्व विज्ञान है। जब तक यह धागा नहीं होगा, तब तक मोती परस्पर जुड़कर सौन्दर्य को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। इसी प्रकार बिना अध्यात्म विज्ञान के पदार्थ विज्ञान एवं व्यावहारिक विद्या की विभिन्न शाखाएँ मानव समाज अथवा प्राणिमात्र को कदापि सुख-शान्ति नहीं दे सकतीं। उनमें परस्पर संघर्ष एवं विरोध भाव होगा ही, जिसके कारण सुख-सुविधाओं का विविध विस्तार होते हुए भी मानव समाज सुखी और आनन्दित नहीं हो सकेगा, तब प्राणिमात्र की तो कथा ही क्या कहेंगे? दुर्भाग्य से आज संसार में यही सब कुछ हो रहा है। सुख-सुविधाओं के संसाधनों की भीड़ में सुख, शान्ति, प्रेम, मैत्री, करुणा जैसे मानवीय गुण कहीं खो गये हैं। किसी भी माला का धागा न केवल उन मोतियों को आधार प्रदान करता है, बल्कि उन्हें व्यवस्थित क्रम प्रदान करके सुन्दर और उपयोगी भी बनाता है।

इसी प्रकार यथार्थ अध्यात्म विज्ञान विभिन्न विद्याओं को परस्पर एक-दूसरे से जोड़कर और उन्हें परस्पर पूरक बनाकर प्राणिमात्र के लिए उपयोगी भी बनाता है। तब जहाँ निरापद एवं आवश्यक तकनीक का विकास होकर पर्यावरण भी सुन्दर और संरक्षित रहता है, वहाँ मानव के बीच गलाकाट प्रतिस्पर्धा न होकर परस्पर प्रीति और शान्ति भी बनी रहती है। तीनों प्रकार के दु:ख अर्थात् शारीरिक और मानसिक दु:ख, प्राकृतिक प्रकोप आदि से उत्पन्न दु:ख एवं प्राणियों के पारस्परिक संघर्षजन्य दु:ख किसी को भी पीड़ित नहीं करते हैं। उधर दूसरी ओर विभिन्न पदार्थ विद्याओं एवं व्यावहारिक ज्ञान को पूर्णत: उपेक्षित कर केवल अध्यात्म की बातें करने वाले महानुभाव किसी सुन्दर माला रूप सामाजिक व्यवस्था की कल्पना से

भी अति दूर एक धागे के समान ऐसी नीरस व्यवस्था को उत्पन्न करने वाले होते हैं, जहाँ उन्हें परमात्मा अथवा मुक्ति की प्राप्ति तो भला क्या हो सकेगी, बल्कि वे अपने उदरपोषण में भी सक्षम न होकर नितान्त दुःखी और अभिशप्त जीवन जीते हैं। इसी कारण यजुर्वेद में कहा—

> अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
> ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्यायाँ रताः॥ (यजु.४०.१२)

अर्थात् जो मनुष्य केवल पदार्थ विज्ञान में ही रत रहते हैं, वे दुःखसागर रूप अन्धकार में डूबते हैं और जो मनुष्य पदार्थ विद्या की नितान्त उपेक्षा करके केवल अध्यात्म विज्ञान में ही रत रहना चाहते हैं, वे और भी अधिक गहन अन्धकार में डूबते हैं। इसका कारण पाठक ऊपर समझ ही गये होंगे। तब मनुष्य पूर्ण सुखी कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में वेद पुनः कहता है—

> विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह।
> अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ (यजु.४०.१४)

अर्थात् जो मनुष्य पदार्थ विद्या एवं अध्यात्म विद्या दोनों को साथ-२ जानता है, वह मनुष्य पदार्थ विद्या के समुचित और सर्वहितकारी उपयोग के द्वारा तथा शरीर और जगत् के नश्वर होने के ज्ञान द्वारा मृत्यु-भय एवं अन्य सभी दुःखों को पार करके यथार्थ अध्यात्म विज्ञान के द्वारा जीवन्मुक्त किंवा मुक्ति रूप परमानन्द को प्राप्त होता है।

इस प्रकार संसार की विद्याओं की विविधता, व्यापकता और उनके समन्वित, संतुलित और समुचित उपयोग से मानव स्वयं सर्वविध दुःखों से तरकर अन्य सभी प्राणियों को सुख देने में समर्थ होता है। यही विद्या की उपादेयता है।

पूर्व अध्याय में हमने जो विविध विद्याओं की चर्चा की है, उन्हें दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. जो पदार्थ इस सृष्टि के उपादान कारण होते हैं अर्थात् जिनके मेल से यह सकल सृष्टि बनी है।
२. वे पदार्थ जो इस सृष्टि के उपादान कारण न होकर निमित्त कारण मात्र होते हैं।

इनमें से प्रथम प्रकार के पदार्थ जड़ होते हैं तथा द्वितीय प्रकार के पदार्थ कुछ जड़ तथा कुछ चेतन होते हैं। ऋषि दयानन्द सरस्वती सृष्टि की परिभाषा करते हुए 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' में लिखते हैं—

''जो कर्त्ता की रचना करके कारण द्रव्य किसी संयोग विशेष से अनेक प्रकार कार्यरूप होकर वर्तमान में व्यवहार करने के योग्य है, वह 'सृष्टि' कहाती है।''

'स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश' में पुन: ऋषि दयानन्द लिखते हैं— ''सृष्टि उसको कहते हैं, जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञान युक्तिपूर्वक मेल होकर नानारूप बनना।''

इन दोनों परिभाषाओं पर विचार करने से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. सृष्टि के पदार्थों को मनुष्य व्यवहार में ला सकता है। उनका यथार्थ विज्ञान प्राप्त कर सकता है। बिना यथार्थ विज्ञान के किसी भी पदार्थ को उचित व्यवहार में लाना सम्भव नहीं हो सकता, इस कारण सृष्टि विज्ञान की यथार्थता मानव जाति के लिए अनिवार्य है। सृष्टि हेय नहीं, बल्कि व्यवहार में लाकर सबका उपकार करने के लिए है। सृष्टि के सूक्ष्म से सूक्ष्म व स्थूल से स्थूल पदार्थों अर्थात् सूक्ष्मतम कणों एवं उनसे भी सूक्ष्म प्राणादि पदार्थों से लेकर विशाल लोक-लोकान्तर तक सबके यथार्थ विज्ञान का साक्षात् करके उसका सर्वहितार्थ उपयोग करना चाहिए। यही सृष्टि का प्रयोजन है।

२. सृष्टि किसी कारण पदार्थ से बनी है। वह कारण पदार्थ अनादि व अनन्त है। वह न कभी बनता है और न कभी नष्ट ही होता है। उस पदार्थ का सदैव भाव रहता है, वह शून्य अर्थात् अवस्तु नहीं है, जैसा कि महान् तत्त्ववेत्ता महर्षि कपिल ने कहा—

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः (सां.द.१.७८)

अर्थात् अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी को योगेश्वर महान् वेदविज्ञानी श्रीकृष्ण ने कहा—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:। (गीता २.१६)

अर्थात् असत् की कभी सत्ता नहीं होती और सत्तावान् का कभी विनाश नहीं होता। इसका आशय है कि शून्य (नथिंग) से कभी भी किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती तथा जो वस्तु विद्यमान है, उसका कभी भी पूर्ण विनाश नहीं होता। लोक में जो किसी सत्तावान् का

विनाश तथा बिना किसी कारण द्रव्य के किसी वस्तु की उत्पत्ति देखी वा सुनी जाती है, उसका यथार्थ यह है कि—

नाशः कारणलयः (सां.द.१.१२१)

अर्थात् स्थूल पदार्थों का अपने कारणभूत सूक्ष्म पदार्थों में लय वा परिवर्तित हो जाना ही विनाश कहलाता है। इस प्रकार वस्तु का विनाश यथार्थ में नहीं होता है, बल्कि उसका रूप इतना सूक्ष्म हो जाता है कि हमें उसका बोध नहीं हो सकता, यही विनाश वा प्रलय कहा जाता है। इसके विपरीत जब उस अदृश्य, अस्पृश्य व अविज्ञेय कारण पदार्थ के स्थूल रूप में परिवर्तित होकर किसी वस्तु का निर्माण होता दिखाई देता है, तब उसे ही किसी वस्तु का उत्पन्न होना माना जाता है। वस्तुतः सृष्टि व प्रलय पदार्थ की दो प्रकार की अवस्थाओं का नाम है। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि यह सृष्टि-प्रलय वा कार्य-कारण अवस्था भी सापेक्ष होती है। एक पदार्थ किसी अन्य पदार्थ का उपादान कारण हो सकता है, तो वही पदार्थ किसी अन्य सूक्ष्म पदार्थ का कार्यरूप भी हो सकता है।

यह सृष्टि पृथक्-२ सूक्ष्म पदार्थों के संयोग विशेष से बनी है। यहाँ 'विशेष' शब्द यह बतलाता है कि सृष्टि के विभिन्न पदार्थों (सूक्ष्म वा स्थूल) का निर्माण यदृच्छया संयोग (रैंडम कॉम्बिनेशन) से नहीं, बल्कि ज्ञान व युक्तिपूर्वक सम्यक् संयोग से ही होता है। संसार में जो भी अव्यवस्था हमें यदृच्छया दिखाई देती है, वह हमारे अल्प ज्ञान के कारण ही हमें प्रतीत होती है, जबकि उस अव्यवस्था के अन्दर भी एक सुन्दर सोद्देश्य व्यवस्था होती है, जिसे हम अपने अल्प ज्ञान के कारण नहीं जान पा रहे। समस्त सृष्टि पूर्ण व्यवस्थित, ज्ञानपूर्वक रची हुई, ज्ञानपूर्वक व सोद्देश्य संचालित है।

अब क्योंकि समस्त सृष्टि सोद्देश्य व ज्ञानपूर्वक रची हुई है, इस कारण यह अनिवार्य है कि उसको रचने वाला कोई महान् सामर्थ्य वाला, महान् ज्ञानी-विज्ञानी, अनादि व अनन्त कर्त्ता अदृष्टरूपेण सर्वत्र विद्यमान है। इस पूर्ण ज्ञानी कर्त्ता तत्त्व के साथ-२ चेतन भोक्ता तत्त्व के अस्तित्व की अनिवार्यता एवं यथार्थ स्वरूप की चर्चा इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है। विज्ञ पाठक सृष्टि में ईश्वर तत्त्व के अस्तित्व की वैज्ञानिकता पर विचार करके स्वयं ही भोक्तारूप चेतन जीव-तत्त्व के अस्तित्व की वैज्ञानिकता का अनुभव कर सकेंगे।

इस प्रकार हमने 'सृष्टि' शब्द की परिभाषा की चर्चा की। अब इस सृष्टि के पर्यायवाची

दो शब्दों 'जगत्' व 'संसार' पर भी विचार करते हैं। इन दोनों शब्दों का अर्थ है कि जो निरन्तर गतिशील अर्थात् परिवर्तनशील है, उसे जगत् वा संसार कहते हैं। इस सृष्टि में कुछ भी स्थिर वा स्थायी नहीं है और जो स्थिर, निर्विकार वा स्थायी है, वह इस सृष्टि का उपादान तत्त्व अथवा इसका अंगभूत तत्त्व नहीं है। समस्त जगत् के सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम पदार्थ निरन्तर गति कर रहे हैं, वहीं वे निरन्तर इस गति के कारण अपने स्वरूप को भी सतत परिवर्तित कर रहे हैं। यह परिवर्तन सर्वत्र व सर्वदा होने वाले संयोग व वियोग के कारण ही हो रहा है और इस संयोग-वियोग का कारण भी गति है। यह संयोग-वियोग भी ज्ञानपूर्वक ही हो रहा है। इस समस्त संयोग-वियोग रूपी सृष्टि के समस्त व्यवहार व गुणों का व्यवस्थित व विशिष्ट ज्ञान ही सृष्टि विज्ञान कहलाता है।

अध्यात्म विज्ञान के अतिरिक्त संसार के अन्य सभी विज्ञान सृष्टि विज्ञान की ही विविध शाखाएँ हैं। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण पदार्थ विज्ञान सृष्टि विज्ञान के अन्तर्गत आ जाता है, किन्तु लोक में विभिन्न लोक-लोकान्तरों की रचना के विज्ञान को ही सृष्टि विज्ञान कहते हैं। इसे आंग्ल भाषा में कॉस्मोलॉजी कहते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक इतना अवश्य मानते व जानते हैं कि इस कॉस्मोलॉजी से सौर भौतिकी (सोलर फिजिक्स), प्लाज्मा फिजिक्स, खगोल भौतिकी, खगोल विज्ञान, क्वांटम फील्ड थ्योरी एवं स्ट्रिंग थ्योरी आदि का न केवल अति निकट सम्बन्ध है, अपितु ये सभी सृष्टि विज्ञान की शाखाएँ हैं। इनके अतिरिक्त कण-परमाणु-नाभिकीय भौतिकी के बिना कॉस्मोलॉजी की कल्पना भी सम्भव नहीं है। ऊष्मा, प्रकाश, विद्युत्, चुम्बक आदि का विज्ञान भी कॉस्मोलॉजी को समझाने में आवश्यक है। इस प्रकार ये सभी विज्ञान की शाखाएँ सृष्टि विज्ञान का ही भाग हैं। वैसे इन सबके लिए भौतिक विज्ञान शब्द भी बहुत सार्थक है। विज्ञान की अन्य शाखाएँ रसायन, भूगर्भ विज्ञान, प्राणी विज्ञान, वनस्पति विज्ञान आदि सभी भौतिक विज्ञान के बिना अपूर्ण हैं किंवा भौतिक विज्ञान रसायन आदि अनेक शाखाओं वा विधाओं का मूल है। इस प्रकार वर्तमान विज्ञान की लगभग सभी शाखाएँ सृष्टि विज्ञान का ही अंग हैं। वैसे वास्तविकता तो यह है कि अध्यात्म विज्ञान के बिना सम्पूर्ण सृष्टि विज्ञान अपूर्ण ही है।

* * * * *

सृष्टि-विज्ञान की उपयोगिता

आज अनेक अध्यात्मवादी विज्ञान व तकनीक की निन्दा करते हैं, जबकि उनमें से अनेक तो स्वयं उच्च तकनीक का प्रचुर प्रयोग करते हैं। हम ऐसे महानुभावों से कहना चाहेंगे कि पदार्थ विज्ञान अर्थात् समग्र सृष्टि विज्ञान न केवल संसार में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है, अपितु मुमुक्षु व विरक्त जनों के मोक्ष के लिए भी समस्त सृष्टि का ज्ञान अनिवार्य है, क्योंकि बिना सृष्टि ज्ञान के इसके स्रष्टा परमात्मा का ज्ञान हो ही नहीं सकता। जब उसका ज्ञान वा भान ही नहीं होगा, तो उसकी प्राप्ति के लिए उत्कट इच्छा व ध्यानादि साधनों का प्राप्त होना कदापि सम्भव नहीं है। इसी कारण ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में सृष्टि विद्या पर बहुत बल दिया है। विद्या की परिभाषा में ही उन्होंने दोनों प्रकार की विद्याओं (आध्यात्मिक एवं पदार्थ विद्या) के सम्मिलित रूप को ही विद्या बताया है। यहाँ हम ऋषि के वेदभाष्य से कुछ विचारों को उद्‌धृत करते हैं—

१. न हि कश्चिदपि सृष्टिपदार्थानां गुणविज्ञानेन विनोपकारान् ग्रहीतुं शक्नोति तस्माद्विदुषां संगेन पृथिवीमारभ्य परमेश्वरपर्य्यन्तान् पदार्थान् ज्ञात्वा मनुष्यैः क्रियासिद्धिः सदैव कार्या॥
(भावार्थ ऋग्वेद १.९१.१९)

अर्थात् कोई भी सृष्टि के पदार्थों के गुणों को बिना जाने उनसे उपकार नहीं ले सकता है, इससे विद्वानों के संग से पृथिवी से लेके ईश्वरपर्यन्त यथायोग्य सब पदार्थों को जानकर मनुष्यों को चाहिए कि क्रियासिद्धि सदैव करें।

२. अस्मिन् जगति यस्य सृष्टिपदार्थविज्ञानं यादृशं स्यात्तादृशं सद्योऽन्यान् ग्राहयेत्। यदि न ग्राहयेत् तर्हि तन्नष्टं सदन्यैः प्राप्तुमशक्यं स्यात्। (भावार्थ यजुर्वेद १२.४८)

अर्थात् इस जगत् में जिसको सृष्टि के पदार्थों का विज्ञान जैसा होवे, वैसा ही शीघ्र दूसरों को बतावे। जो कदाचित् दूसरों को न बतावे, तो वह नष्ट हुआ किसी को प्राप्त न हो सके।

इस विषय में ऋषि दयानन्द सरस्वती के योगविद्या के शिष्य श्री स्वामी लक्ष्मणानन्द अपने ध्यान-योग-प्रकाश नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—

''जब तक लोगों की रुचि और परीक्षा विद्वानों के संग में तथा ईश्वर और उसकी रचना में नहीं होती, तब तक उनका विज्ञान कभी नहीं बढ़ सकता, प्रत्युत सदा भ्रमजाल में पड़े रहते हैं।'' (ध्यान योग प्रकाश, पृष्ठ ७५)

प्रश्न— यह सृष्टि विज्ञान आदि विषय केवल प्रेयमार्गी सांसारिक जनों के लिए तो उचित है, परन्तु श्रेयमार्गी मुमुक्षु जनों को पदार्थ विज्ञान अपने मुख्य लक्ष्य से भटकाने वाला ही है। इस कारण उन्हें इसकी उपेक्षा ही करनी चाहिए।

उत्तर— इस विषय में कुछ संकेत हम पूर्व में कर चुके हैं। अब हम ऋषि दयानन्द सरस्वती, जो इस युग के एक प्रसिद्ध योगी थे, के विचार जानने का प्रयास करते हैं। वे सत्यार्थ प्रकाश के मुक्ति विषयक नवम समुल्लास में मुक्ति के साधनों में सर्वप्रथम विवेक के बारे में वर्णन करते हुए शरीर के पञ्चकोषों तथा चार प्रकार के शरीरों का वर्णन करते हैं। क्या यह वर्णन सृष्टि विज्ञान के अन्तर्गत नहीं आता? क्या प्राण, सूक्ष्मभूत, इन्द्रियाँ, मन आदि का ज्ञान सृष्टि विज्ञान का एक भाग नहीं है? क्या ऐसे विज्ञान, जिसे ऋषि ने विवेक कहा है, के बिना वैराग्य का होना कभी सम्भव है? फिर वैराग्य का अर्थ भी वे सत्यार्थ प्रकाश में उसी समुल्लास में करते हुए कहते हैं—

''जो विवेक से सत्यासत्य को जाना हो, उसमें से सत्याचरण का ग्रहण और असत्याचरण का त्याग करना 'वैराग्य' है।''

अब विवेक के विषय में कहा है—

''जो पृथिवी से लेकर परमेश्वरपर्य्यन्त पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव से जानकर उसकी आज्ञापालन और उपासना में तत्पर होना, उससे विरुद्ध न चलना, सृष्टि से उपकार लेना 'विवेक' कहलाता है।''

क्या यह वैराग्य सृष्टि विज्ञान से जुड़ा हुआ नहीं है? ऋषि के योगविद्या के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द ध्यान-योग-प्रकाश नामक ग्रन्थ में पृ.सं. १३२ पर लिखते हैं—

''अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता होने के लिए जीव को उचित है कि

प्रकृतिजन्य स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों को क्रमशः ध्येय करके जाने। सो ध्यान-योग की धारणा और ध्यान से उन सब पदार्थों का ज्ञान होता है।''

अपने वेदभाष्य में ऋषि दयानन्द योगी होने के लिए सृष्टि विज्ञान की अनिवार्यता बतलाते हैं—

''त एव जना योगिनस्सिद्धाश्च भवितुं शक्नुवन्ति ये योगविद्याभ्यासं कृत्वेश्वरमारभ्य भूमिपर्य्यन्तान् पदार्थान् साक्षात्कर्तुं प्रयतन्ते यमादिसाधनान्विताश्च योगे रमन्ते ये चैतान्सेवन्ते तेऽप्येतत्सर्वं प्राप्नुवन्ति नेतरे।'' (यजुर्वेद भावार्थ ७.८)

अर्थात् वे ही लोग पूर्ण योगी और सिद्ध हो सकते हैं, जो कि योगविद्याभ्यास करके ईश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थों को साक्षात् करने का यत्न किया करते और यम-नियम आदि साधनों से युक्त योग में रम रहे हैं और जो इन सिद्धों का सेवन करते हैं, वे भी इस योगसिद्धि को प्राप्त होते हैं, अन्य नहीं।

वे अन्यत्र लिखते हैं— ये यथावत्सृष्टिक्रमं जानन्ति ते विद्वांसः सर्वतः पूज्यन्ते ये चैतं न जानन्ति ते सर्वतस्तिरस्कृता भवन्ति। (भावार्थ ऋग्वेद १.१६४.३६) अर्थात् जो ठीक प्रकार से सृष्टिक्रम को जानते हैं, वे विद्वान् सर्वत्र पूजे जाते हैं और जो इसे नहीं जानते हैं, वे सब ओर से तिरस्कृत होते हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदविषयविचार' नामक अध्याय में ऋषि दयानन्द कहते हैं कि अपरा विद्या अर्थात् सृष्टि विद्या अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ विज्ञान, पराविद्या अर्थात् अध्यात्म विद्या का मूल है और पराविद्या उस अपरा का फल है। इस बात से यह स्पष्ट होता है कि बिना पदार्थ विज्ञान के अध्यात्म ज्ञान, योग और मुक्ति का होना कदापि सम्भव नहीं है।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि ऋषि दयानन्द सरस्वती समस्त पदार्थ विज्ञान को मानवमात्र के लिए उपयोगी व आवश्यक मानते थे। वस्तुतः जो भी मानव इस संसार में जीना चाहता है, उसे विज्ञान को जानना ही होगा। बिना विज्ञान के उसके लिए लोकव्यवहार, खाना, पीना, रहना, आरोग्य प्राप्त करना, यत्र-तत्र गमनागमन व्यवहार करना आदि कुछ भी सम्भव नहीं है। जब मानव यह सब करने में सक्षम नहीं होगा, तब वह सुखी क्योंकर हो सकता है? भगवत्पाद पतञ्जलि ने अपने योगशास्त्र में इस सम्पूर्ण सृष्टि का प्रयोजन ही

समस्त सुखों का उपभोग एवं मोक्ष प्राप्ति ही बतलाया है।[१] यदि कोई मनुष्य इस सृष्टि के यथार्थ विज्ञान को नहीं जानेगा, तब वह उसका यथार्थ उपयोग कैसे कर सकेगा? और यदि उपयोग नहीं कर सकेगा, तब वह सृष्टि जिस प्रयोजन के लिए बनी है, वह प्रयोजन (समस्त सुख एवं अन्तिम परम प्रयोजन मुक्ति) कैसे सिद्ध हो सकेगा?

इस कारण संसार में मानवमात्र को चाहिए कि वह अपना जीवन सार्थक करने के लिए संसार के सभी पदार्थों का यथार्थ विज्ञान प्राप्त करके उनसे अपना व दूसरों का यथावत् उपकार करने का प्रयत्न करता रहे। ऐसा करते हुए ही वह अन्त में यथार्थ अध्यात्म विज्ञान अर्थात् आत्मा व परमात्मा का यथार्थ विज्ञान प्राप्त करके मुक्ति को भी प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगा।

मानव जिज्ञासा एवं सृष्टि विज्ञान

सृष्टि के इसी प्रयोजन को समझकर यह मानव प्राणी जब से इस पृथिवी पर आया है, तभी से सृष्टि के रहस्यों को समझने का प्रयत्न करता रहा है। वेद, मनुस्मृति, विभिन्न ब्राह्मण ग्रन्थ, महाभारत, सूत्र-ग्रन्थ, दर्शन, उपनिषद् आदि सम्पूर्ण प्राचीन वैदिक वाङ्मय में सृष्टि के यथार्थ विज्ञान पर विस्तार से गम्भीर विचार किया गया है। जब इन ग्रन्थों की रचना हुई, उस समय इस भूतल पर अन्य किसी सम्प्रदाय का आविर्भाव भी नहीं हुआ था। महाभारत युद्ध के पश्चात् इस संसार में विभिन्न मत-मतान्तर प्रचलित हुए और उनमें अपने-२ ढंग से सृष्टि-उत्पत्ति विषय पर विचार किया गया है। हमारा मत है कि जितना विस्तृत व सूक्ष्म सृष्टि विज्ञान वैदिक वाङ्मय में है, उतना संसार भर के किसी भी सम्प्रदाय वा दर्शन में नहीं होगा। संसार के विभिन्न सम्प्रदायों ने वैदिक वाङ्मय से ही कुछ-२ विचारों को ग्रहण करके अपना-२ पृथक् दर्शन बनाया है। पारसी, बौद्धमत, जैनमत, यहूदी, ईसाई, इस्लाम आदि विभिन्न सम्प्रदायों के दर्शन में वैदिक मान्यताओं से ही कुछ-२ प्रेरणा ली गयी है। कुरान एवं बाइबिल में सृष्टि उत्पत्ति के विषय में अनेक विचार वैदिक ब्राह्मण ग्रन्थों (ऐतरेय, शतपथ आदि) से रूढ़ार्थ में लिए गये हैं।

इन सम्प्रदायों के प्रवर्तक इन ग्रन्थों के विचारों का यौगिक अर्थ (यथार्थ) नहीं जान

---

[1] प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् (२.१८)।

सके, बल्कि उस समय संसार में प्रचलित वैदिक आख्यानों के रूढ़ार्थ में प्रचलित धारणाओं के संकेतों को ग्रहण करके उसी पर अपने-२ सृष्टि विज्ञान का भवन खड़ा करने का प्रयास किया गया। भारतीय अर्वाचीन भागवतादि पुराणों ने भी इसी प्रकार वैदिक आख्यानों को रूढ़ार्थ में ही ग्रहण करके अपने-२ मतों का प्रवर्तन कर दिया। बौद्ध व जैन मत वैदिक दर्शन के रूढ़ार्थ को लेकर प्रचलित हुए बीभत्स कर्मकाण्डों की प्रतिक्रिया में उदित हुए, इस कारण वे अनीश्वरवाद की ओर प्रवृत्त हुए, जबकि अन्य देशी व विदेशी मत ईश्वरवादी ही रहे, फिर चाहे उनका ईश्वर कैसा भी क्यों न हो। वस्तुतः वैदिक सनातन मत के यथार्थ को न जानकर सृष्टि विज्ञान के विषय में जो भी मान्यताएँ प्रचलित हुई हैं, उनमें अधिकांशतः कल्पनाप्रसूत भाग है और वास्तविकता कम। यद्यपि बौद्ध व जैन मत में सृष्टिविद्या पर कुछ गम्भीर विचार भी किया गया है, पुनरपि वे वास्तविकता से कहीं-२ अति दूर चले गये हैं।

आधुनिक पुराण ग्रन्थों में वायु, मत्स्य, ब्रह्माण्ड, विष्णु आदि पुराणों में जो भी सृष्टि विद्या है, वह महत्त्वपूर्ण है तथा प्राचीन वैदिक वाङ्मय ही इसका मूल स्रोत है। अन्य शिवपुराणादि में कुछ गम्भीर, तो कुछ काल्पनिक विचारों का समावेश है। बाइबिल व कुरान में इस पर विस्तृत विचार नहीं है और न वहाँ कोई क्रमबद्धता व युक्तिसंगतता प्रतीत होती है। वर्तमान में हिन्दी भाषा में इनके जो भी अनुवाद उपलब्ध हैं, उनमें चमत्कारी ईश्वर ने कथनमात्र से सृष्टि की रचना कर दी, यह बताया गया है। वस्तुतः इन दोनों ग्रन्थों पर ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ प्रचलित आख्यानों की रूढ़ परम्परा का कुछ प्रभाव तो है, परन्तु वे उन आख्यानों का यथार्थ नहीं समझ पाये हैं और रूढ़ार्थ का ग्रहण कर बैठे हैं। यही बात वर्तमान प्रचलित पुराणों के विषय में भी उचित मानी जा सकती है। आधुनिक पुराणों में भी न केवल सृष्टि विज्ञान को कहीं-२ चमत्कारी ईश्वर की कलाबाजी के रूप में चित्रित किया है, अपितु उस चमत्कारी ईश्वर को भी विभिन्न योनियों में जन्म लेकर भाँति-२ के चमत्कार करते हुए विभिन्न चित्र-विचित्र रूपों में वर्णित करके एक बाजीगर जैसा प्रचारित कर दिया है।

इन सब मान्यताओं के बीच विगत कुछ शताब्दियों में आधुनिक विज्ञान का जन्म हुआ और इसने सृष्टि को समझने का अति महत्त्वपूर्ण प्रयास प्रारम्भ किया। यद्यपि आधुनिक विज्ञान के उदय के पूर्व पश्चिमी देशों में ईसाई, इस्लाम आदि साम्प्रदायिक सृष्टि विद्या विषयक विचारों के अतिरिक्त अरस्तू, प्लेटो आदि विचारकों के सृष्टिविद्या सम्बन्धी विविध विचारों का प्रादुर्भाव हो चुका था। जिसे हम आधुनिक वैज्ञानिक युग का उदय कह सकते

हैं, वह कॉपरनिकस एवं गैलीलियो से प्रारम्भ होता है। इसके उपरान्त अपने समय के महान् ब्रिटिश वैज्ञानिक आइजक न्यूटन से आधुनिक सृष्टि विज्ञान के महान् युग का प्रारम्भ हुआ। इसके पश्चात् महान् वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन तक वर्तमान विज्ञान ने अनेक क्रान्तिकारी अनुसन्धान किए। सृष्टि के अनेक गम्भीर रहस्यों को समझा व जाना।

इस काल में आधुनिक विज्ञान ने अत्युच्च तकनीक का ऐसा विकास किया कि उसके सहारे इस ब्रह्माण्ड के अनेक रहस्यों से पर्दा उठने लगा। आइंस्टीन के पश्चात् आज तक ब्रह्माण्ड को समझने की अनेक तकनीकें विकसित हुईं। अनेक विचार जो कभी नए व क्रान्तिकारी माने जाते थे, को पुराना व अविकसित समझकर त्यागा वा संशोधित किया जाने लगा। सारे संसार के वैज्ञानिक व इंजीनियर इस ब्रह्माण्ड को समझने में मिलकर साझा प्रयास कर रहे हैं। इधर विभिन्न सम्प्रदाय मानो इस विषय में अप्रासंगिक होते जा रहे हैं। तो कहीं-२ वे भी आधुनिक विज्ञान का विवेकहीन वा कहीं-२ कुछ विचारपूर्वक अनुकरण का प्रयास करते देखे जाते हैं। जिस वेदविद्या को कभी इस ब्रह्माण्ड के विज्ञान विषय में एक अनुपम व पूर्ण विद्या के रूप में माना जाता था, वह भी मध्यकालीन अविद्या के दुष्प्रभाव से अपने को बचा नहीं सकी, ऐसा हमारा मत है।

यद्यपि फाल्गुन कृष्णा दशमी वि.सं. १८८१ तदनुसार १२ फरवरी १८२५ को भारतवर्ष में जन्मे ऋषि दयानन्द सरस्वती ने सनातन वैदिक विद्या को पुनर्जीवित करने का महान् प्रयत्न किया, परन्तु कुटिल काल की गति ने उन्हें न तो पूर्ण आयुभर जीने दिया और न उन्हें अपने अल्पायु काल में भी पूर्ण मनोयोग से वेदोद्धार का कार्य ही करने दिया। इस कारण वैदिक सृष्टि विद्या का अपेक्षित व यथार्थ स्वरूप प्रकाशित नहीं हो सका और जो भी कुछ हुआ, वह भी सांकेतिक ही रह गया, जिसे पूर्णतः समझना हर विद्वान् विचारक का सामर्थ्य नहीं है।

हमारी दृष्टि में सृष्टि विज्ञान के क्षेत्र में दो ही पक्ष हैं, जिन पर यहाँ विचार करना अपेक्षित है और वे हैं— १. आधुनिक विज्ञान की मान्यताएँ २. वैदिक मान्यताओं का यथार्थ स्वरूप। इनमें से यहाँ वैदिक मान्यताओं पर ही हम आगे विचार करने का प्रयास करेंगे।

संसार के सभी प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ एवं विशिष्ट प्राणी है। अन्य प्राणी जन्म से मरणपर्यन्त अपनी बोली, रहन-सहन आदि का ज्ञान कहीं बाहर से नहीं सीखते, बल्कि उनके

अन्दर यह स्वभावत: उत्पन्न हो जाता है। हाँ, उनके बच्चों को उनकी माँ कुछ-२ सिखाती है। वैसे यदि वह न भी सिखाये, तो भी विभिन्न पशु-पक्षियों के बच्चे एकाकी रहकर भी बोलना, चलना, भोजन करना, शिकार करना, सन्तानोत्पत्ति करना, अपने घर-घोंसला-माँद बनाना, बलवान् से डरना व निर्बल को डराना आदि स्वयं सीख लेते हैं। उनको जीवनयापन सिखाने के लिए किसी प्रशिक्षक, विद्यालय वा विश्वविद्यालय की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनके ज्ञान व भाषा में बचपन से लेकर मृत्यु तक कोई विशेष विकास वा परिष्कार देखने में नहीं आता। हाँ, कुछ-२ परिवर्तन ही देखने में आता है, जैसे बड़ी आयु के हाथी, चिम्पैंजी, कई बन्दर, शेर आदि अपने बच्चों से कुछ अधिक समझदार व अनुभवी होते हैं, पुनरपि वे कितने भी समझदार हो जायें, परन्तु वे अतिमूढ़ मनुष्य की बराबरी भी कदापि नहीं कर सकते। तब प्रश्न यह उठता है कि क्या मनुष्य जाति में भाषा व ज्ञान की उत्पत्ति वा विकास क्रमश: हुआ?

संसार में हजारों भाषाएँ बोली जाती हैं तथा संसार भर के लगभग आठ अरब मनुष्यों ने अपने ज्ञान-विज्ञान का आश्चर्यजनक विकास किया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि संसार भर की विविध जातियों वाले पशु-पक्षी अपनी-२ जाति के अनुसार लगभग एक जैसा ज्ञान व भाषा को जानते हैं। उनमें पृथक्-२ स्तर नहीं होते। एक ही जाति के बन्दर वा कोई भी पशु-पक्षी स्थान वा काल के भेद से पृथक्-२ बोली बोलते हों वा उनके ज्ञान व व्यवहार में भिन्नता हो, ऐसा हमारी जानकारी में नहीं है, जबकि मनुष्य जाति में ऐसा नहीं है। भाई-२ में भी ज्ञान का बहुत भेद सम्भव है। यदि शिशु को एकाकी रखा जाए, तो वह कोई भी मानवीय व्यवहार नहीं जान सकता। यह सब क्यों व कैसे होता है? इस विषय में वर्तमान विद्वान् प्राय: वर्तमान विज्ञान के विकासवादी सिद्धान्त का ही आश्रय लेते देखे जाते हैं।

* * * * *

विकासवाद की समीक्षा

स्थान व काल के भेद से विभिन्न प्राणियों के शरीरों की संरचना में भेद को वर्तमान वैज्ञानिक वा प्रबुद्ध वर्ग विकासवाद की ही देन मानकर इस प्रकार बोलता देखा जाता है— ''अमुक प्राणी ने अपने शरीर में पर्यावरण व परिस्थिति के अनुकूल अमुक-२ परिवर्तन कर लिये, पंख उगा लिये, पैरों का विकास कर लिया, चमड़ी को कठोर बना लिया, चमड़ी पर बाल व ऊन का विकास कर लिया, पूँछ लुप्त कर ली, हाथों वा टाँगों का विकास कर लिया, खाने-पीने की शैली में परिवर्तन कर लिया। सूँड का विकास हो गया, परिस्थिति के अनुकूल गर्दन लम्बी कर ली। सभी प्राणियों का एक ही मूल स्रोत एककोशिकीय जीव था, उससे विकास यात्रा करते-२ यह प्रबुद्ध व विकसिततम प्राणी मनुष्य हो गया....आदि।'' वर्तमान प्रबुद्ध जनों, जो स्वयं को वैज्ञानिक मेधासम्पन्न मानते हैं, को पता नहीं क्यों यह भ्रम हो गया है कि सभी प्राणी एक ही जाति से विकसित हुए हैं। पता नहीं क्यों, उन्हें इस संसार के नियामक व निर्माता परमात्म तत्त्व के अस्तित्व को स्वीकार करने में भय वा संकोच होता है।

ईश्वर के अस्तित्व व स्वरूप को अधिक जानने के लिए पाठक 'सृष्टि संचालक' पुस्तक को पढ़ सकते हैं। मुझे विश्वास है कि सुधी पाठक उस विषय को समझकर विकासवाद की असारता का स्वयं भी कुछ बोध कर ही लेंगे। यहाँ यह विषय हमारे ग्रन्थ से सम्बन्धित नहीं है, अत: हम इस पर विस्तार से लिखना अप्रासंगिक एवं अनावश्यक समझते हैं। पुनरपि हम विकासवादियों से इतना अवश्य जानना चाहते हैं कि आप शरीरों में क्रमिक परिवर्तन की बातें करते हैं, तो वह परिवर्तन मनुष्य में आकर क्यों रुक गया? उड़ने की आवश्यकता होने पर पक्षियों के पंख उग आये, जबकि उनके पूर्वजों के पंख होना आप नहीं मानते, तब लाखों वर्षों से मनुष्य भी अन्तरिक्ष में उड़ने का प्रयास करता रहा है, उस ऐसे मनुष्य के पंख क्यों नहीं आये? महाभारत, रामायण व इससे पूर्व भी मानव ने वायुयान बनाना सीखा था और न

केवल सीखा था, अपितु यह विज्ञान अति उत्कृष्ट भी था। जब आपके विकासवाद ने पक्षियों के पंख उगा दिये, तब मनुष्य के लगाने में कौनसी बाधा आ गयी? यदि ऐसा हो जाता, तो मानव को आवागमन के साधनों की तकनीक का आविष्कार नहीं करना पड़ता। आप मानते हैं कि ठण्डे प्रदेशों में ऊन वा बड़े-२ बाल स्वयं उग आये, तब मानव के क्यों नहीं उगे? यदि ऐसा हो जाता, तो ऊनी वस्त्रों के आविष्कार की आवश्यकता ही नहीं होती।

आज मानव छोटे-२ पशु-पक्षियों को देखकर नानाविध तकनीकों का आविष्कार कर रहा है। पशु-पक्षियों में सब कुछ स्वयं हो गया और मनुष्य पर आते ही विकास को मानो पूर्ण विराम लग गया, ये अत्यन्त हास्यास्पद तथा अवैज्ञानिक कल्पनाएँ हैं। दुर्भाग्य से ये कल्पनाएँ विज्ञान के नाम से गढ़ी, पढ़ी व प्रचारित की जा रही हैं। वस्तुतः चेतन तत्त्व के अस्तित्व व स्वरूप की वैज्ञानिकता को समझे बिना वर्तमान विज्ञान इसी प्रकार की मिथ्या व अवैज्ञानिक धारणाओं में जकड़ा रहेगा। यह वर्तमान विज्ञान का नितान्त रूढ़िवाद वा अन्धविश्वास मात्र है, जो ईश्वर, आत्मा जैसे अनिवार्य चेतन तत्त्वों को सर्वथा भूला हुआ है। हमने यहाँ तक शरीर व बोली के विकास की बात की। अब हम ज्ञान के विकास की संक्षिप्त चर्चा करते हैं—

कथित विकासवादी महानुभाव मनुष्येतर प्राणियों में शरीर के क्रमिक परिवर्तनरूपी विकास की बात करते हैं, जो मानव जाति में नहीं देखा जाता, जबकि मानव में जिस भाषा व ज्ञान के विकास की बात की जाती है, वह मनुष्येतर किसी प्राणी में प्रायः नहीं देखा जाता। एक पतंगा जब से इस धरती पर आया है, तब से अर्थात् करोड़ों वर्षों से दीपक के पास आकर अपने प्राण गँवाता रहा है। उसमें आज तक भी केवल इतना भी ज्ञान का विकास नहीं हुआ कि जलने से बच जाए, जबकि मानव मूलतः अमीबा से विकसित होकर बौद्धिक दृष्टि से अत्यन्त ऊँचा उठकर अन्तरिक्ष की अति दूर की उड़ानें उड़ने और भाँति-२ की उच्च तकनीकें विकसित करने में सक्षम हो गया? विकासवाद में ऐसा विरोध क्यों है? यह विरोध कहीं मनुष्य में दिखाई देता है, तो कहीं मनुष्येतर प्राणियों में। वस्तुतः विकासवादियों के पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। मनुष्येतर किसी प्राणी, फिर चाहे वह वानरों की सर्वाधिक बुद्धिमान् प्रजाति चिम्पैंजी, ओरांगुटान आदि क्यों न हों, उन्हें लाखों प्रयत्न करने पर भी मनुष्य की भाँति बोलना व अन्य प्रकार के बौद्धिक कार्यों से युक्त नहीं बनाया जा सकता।

इधर मनुष्य के विषय में कहा जाता है कि इसने यों ही भाषा व ज्ञान-विज्ञान का विकास

कर लिया। यदि प्राकृतिक ध्वनियों, प्राणियों की आवाजों व व्यवहार का अनुकरण करके परस्पर मिल-जुलकर समृद्ध भाषा व ज्ञान का विकास शनैः-२ हो जाता, तो संसार के अनेक वनवासी समूह भी भाषा-विज्ञान, भौतिकी आदि पदार्थ विज्ञान, उच्च तकनीक एवं सुसंस्कृत समाज का निर्माण कर लेते, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। किसी सुसंस्कृत तथा अति समृद्ध प्रबुद्ध माता-पिता से उत्पन्न बालक को भी यदि जन्मते ही एकाकी वन्य पशुओं के साथ रख दिया जाए। केवल छुप-२ कर उसकी सुरक्षा व देखभाल ही की जाए, तो वह बालक यदि जीवित बच गया, तो पशुओं की भाँति ही समस्त व्यवहार करेगा, भले ही उसमें जीन्स किसी वैज्ञानिक वा शिक्षाविद् के क्यों न हों। वह जैसे पशुओं वा वन्य मानव जातियों वा गूँगी धाइयों के बीच रखा जाएगा, वह वैसा ही व्यवहार उनसे सीख लेगा। अपने माता-पिता का कोई व्यवहार उसमें नहीं आ पाएगा। दूसरी ओर पालतू पशु लाखों-करोड़ों वर्षों से मानव जाति के साथ रह रहे हैं, परन्तु अब तक उन्होंने एक भी व्यवहार मानव से नहीं सीखा है। मनुष्य व अन्य प्राणियों में यह मौलिक भेद सभी जानते हैं, पुनरपि विकासवाद की पट्टी बाँधकर यह सोचने-विचारने का प्रयत्न नहीं किया जाता कि ऐसा क्यों है?

हमारे मत में मनुष्येतर सभी प्राणियों में केवल स्वाभाविक ज्ञान ही प्रधान होता है, जबकि नैमित्तिक ज्ञान, जो माता-पिता से सीखने को मिलता है, वह अत्यल्प ही होता है, वह भी बहुत कम जातियों में। मनुष्य में स्वाभाविक ज्ञान बहुत कम, जबकि नैमित्तिक ज्ञान ही प्रधानता से अपनी भूमिका निभाता है। मनुष्य बिना नैमित्तिक ज्ञान के पशुओं से भी अधिक मूर्ख होता है। पशुओं के बच्चे भले ही वे जलविहीन रेगिस्तान में जन्मे हों, वे भी तालाब में अकस्मात् छोड़ने पर तैरने लगेंगे, जबकि कुशल तैराकों, गोताखोरों के बच्चे भी बिना सीखे व सिखाये सहसा पानी में छोड़ने पर निश्चित ही डूब मरेंगे। मनुष्येतर प्राणियों के बच्चे जन्मते ही अपनी बोली बोलने लग जाते हैं और वही बोली मरते दम तक बोलते रहते हैं, जबकि मनुष्य का बच्चा जन्मते समय रोना, हँसना आदि ही कर पाता है और समाज में रहकर विभिन्न भाषाओं का महान् ज्ञाता, वैज्ञानिक, साहित्यकार आदि हो सकता है।

ऐसे में प्रश्न उठता है कि जब सर्वप्रथम मानव की उत्पत्ति हुई होगी, तब उसने केवल पशु-पक्षियों व जलचरों को ही देखा था, उनकी ही बोली सुनी थी, उनका ही व्यवहार देखा था, तब इस मानव जाति की प्रथम पीढ़ी जिसके कि कोई माता-पिता भी नहीं थे, इस कारण उनके जीन्स भी मानव व्यवहार का किसी प्रकार से संवहन करने वाले नहीं थे, तब उनमें

भाषा व ज्ञान का विकास कैसे हुआ? उनमें इनकी उत्पत्ति कैसे हुई? धीरे-२ आपस में मिल-जुलकर तो सम्भव नहीं, क्योंकि यदि ऐसा हो सकता, तो पृथिवी के किसी कोने पर असभ्य व जंगली मानव आज विद्यमान ही नहीं होता। मानव केवल बाहरी परिवेश से ही सब कुछ सीखता है और कोई उसे सिखाने वाला हो, तभी सीखता है। तब कौन सिखाने वाला ऐसा था, जो इस मानव जाति से भी अति योग्य था? यदि वह भी कोई प्राणी था, तो उसमें ज्ञान व भाषा का विकास कैसे हुआ, यह प्रश्न उठेगा ही।

जो पाठक डार्विन के विकासवाद की विस्तार से परीक्षा करके इसकी असारता समझना चाहें, वे आर्य विद्वान् श्री पण्डित रघुनन्दन शर्मा कृत 'वैदिक सम्पत्ति', स्वामी विद्यानन्द सरस्वती कृत 'वेद मीमांसा', डॉ. भूपसिंह कृत 'वैदिक संस्कृति की वैज्ञानिकता' आदि पुस्तकों का गम्भीर स्वाध्याय कर सकते हैं। मैं इस विषय की गहराई में जाकर विषयान्तर नहीं होना चाहता। इस कारण भाषा व ज्ञान की उत्पत्ति के वैदिक सनातन मत की चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

* * * * *

भाषा व ज्ञान की उत्पत्ति

हम वैदिक सृष्टि-उत्पत्ति विज्ञान नामक अध्याय में विचार करेंगे कि सृष्टि निर्माण के विभिन्न चरणों में विभिन्न वैदिक छन्दों (मन्त्रों) की उत्पत्ति कैसे होती चली गयी। वे सभी छन्द, जो विभिन्न प्राण व वाक् (ध्वनि) रूप ही थे। वे इस सृष्टि के उपादान कारण थे, तो मूल प्रकृति के कार्यरूप ही थे। मानव की ही नहीं, अपितु इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के पूर्व ही सम्पूर्ण आकाश पूर्णतः वैदिक छन्दों (तरंगों, ध्वनियों वा प्राणों) से एकरस भर गया था, इसी कारण आर्यसमाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द सरस्वती ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदनित्यत्व विषय में लिखा—

''किन्तु आकाश में शब्द की प्राप्ति होने से शब्द तो अखण्ड एकरस सर्वत्र भर रहे हैं। शब्द नित्य हैं। वेदों के शब्द सब प्रकार से नित्य बने रहते हैं।''

शब्द की नित्यता

हमारे मत में वैदिक शब्दों की नित्यता सृष्टिकाल पर्यन्त ही माननी चाहिए। प्रलयकाल में शब्दों का यह रूप नहीं रह सकता। हाँ, उनका पृथक्-२ अक्षर रूप बीजवत् परावस्था में सदैव बना रहता है। सृष्टि उत्पत्ति के प्रारम्भ होते ही अक्षरों के प्रकट होने पर शनैः-२ वैदिक पद, पुनः छन्द भी प्रकट वा उत्पन्न होने लगते हैं। हाँ, ऋषि दयानन्द का यह कथन कि वैदिक

शब्द परमेश्वर के ज्ञान में नित्य ही रहते हैं अर्थात् प्रलयकाल में भी यथावत् बने रहते हैं, सत्य है।

सृष्टि जब से बननी प्रारम्भ हुई, उसी समय प्रारम्भिक वैदिक दैवी छन्द 'ओम्' की उत्पत्ति सर्वप्रथम इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र हुई। इसके पश्चात् अन्य गायत्र्यादि छन्दों के विभिन्न रूपों की उत्पत्ति इस ब्रह्माण्ड में होती चली गयी। ये छन्द विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियों के ही रूप थे। इसका तात्पर्य है कि विभिन्न प्रकार की सूक्ष्म वायुरूप ये छन्द रश्मियाँ सारे ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु में भर गयीं, किंवा इन्हीं के स्थूल रूप से स्थूल वायु, अग्नि आदि की उत्पत्ति होती है। प्रत्येक पदार्थ इन्हीं का सघन रूप है। जब मनुष्य की उत्पत्ति इस पृथिवी पर हुई, तब मानव पीढ़ी में से सर्वश्रेष्ठ संस्कारों से युक्त चार ऋषियों, जिनका नाम अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा था, ने आकाश में विद्यमान उन छान्दस तरंगों को समाधि, विशेषकर सम्प्रज्ञात समाधि में अनुभूत किया। इस समय जैसे विभिन्न रेडियो तरंगें सम्पूर्ण आकाश में विद्यमान हैं, परन्तु सभी उनका अनुभव नहीं कर सकते। जिस किसी के पास मोबाइल आदि इलेक्ट्रॉनिक उपकरण हों, दूरदर्शन, रेडियो, इण्टरनेट आदि व्यवस्थाएँ हों, वे ही इन रेडियो तरंगों में से एक व्यवस्था के अनुसार इच्छित तरंगों का ग्रहण कर सकते हैं।

जिन छान्दस रश्मियों की हम चर्चा कर रहे हैं, वे इन रेडियो तरंगों से भी सूक्ष्म होती हैं। उन्हें इन यन्त्रों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। इन रश्मियों का माध्यम (आधार) आकाश न होकर मनस्तत्त्व होता है, इसलिए इनका ग्रहण केवल समाधिस्थ मन के द्वारा ही हो सकता है। इस कारण केवल उन चार ऋषियों, जो प्रथम मानव पीढ़ी में से कुछ विशिष्ट योग्यताधारी व्यक्ति थे, ने सम्प्रज्ञात समाधि में अन्तःकरण की रश्मियों के द्वारा परमात्मा के सानिध्य व साहाय्य से उन सर्वतोव्याप्त छान्दस तरंगों में से तरंगों को आकर्षित वा ग्रहण करना प्रारम्भ किया। उस समय जन्मे अन्य मनुष्यों का यह सामर्थ्य नहीं था कि वे उन्हें ग्रहण कर सकें। आज भी ब्रह्माण्ड में लाखों वर्षों पूर्व की भी विभिन्न ध्वनि तरंगें अति सूक्ष्म अवस्था में विद्यमान हैं। यदि मानव ऐसी तकनीक विकसित कर सके कि रामायण, महाभारत आदि कालों में बोली गयी विभिन्न ध्वनियों के सूक्ष्म रूप को सुन सके, तो उन ध्वनियों को सुनना कदाचित् सम्भव है। वैदिक छन्द इन ध्वनि तरंगों से भी सूक्ष्म रूप में विद्यमान होते हैं। ऋग्वेद में वैदिकी वाक् को ग्रहण करने का सुन्दर विज्ञान इस प्रकार दर्शाया गया है—

वेद का प्रादुर्भाव

हम यहाँ इन मन्त्रों का प्रसंग के अनुसार केवल आधिभौतिक भाष्य कर रहे हैं, जिनमें से प्रथम मन्त्र का भाष्य इस प्रकार है—

> बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
> यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥ १॥ (ऋ.१०.७१.१)

(बृहस्पते) [यहाँ 'बृहस्पतेः' के स्थान पर सम्बोधनान्त पद प्रयुक्त है। इसके साथ ही यह पद सम्बोधनार्थ भी प्रयुक्त है अर्थात् दो अर्थों में प्रयुक्त है।] हे वेदवाणी के पालक विद्वन्! (नामधेयम्) सृष्टि के सभी पदार्थों एवं उनके नामों को (दधानाः) धारण करने वाले अत्यन्त पवित्र अन्तःकरण वाले सृष्टि की प्रथम पीढ़ी में उत्पन्न ऋषि (यत्, प्र, ऐरत्) जो प्रेरणा परमात्मा से प्राप्त करते हैं अर्थात् वे आदि ऋषि जिन ऋचाओं को परब्रह्म परमात्मा की प्रेरणा से ब्रह्माण्ड से ग्रहण करते हैं, (प्रथमम्, वाचः, अग्रम्) वह वाणी मानव व्यवहार में लायी जाने वाली वाणियों में सबसे अग्रिम वाणी है। (एषाम्, यत्, श्रेष्ठम्) जो वेदवाणी इन सभी मानवी भाषाओं में सबसे उत्तम वाणी है, (यत्, अरिप्रम्, आसीत्) [अरिप्रम् = रीङ् श्रवणे दिवा. धातो 'लीरीङोर्ह्रस्व. उ.को. ५.५५ सूत्रेण रः प्रत्ययः पुगागमो ह्रस्वश्च। नञ् समासः (वैदिक कोषः)] वह पूर्ण शुद्ध हुआ करती है। ऋषियों द्वारा आकाश से ग्रहण करते समय वह वाणी कहीं से भी क्षय को प्राप्त नहीं होती है और न उसमें कुछ मिलावट होती है। (तत्, एषाम्, प्रेणा) वह वेदवाणी इन सभी वाणियों में सर्वाधिक वेगपूर्वक गमन करने वाली होती है अथवा वह प्रकृष्टरूपेण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होती है। (गुहा, निहितम्, आविः) [आविः = आविष्कुरुते (निरु० ५.१९)] वह वाणी अन्तरिक्षरूपी गुहा में निहित होती है, जो ऋषियों के अन्तःकरण रूपी गुहा में प्रकट होती है।

यहाँ इस ऋचा के प्रथम पद 'बृहस्पते' को 'बृहस्पतेः' मानने से यह संकेत भी मिलता है कि वह अन्तरिक्ष में व्याप्त वेदवाणी सम्पूर्ण वाणी एवं सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पालक व स्वामी परमात्मा की ही वाणी होती है अर्थात् उसी से उत्पन्न होती है।

भावार्थ — सृष्टि उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण सृष्टि में वेद की ऋचाएँ प्राप्त होती हैं। ये ऋचाएँ परा व पश्यन्ती रूप में सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में भरी रहती हैं। प्रथम पीढ़ी में उत्पन्न सर्वाधिक पवित्रात्मा चार ऋषि समाधिस्थ होकर ईश्वर की प्रेरणा से इन ऋचाओं को ग्रहण करते हैं।

उससे पूर्व किसी भी मनुष्य की कोई भाषा नहीं होती, बल्कि भाषा की उत्पत्ति ही इन ऋचाओं की उत्पत्ति के पश्चात् इन्हीं के अपभ्रष्ट होने से होती है। इस वाणी से श्रेष्ठ वा इसके बराबर ब्रह्माण्ड की अन्य कोई भाषा नहीं हो सकती। जब वे ऋषि इन वाणियों को समाहित चित्त होकर अन्तरिक्ष से ग्रहण करते हैं, उस समय वे वाणियाँ शुद्ध व पूर्ण रूप में उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट होती हैं। कोई भी ऋचा व ऋचा का अंश एक पद भी इस प्रक्रिया में रिस नहीं पाता अर्थात् जिस रूप में वे ऋचाएँ अन्तरिक्ष में व्याप्त होती हैं, वे उसी रूप में ग्रहण की जाती हैं। वह वाणी अर्थात् वेद मन्त्र उन ऋषियों के अन्तःकरण में अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक सहसा ही प्रविष्ट हो जाते हैं, न कि इस प्रकार, जिस प्रकार कोई मन्त्रों को कण्ठस्थ करता है। वे मन्त्र अन्तरिक्ष से उन ऋषियों के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे मन्त्र उन ऋषियों के स्मृतिपटल पर सद्यः अंकित हो जाते हैं।

द्वितीय मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य इस प्रकार है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥ २॥

(ऋ.१०.७१.२)

(सक्तुम्, इव) [सक्तुः = सक्तुः सचतेर्दुधावो भवति (निरु.४.१०)] अशुद्धि मिश्रित सत्तू जो हाथों से कठिनाई से शुद्ध करने योग्य होते हैं, वे जिस प्रकार सहजता से शुद्ध किये जाते हैं, (तितउना) [तितउ = तितउ परिपवनं भवति। ततवद्वा तुन्नवद्वा तिलमात्रं तुन्नमिति वा (निरु.८.९)] सूक्ष्म छिद्रों वाली विस्तृत शोधन कर्म करने वाली चालनी से (यत्र, धीराः) उसी प्रकार जब अथवा जहाँ अत्यन्त सत्त्वगुण धारण करने वाले सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न ऋषि ध्यानावस्थित अवस्था में [धीराः = प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तः (निरु.४.१०)] (मनसा) समाहित अन्तःकरण के द्वारा (पुनन्तः) अन्तरिक्षस्थ वेद वाणी को शुद्ध करते हुए (वाचम्, अक्रत) उस वेद वाणी को अपने अन्तःकरण में धारण करते हैं। (अत्र, सखायः) इस वेदविद्या के विषय में सब प्राणियों के सखारूप हितचिन्तक वे ऋषि (सख्यानि, जानते) [सखा = समानं ख्यातीति सखा (उ.को.४.१२८)] जहाँ प्राणिमात्र के प्रति मित्र धर्म को जानने वाले होते हैं, वहीं ईश्वर के सहाय से वेदमन्त्रों, उनके पदों के अर्थ अर्थात् शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध को पूर्णता से जान लेते हैं। (एषाम्, वाचि, अधि) उस वेदवाणी में (भद्रा, लक्ष्मीः) [लक्ष्मीः = लक्ष्मीर्लाभाद्वा लक्षणाद्वा लक्ष्यते चिन्त्यते सर्वेण —स्कन्दस्वामी

(निरु.४.१०), भद्रम् = भद्रं भगेन व्याख्यातम् भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं भवद्रमयतीति वा (निरु.४.१०)] सभी प्राणियों के लिए प्राप्त करने योग्य पदार्थों और चिन्तन अर्थात् उन पदार्थों के विज्ञान (निहिता) निहित होते हैं।

भावार्थ — मानव सृष्टि उत्पत्ति के समय इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में वेद मन्त्र व्याप्त होते हैं। वे सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में व्याप्त रहते हैं। सृष्टि की प्रथम पीढ़ी में उत्पन्न चार सर्वश्रेष्ठ ऋषि समाधिस्थ मन के द्वारा अन्तरिक्ष से ऋचाओं को उसी प्रकार छानकर ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार सत्तू वा आटा चालनी के द्वारा शुद्ध किया जाता है। जिस प्रकार बिना चालनी के हाथों के द्वारा सत्तू वा आटा शुद्ध करना बहुत कठिन होता है, उसी प्रकार बिना समाधिस्थ मन के अन्तरिक्षस्थ ऋचाओं को ग्रहण करना सम्भव नहीं होता। यहाँ यह उपमा यह भी दर्शाती है कि चार ऋषियों के द्वारा वेदमन्त्रों के ग्रहण करने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि सम्पूर्ण सृष्टि में इन मन्त्रों के अतिरिक्त और कोई मन्त्र नहीं थे। यदि ऐसा होता, तो चालनी से सत्तू छानने के समान मन्त्रों को ग्रहण करने की चर्चा यहाँ नहीं होती। वे चारों ऋषि प्राणिमात्र के हितचिन्तक और मुक्ति से पुनरावृत्त हुए मनुष्यों में भी सर्वोच्च स्तर के होते हैं। इसलिए वे ही मन्त्रों का ग्रहण कर पाते हैं। वे ईश्वर की कृपा से उन गृहीत मन्त्रों, उनके पदों और उन पदों के अर्थों के नित्य सम्बन्ध को सम्पूर्ण रूप से जान लेते हैं। उन मन्त्रों में सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों को यथावत् जानने के लिए सम्पूर्ण विज्ञान निहित होता है और वह विज्ञान प्रत्येक मनुष्य के लिए सभी प्रकार के लाभ प्राप्त कराने वाला भी होता है।

अब हम तृतीय मन्त्र का आधिभौतिक भाष्य करते हैं—

> यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
> तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते॥ ३॥ (ऋ.१०.७१.३)

(यज्ञेन) [यज्ञः = ब्रह्म हि यज्ञः (श.ब्रा.५.३.२.४), यज्ञः प्रजापतिः (श.ब्रा.११.६.३.९)] वे धीर विद्वान्, जिनकी चर्चा पूर्व मन्त्र में की गई है, सबके पालक परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार के द्वारा अर्थात् उसके सानिध्य से (वाचः, पदवीयम्) उस वेदवाणी के विभिन्न पदों के मार्गों और अनुक्रम को (आयन्) जानते हैं वा प्राप्त होते हैं (ऋषिषु, प्रविष्टाम्) आकाशस्थ सूक्ष्म ऋषि रश्मियों में प्रविष्ट हुई (ताम्, अनु, अविन्दन्) उस वेदवाणी को अनुक्रमपूर्वक प्राप्त करते हैं। (ताम्, आभृत्य) उस प्राप्त हुई वेदवाणी को अपने अन्तःकरण

में धारण करके (पुरुत्रा, व्यदधुः) सर्वत्र प्रचारित करते हैं। (ताम्, सप्तरेभाः) [रेभः = स्तोतृनाम (निघं.३.१६)] उस वेदवाणी में सात प्रकार के छन्द (अभि, संनवन्ते) [संनवन्ते = नवते, गतिकर्मा (निघं.२.१४)] सब ओर से व्याप्त रहते हैं।

भावार्थ — पूर्वोक्त चार आदि ऋषि जब ध्यानावस्थित होते हैं और परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं, तब वे अन्तरिक्ष से आती हुई ऋचाओं और उनके पदों को क्रमपूर्वक आते हुए अनुभव करते हैं। वे क्रमपूर्वक उन ऋचाओं और पदों के विज्ञान को भी पूर्णता के साथ प्राप्त होते रहते हैं अर्थात् जानते हैं। वे ऋचाएँ अन्तरिक्ष में विद्यमान सूक्ष्म ऋषि रश्मियों में व्याप्त होती हैं, जहाँ से वे ऋषि उन्हें अपने अन्तःकरण में ग्रहण करते हैं। इस प्रकार अपने सामर्थ्य के अनुसार सभी ऋचाओं को महर्षि ब्रह्मा के माध्यम से सर्वत्र प्रचारित करते हैं। वह वेदवाणी मुख्यतः सात छन्दों से युक्त होती है। [सप्त = सृप्ता संख्या (निरु.४.२६)] वे छन्द सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में फैले हुए होते हैं और सर्वत्र ही ये एक-दूसरे की ओर गतिशील रहते हैं। उन्हीं में से चार ऋषि वेद की इन ऋचाओं को ग्रहण करते हैं।

इन मन्त्रों से स्पष्ट होता है कि आकाश में अनेक ऋचाएँ छन्दरूपी प्राण रश्मियों के रूप में उत्पन्न होकर विद्यमान रहती हैं, तब अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा ऋषि समाधि अवस्था में परमात्मा की कृपा से उन अन्तरिक्षस्थ ऋचाओं में से मानव जीवन हेतु आवश्यक ऋचाओं को समाहित चित्त द्वारा छान-२ कर अपने चित्त में संगृहीत करते हैं। वे ऋचाएँ ही क्रमशः

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का रूप होती हैं। ये चारों ऋषि न केवल उन ऋचाओं का संग्रह करते हैं, अपितु परमात्मा की कृपा से वे ऋषि उन ऋचाओं अर्थात् वाणियों के अर्थ को भी समझ लेते हैं। वे चारों ऋषि इस ज्ञान को महर्षि आद्य ब्रह्मा को प्रदान करते हैं। इस प्रकार संसार में आगे ज्ञान का प्रवाह चलता रहता है।

महर्षि आद्य ब्रह्मा
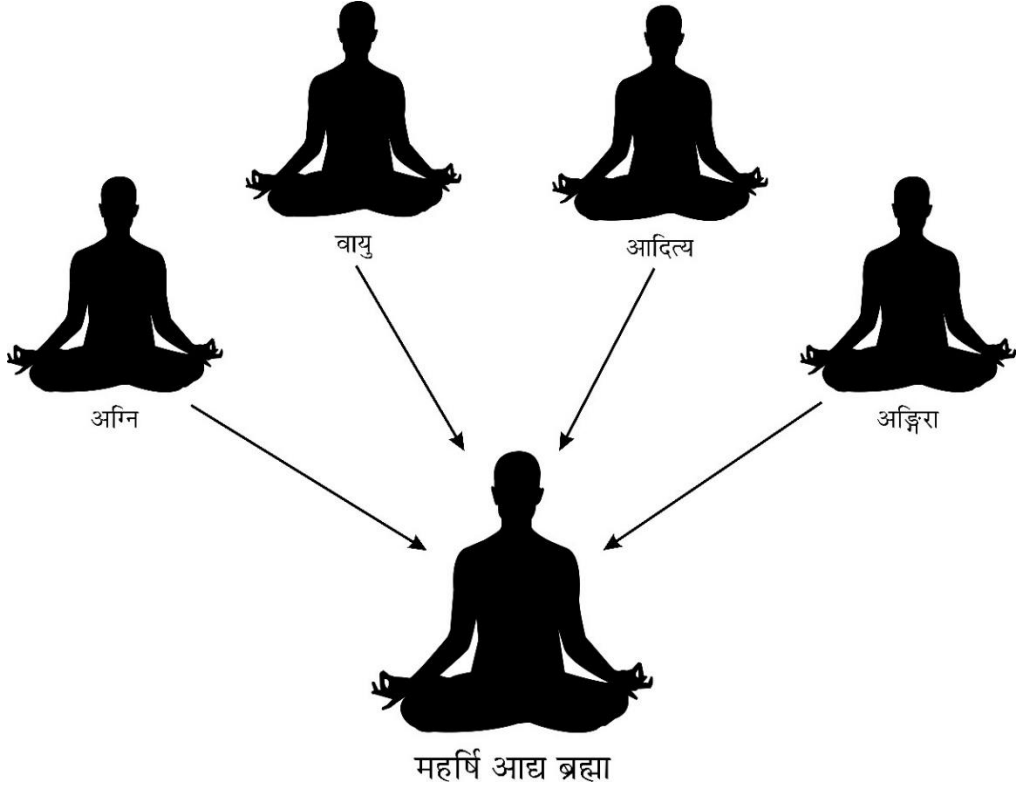
प्रश्न— अग्नि, वायु, आदित्य एवं अंगिरा नामक ऋषि क्या इसी सृष्टि में उत्पन्न हुए किंवा प्रत्येक सृष्टि में इन्हीं नाम के ऋषि ही वेद को ग्रहण करते हैं?

उत्तर— हमारे मत में प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में जिन चार ऋषियों के द्वारा आकाश से वैदिक छन्दों को ग्रहण किया जाता है, उनके ये ही नाम होते हैं। ये नाम रूढ़ नहीं, बल्कि योगरूढ़ हैं।

प्रश्न— परमात्मा ने सृष्टि के आदि में चार पुरुषों को ही वेदज्ञान क्यों दिया, महिलाओं को क्यों नहीं? क्या यही भेदभाव का मूल तो नहीं है?

उत्तर— आपने यह कैसे जाना कि ये चारों ऋषि पुरुष ही थे, इनमें महिला कोई नहीं। क्या आप पाणिनीय व्याकरण के आधार पर इनके नामों से लिंग का निर्धारण करते हैं? यदि हाँ, तब आपको समझ लेना चाहिए कि व्याकरण के नियम आर्ष ग्रन्थों में सर्वत्र समान रूप से कार्य नहीं करते। सर्वत्र सर्वदा वेदादि शास्त्रों के प्रति नकारात्मक सोच उचित नहीं है।

वाणी

विद्वानों ने वाणी के चार रूप बताए हैं—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ (ऋग्वेद १.१६४.४५)

उपर्युक्त मन्त्र के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने वैयाकरणों की दृष्टि से चार प्रकार की वाणी नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात के रूप में वर्गीकृत की है। आचार्य सायण ने इसके भाष्य में वाणी का वर्गीकरण वैयाकरणों की दृष्टि के अतिरिक्त नैरुक्तों आदि की दृष्टि को लेकर भी किया है। इसमें एक वर्गीकरण है— परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी। इनमें से वैखरी वाणी ही मानव के व्यवहार में आती है, शेष तीन प्रकार की वाणी को केवल योगी पुरुष ही देख वा जान पाते हैं।

महर्षि प्रवर यास्क ने निरुक्त १३.९ में इसी मन्त्र के व्याख्यान में वाणी का वर्गीकरण निम्न प्रकार किया है—

"चत्वारि वाचः परिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मेधाविनः गुहायां त्रीणि निहितानि नार्थं वेदयन्ते गुहा गूहतेः तुरीयं त्वरतेः कतमानि तानि चत्वारि पदानि ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम् नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः सर्पाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्म-प्रवादाः अथापि ब्राह्मणं भवति।"

यहाँ वर्गीकरण निम्नानुसार है—

१. आर्षमत— ओंकार और भूः, भुवः, स्वः महाव्याहृतियाँ। भगवान् मनु महाराज भी कहते हैं—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च॥ (मनु.२.७६)

अर्थात् प्रजापति ने वेद से इन चार पदों को दुहा है— ओम्, भूः, भुवः एवं स्वः। यही वेदों का सार है।

२. वैयाकरण मत— नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात।

३. याज्ञिक मत— मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण एवं व्यावहारिकी अर्थात् लोक भाषा।

४. नैरुक्त मत— ऋक्, यजुः, साम एवं व्यावहारिकी अर्थात् लोक भाषा।

५. अन्य मत— सर्पों की वाक्, पक्षियों की वाक्, क्षुद्र रेंगने वालों की वाक् तथा व्यावहारिकी (मानव-लोकभाषा)।

६. आत्मवादी मत— पशुओं में, वादित्रों में, सिंह आदि में एवं आत्मा में अर्थात् मनुष्यों की व्यावहारिकी वाणी।

इनके अतिरिक्त निरुक्तकार (१३.९)[२] वाणी की अन्य श्रेणियों को बताने हेतु मैत्रायणी संहिता को उद्धृत करते हुए कहते हैं—

"अथापि ब्राह्मणं भवति—

सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि। पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्याँ साग्नौ सा रथन्तरे। याऽन्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सादित्ये सा बृहती सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु। ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः। तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्। (मै.सं.१.११.५) इति"

हमें मैत्रायणी संहिता में पाठ इस प्रकार मिला—

"सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत् एषु लोकेषु त्रीणि तुरीयाणि पशुषु तुरीयꣳया पृथिव्याꣳ साग्नौ सा रथन्तरे यान्तरिक्षे सा वाते सा वामदेव्ये या दिवि सा बृहती सा स्तनयित्नौ अथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणे न्वदधु, स्तस्माद् ब्राह्मण उभयीꣳ वाचꣳ वदति यश्च देव यश्च

[२] पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर भाष्य के पाठ के आधार पर

न...''

अर्थात् वह उत्पन्न की गयी वाणी चार प्रकार की है। भूः, भुवः व स्वः इन तीन लोक वा सूक्ष्म छन्द रश्मियों के रूप में तीन प्रकार से तथा पशु अर्थात् विभिन्न मरुत् व छन्द रश्मियों के रूप में [पशवो वै मरुतः (मै.सं.४.६.८)] चौथे प्रकार से। जो वाणी पृथिवी में है, वही अग्नि में तथा वही रथन्तर साम में है। इसका तात्पर्य है कि जो वाणी अप्रकाशित परमाणुओं में होती है, वही ऊष्मा व विद्युत् से युक्त कणों में होती है तथा वही वाणी रथन्तर साम अर्थात् ऐसे तीव्र विकिरणों, जो रमणीय होते हुए भी तीक्ष्ण भेदक तथा विभिन्न कणों को तारने वाले होते हैं, में भी विद्यमान होती है। जो वाणी अन्तरिक्ष में होती है, वही वाणी वायु (सूक्ष्म व स्थूल) में भी विद्यमान होती है। यहाँ सूक्ष्म वायु से तात्पर्य विभिन्न प्रकार के प्राणों से भी है। वही वाणी वामदेव्य अर्थात् विभिन्न सृजन-प्रजनन कर्मों में भाग लेने वाले प्रशस्य व प्रकाशमान प्राण तत्त्व में भी विद्यमान होती है। जो वाणी द्युलोक अर्थात् सूर्य्यादि तारों में होती है, वही उनकी किरणों में तथा वैसी ही वाणी स्तनयित्नु अर्थात् शब्द करती हुई विद्युत् में भी होती है। इसके अनन्तर अन्य वाणी पशु अर्थात् मनुष्यों की व्यावहारिकी (लोक भाषा) की वाणी होती है। इसके अतिरिक्त भी जो भी वाणी है, उसे परमात्मा ने ब्राह्मणों में धारण किया। यहाँ 'ब्राह्मण' का अर्थ है— अत्युच्च स्तर के योगी पुरुष, जो परमब्रह्म परमात्मा में सदैव रमण करते हैं। ऐसे ब्रह्मवेत्ता महापुरुष दोनों प्रकार की (कुल चार प्रकार की) वाणियों, जो चाहे विभिन्न देवों (लोकों आदि) में विद्यमान हों अथवा मनुष्यों की बोलचाल की वाणी हों, को जानते हैं। ऐसी ब्राह्मण की अक्षर स्तुति है।

यहाँ निरुक्तकार स्वमत तथा मैत्रायणी संहिता के मत से वाक्-तत्त्व के गम्भीर व व्यापक स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक भी अनेक प्रकार की ध्वनियों को जानते हैं। सुपरनोवा के विस्फोट से उत्पन्न अति शक्तिशाली तरंगों को वैज्ञानिक शॉक वेव्स कहते हैं। यू.एस.ए. के खगोल भौतिकशास्त्री जॉन ग्रिबिन डार्क मैटर तथा कॉस्मिक किरणों में भी सूक्ष्म ध्वनि तरंगों का होना मानते हैं। यह बात उन्होंने अपनी पुस्तक 'द ओरिजिन्स ऑफ द फ्यूचर—टेन क्वेश्चन्स फॉर द नेक्स्ट टेन ईयर' के पृष्ठ १३० व १३४ पर लिखी है। सृष्टि उत्पत्ति के महाविस्फोट सिद्धान्त (बिग-बैंग) में जो बैकग्राउंड रेडिएशन का तापमान २.७ केल्विन माना जाता है, उस अत्यन्त ठण्डे रेडिएशन में भी अत्यन्त सूक्ष्म स्पन्दन (फ्लक्चुएशन्स) का होना वैज्ञानिक

मानते हैं और यह उतार-चढ़ाव ध्वनि तरंगों के रूप में होता है। 'द ट्रबल विद फिजिक्स' नामक पुस्तक में ली स्मोलिन पृष्ठ-२०५ पर लिखते हैं—

"Over the last decades, the temperature fluctuations of the microwave background have been mapped by satellites, balloon borne detectors, and ground based detectors, one way to understand what these experiments measure is to think of the fluctuations as if they were sound waves in the early universe."

स्पष्ट ही यहाँ सूक्ष्म ध्वनि तरंगों की चर्चा है। सूर्य में होने वाले विस्फोट तथा सामान्य अवस्था में भी पृथिवी के अन्दर विभिन्न गतिविधियों एवं अन्तरिक्ष में कॉस्मिक रेज की टक्कर से भी ध्वनि तरंगों का उत्पन्न होना वैज्ञानिक मानते व जानते ही हैं। जो बात वैज्ञानिक आज जानते हैं, उससे भी सूक्ष्म विज्ञान को महर्षि यास्क व मैत्रायणी संहिताकार ने सहस्त्रों वर्ष पूर्व जाना था। वैदिक साहित्य में वाक् का विज्ञान अतीव विस्तृत व गम्भीर है। यह ध्वनि वास्तव में क्या है, इसको वैज्ञानिक अभी तक पूर्णतः नहीं जान पाये हैं। ध्वनि के विषय में वैज्ञानिकों का कथन है—

'Sound is an alteration in pressure, stress, particle displacement or particle velocity, which is propogated in an elastic material, or the superposition of such propogated vibrations.

(Definition recommended by American Standard Association)

–"Acoustics" By Joseph L. Hunter

यहाँ निश्चित ही ध्वनि का स्पष्ट व उत्तम स्वरूप नहीं बताया गया है, बल्कि किसी पदार्थ में उत्पन्न दाब के रूप में ही ध्वनि तरंगों को ग्रहण किया गया है। यह अति साधारण बात है। वह दाब क्यों व कैसे उत्पन्न होता है, यह बात वर्तमान विज्ञान कुछ भी स्पष्ट नहीं कर पाता है।

वर्तमान वैज्ञानिक प्रकाशादि विकिरणों की भाँति ध्वनि के कण की भी कल्पना करते हैं। 'क्यू इज फॉर क्वाण्टम पार्टिकल फिजिक्स फ्रॉम ए टू जेड' नामक पुस्तक के पृष्ठ २८१ पर जॉन ग्रिबिन ध्वनि कण फॉनोन के विषय में लिखते हैं—

"Phonon – A particle of sound travelling through a crystal lattice. The

idea of a sound wave can be replaced by the idea of phonons in an analogous way to the description of light in terms of photons.”

यहाँ ध्वनि के कण की अवधारणा स्पष्ट है। वैदिक विचारधारा में भी शब्द तन्मात्रा की मान्यता सनातन से चली आयी है।

यहाँ तक हम वाणी के विभिन्न रूपों की चर्चा करने के पश्चात् परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी इन चार रूपों पर विशेष चर्चा करते हैं। वाणी का यह विभाग, जो आचार्य सायण ने किया है, की प्रामाणिकता पर कुछ आर्य विद्वान् प्रश्न खड़े कर सकते हैं। यद्यपि वैदिक ग्रन्थों को समझने की आचार्य सायण की शैली बहुत दोषपूर्ण किंवा मूर्खतापूर्ण है। जिस ऐतरेय ब्राह्मण का मैंने वैज्ञानिक व्याख्यान किया है, उसमें सायण भाष्य की लगभग उपेक्षा की है, क्योंकि उनका भाष्य सर्वथा दोषपूर्ण, कहीं-२ बीभत्स, अश्लील, मूर्खतापूर्ण तथा वैदिक दृष्टि के सर्वथा विपरीत है। इतने पर भी हमें यह स्वीकार्य नहीं है कि सायणाचार्य की किसी उचित बात को भी स्वीकार न किया जाये। इस विषय में प्रख्यात आर्य विद्वान् पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अपने निरुक्त भाष्य १३.९ में लिखा है—

‘‘परावाक् का सिद्धान्त नया नहीं है। देवकी पुत्र भगवान् कृष्ण ने इसका वर्णन साम्ब पञ्चाशिका के तीसरे श्लोक में किया है।’’

इस प्रकार महद् वेदविज्ञानी योगेश्वर श्रीकृष्ण का मत हमें सर्वथा स्वीकार्य है। जो विद्वान् इस पर भी शंका करें, उनका कोई उपाय नहीं है।

परा, पश्यन्ती आदि वाणी के चारों रूपों की चर्चा व्याकरण महाभाष्य के भाष्य प्रदीप में आचार्य कैयट तथा नागेश भट्ट ने भी की है। इन्होंने ‘वाक्यपदीयम्’ के कई श्लोकों को भी उद्धृत किया है।

हम वाणी के इन चारों स्वरूपों पर कुछ विचार करते हैं—

१. परा— परा वाणी सबसे सूक्ष्म, परन्तु सर्वाधिक प्रकृष्ट तथा सभी वाणियों का उच्चतम मूल स्वरूप है। ‘परा’ एक अव्यय पद है, जिसका प्रयोग आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोष में कई अर्थों में दर्शाया है, जिसमें जाना, सामना करना, पराक्रम, आधिक्य, पराधीनता, मुक्ति, एक ओर रख देना आदि मुख्य हैं। ऋषि दयानन्द सरस्वती ने इस अव्यय का प्रयोग उपरिभावे, दूरार्थे, पृथक्, प्रकृष्टार्थे, दूरीकरणे, पराजयार्थे आदि में किया है। (देखें— वैदिक कोष,

आचार्य राजवीर शास्त्री।)

यद्यपि यहाँ हम 'परा' उपसर्ग अव्यय पद की चर्चा नहीं कर रहे हैं, पुनरपि इन अर्थों से 'परा' पद का अर्थ विदित होने से 'परावाक्' के स्वरूप का भी बोध हो जाता है। संस्कृत व्याकरण का प्रयोग करके किसी भी शब्द के अर्थ का सम्बन्ध व तद्-वाच्य पदार्थ का स्वरूप बोध कराना ही व्याकरण शास्त्र की वैज्ञानिकता है। इस प्रकार परावाक् एक ऐसी सूक्ष्म वाणी है, जो सर्वाधिक सूक्ष्म, सर्वतोव्याप्त, अत्यधिक मात्रा में विद्यमान, सबको अपने साथ बाँधने वाली परन्तु स्वयं सबसे मुक्त एवं सबसे उच्चतम अवस्था वाली है। यह सूक्ष्मतमा होने से कर्णगोचर कदापि नहीं हो सकती। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सूक्ष्मतम रूप में व्याप्त रहकर प्रत्येक कण को अपने से समन्वित रखती है। इसे अत्युत्कृष्ट योगी पुरुष ही अनुभव कर सकते हैं। इसे किसी वैज्ञानिक तकनीक से नहीं जाना जा सकता। हमारे मत में मनुष्य जिस वैखरी वाणी को सुनता है, वह वाणी आत्म तत्त्व द्वारा परा अवस्था में ही ग्रहण की जाती है।

२. पश्यन्ती— इस शब्द का रूप ही बता रहा है कि यह वाणी परा की अपेक्षा स्थूल तथा यह विभिन्न वर्णों को देखती हुई अर्थात् उनको उनका स्वरूप प्रदान करती हुई बीजवत् होती है। यह परा वाणी से स्थूल एवं मध्यमा से सूक्ष्म होती है। साम्बपञ्चाशिका का चौथा श्लोक है—

या सा मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती त्रिषष्टिं
वर्णान्तः प्रकटकरणैः प्राण सङ्गात् प्रसूते॥

इस श्लोक की व्याख्या में क्षेमराज ने कहा है—

'तत्र चिज्ज्योतिषि गुणीभूत सूक्ष्मप्राणसङ्गात् पश्यन्त्याम्।'

अर्थात् पश्यन्ती में चिज्ज्योति की प्रधानता और सूक्ष्म प्राण गौण रहता है, उस दशा में भी वर्ण उत्पन्न होते हैं।[3] [मित्रावरुणौ = मनो मैत्रावरुणः (श.ब्रा.१२.८.२.२३), प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ (श.ब्रा.१.८.३.१२), यज्ञो वै मैत्रावरुणः (कौ.ब्रा.१३.२), प्राणापानौ मित्रावरुणौ

[3] देखें— महात्मा भर्तृहरि रचित वाक्यपदीयम् के ब्रह्म काण्ड पर पण्डित शिवशंकर अवस्थी की टीका, पृ. ४२३-२४

(ता.ब्रा.६.१०.५)। सदनम् = गर्भस्थानम् (म.द.य.भा.१२.३९)] हमारे मत में इस श्लोक का भाव यह है कि पश्यन्ती वाक् प्राणापानादि के आधार मनस्तत्त्व में उत्पन्न होती है। प्राण, अपान व उदानादि रश्मियों का गर्भरूप यही पश्यन्ती वाक् तत्त्व होता है अर्थात् सभी प्राण व छन्द रश्मियाँ इसी वाक् तत्त्व से एवं इसी में उत्पन्न होते हैं। यहाँ 'प्राण सङ्घात् प्रसूते' में प्राण का अर्थ मनस्तत्त्व मानना चाहिए। परा के अतिरिक्त तीन प्रकार की वाणियों की उत्पत्ति ही यहाँ साम्बपञ्चाशिका के इस श्लोक से होती प्रतीत हो रही है। परा वाणी में तिरेसठ वर्णों का पृथक्पन अव्यक्त ही रहता है।

क्षेमराज के कथन से यही स्पष्ट होता है कि चेतना जब मनरूप सूक्ष्म प्राण से संयोग करती है अर्थात् जब चेतना की प्रधानता तथा वह सूक्ष्म प्राण गौण होता है, तब इस पश्यन्ती वाक् की उत्पत्ति होती है। यह पश्यन्ती वाक् सभी वर्णों के मूल रूप को समेटे हुए होती है। सम्भवतः इस वाणी को भविष्य में कभी किसी सूक्ष्म तकनीक से ग्रहण किया जा सकेगा, ऐसा हमारा मत है। यहाँ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वाणी का वर्णरूप इस पश्यन्ती अवस्था में ही मूल रूप में प्रकट हो पाता है। परावाक् सर्वथा अव्यक्त रूप में होती है। हमारे मत में परा वाणी में भी अक्षरों का संस्कार सूक्ष्मतम रूप में अवश्य विद्यमान होता है और उसी से मूल रूप पश्यन्ती वाक् की उत्पत्ति होती है किंवा परावाक् ही पश्यन्ती वाक् के रूप में परिवर्तित होती है। ध्यातव्य है कि पश्यन्ती में भी वर्णों का स्पष्ट रूप विद्यमान नहीं होता।

पण्डित शिवशंकर अवस्थी ने वाक्यपदीयम् की टीका के पृ.७४ पर एक अज्ञातरचित श्लोक उद्धृत किया है—

वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा श्रुतिगोचरा।
द्योतितार्था च पश्यन्ती सूक्ष्मा वागनपायिनी॥

यह श्लोक कुछ पाठभेद से व्याकरण के भाष्यप्रदीपकार नागेश भट्ट ने भी 'चत्वारि वाक्परिमिता' (ऋ.१.१६४.४५) मन्त्र के व्याख्यान में दिया है।

इसमें पश्यन्ती के स्वरूप की विवेचना में अवस्थी का कथन उचित ही है कि इसमें श्रोता की बुद्धि में अर्थ का द्योतन होता है। जब कोई व्यक्ति कर्ण द्वारा कोई बात सुनता है, तब कानों की तन्त्रिकाओं द्वारा संवेदना मस्तिष्क पुनः मनस्तत्त्व को पहुँचती है। उस संवेदना में वर्णों की विद्यमानता में ही मन के सहयोग से मस्तिष्क वर्णों की पहचान करता है। यदि

उन संवेदनाओं में वर्णों का सर्वथा अभाव होता, तो मस्तिष्क वा मनस्तत्त्व वाणी को कदापि नहीं पहचान सकते। वही वाणी पश्यन्ती है, जो कान से तो सुनाई नहीं देती, परन्तु मस्तिष्क के माध्यम से मनस्तत्त्व जिसे अनुभव करता है।
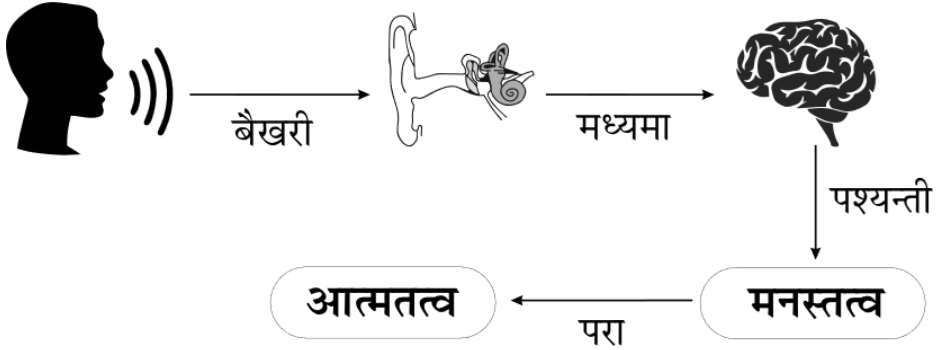
३. मध्यमा— साम्बपञ्चाशिका के उपर्युद्धृत श्लोक की व्याख्या में क्षेमराज लिखते हैं—

'गुणीभूत चित्सूक्ष्मप्राणसङ्गान्मध्यमायाम्।'

इस पर डॉ. अवस्थी पृ.सं. ४२४ पर लिखते हैं कि मध्यमा वाणी में चिज्ज्योति गौण तथा सूक्ष्म प्राण प्रधान होता है। इस वाक् को पश्यन्ती से स्थूल व वैखरी से सूक्ष्म माना जाता है। उपर्युक्त अज्ञातरचित श्लोक की व्याख्या में डॉ. अवस्थी का कहना है कि जो वाणी श्रोता के कर्णों द्वारा सुनी जाती है, वह मध्यमा होती है। इससे हमें यह प्रतीत होता है कि कर्णपटल पर जो ध्वनि सुनाई देती है, वह जिस स्वरूप को प्राप्त कर लेती है, वह मध्यमा होती है। मस्तिष्क व कानों के मध्य जिस वाणी का संचरण होता है, वह यही होती है। इसमें वर्णों का रूप पश्यन्ती की अपेक्षा स्थूल एवं वैखरी की अपेक्षा सूक्ष्म होता है। इसमें चेतन के सानिध्य की भी पश्यन्ती की भाँति अनिवार्यता होती है, परन्तु तदपेक्षा कुछ न्यून होती है।

४. वैखरी— यह वह स्थूल वाणी है, जिसे हम बोलते हैं। 'वैखरी' शब्द का निर्वचन आप्टे ने अपने कोष में किया है— 'विशेषेण खं राति' अर्थात् जो विशेषरूपेण आकाश में मिल

जाती है। यही वाणी वक्ता व श्रोता के बीच गमन करती है, जो अन्त में श्रोता के मस्तिष्क में जाकर पश्यन्ती का रूप ले लेती है। इसके विषय में उपर्युद्धृत साम्बपञ्चाशिका के श्लोक की व्याख्या में क्षेमराज लिखते हैं—

'स्थूलप्राणसङ्गाद्वैखर्यां वर्णा जायन्ते।'

अर्थात् स्थूल प्राण के संग से वैखरी में वर्णों की उत्पत्ति होती है। यहाँ वक्ता के स्वरयन्त्र से विभिन्न आभ्यन्तर व बाह्य प्रयत्नों से जो ध्वनि रूप वर्णों की उत्पत्ति होती है, वही संकेत है। यह ही लोक भाषा है।

अब वाणी के चार रूपों पर सायणाचार्य का मत उद्धृत करते हैं—

"परापश्यन्ती मध्यमा वैखरीति चत्वारीति। एकैव नादात्मिका वाग्मूलाधारादुदिता सती परेत्युच्यते। नादस्य च सूक्ष्मत्वेन दुर्निरूपत्वात् सैव हृदयगामिनी पश्यन्तीत्युच्यते योगिभिर्द्रष्टुं शक्यत्वात्। सैव बुद्धिं गता विवक्षां प्राप्ता मध्यमेत्युच्यते मध्ये हृदयाख्य उदीयमानत्वान्मध्य-मायाः। अथ यदा सैव वक्त्रे स्थिता ताल्वोष्ठादिव्यापारेण बहिर्निर्गच्छति तदा वैखरीत्युच्यते॥"

(ऋग्वेद भाष्य १.१६४.४५)

अर्थात् जब कोई मनुष्य वाणी का उच्चारण करता है, तब सर्वप्रथम नादरूप वाक् मूलाधार चक्र में उत्पन्न होकर ऊपर उठने लगती है। यही वाणी का सूक्ष्मतम परारूप है। इसका निरूपण सम्भव नहीं है अर्थात् अति दुष्कर है। जब यही परा वाणी हृदय चक्र में आती है, तब वहाँ यही पश्यन्ती वाक् का रूप ले लेती है। यही वाणी जब बुद्धि तत्त्व के सम्पर्क में आती है, तब मध्यमा रूप में प्रकट होकर कण्ठ में स्थित तालु-ओष्ठादि के प्रयत्न से वैखरी का रूप धारण करके बाहर निकलती है।

शब्द के विषय में महर्षि पाणिनि ने वर्णोच्चारणशिक्षा में लिखा है—

आकाशवायुप्रभवः शरीरात्समुच्चरन् वक्त्रमुपैति नादः।
स्थानान्तरेषु प्रविभज्यमानो वर्णत्वमागच्छति यः स शब्दः॥

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम्॥

इसकी व्याख्या ऋषि दयानन्द ने इस प्रकार कही है—

"आकाश और वायु के संयोग से उत्पन्न होने वाला, नाभि के नीचे से ऊपर उठता हुआ जो मुख को प्राप्त होता है, उसको 'नाद' कहते हैं। वह कण्ठ आदि स्थानों में विभाग को प्राप्त होता हुआ वर्णभाव को प्राप्त होता है, उसको 'शब्द' कहते हैं। जीवात्मा बुद्धि से अर्थों की संगति करके कहने की इच्छा से मन को युक्त करता, विद्युत्-रूप मन जठराग्नि को ताड़ता, वह वायु को प्रेरणा करता और वायु उर:स्थल में विचरता हुआ मन्द स्वर को उत्पन्न करता है।"

यहाँ पाठक आचार्य सायण, महर्षि पाणिनि एवं ऋषि दयानन्द के मत की कुछ समानता तो समझ ही सकते हैं। मन के द्वारा वायु का नीचे से ऊपर की ओर उठना और मूलाधार से हृदय पुन: कण्ठ की ओर आना इन मतों में समानता दर्शाता है। यहाँ इतना विचारणीय है कि वक्ता व श्रोता दोनों में वाणी के चार रूप पृथक्-२ स्थानों में प्रकट होते हैं। सामान्य व्यक्ति के सुनने व कहने योग्य वाणी वैखरी ही है, यह सुनिश्चित है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब सर्वप्रथम चार ऋषियों ने अन्तरिक्ष से ईश्वरीय सहायता से सम्प्रज्ञात समाधि के अन्दर वैदिक छन्दों को ग्रहण किया, तब वे छन्द ब्रह्माण्ड में वाणी के इन चार रूपों में से किस रूप में व्याप्त थे? जैसे आज वेदपाठी वैखरी वाणी में वेदपाठ करते हैं, क्या वैसे ही आकाश में शब्द व्याप्त थे? हमारे मत में ऐसा सम्भव नहीं। बिना ताल्वादि प्रयत्नों के ऐसे शब्दों अर्थात् वैखरी वाणी का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। अत: हमारे मत में ये सभी छन्द परा एवं पश्यन्ती वाणी के रूप में सर्वत: व्याप्त थे। वर्णत्व का बीज तो विद्यमान था, परन्तु श्रव्य अवस्था में नहीं। अब इस पश्यन्ती वाक् को ऋषियों ने कैसे ग्रहण किया? इसकी चर्चा हम इसी अध्याय के प्रारम्भ में लिख चुके हैं। इसी विषय में महात्मा भर्तृहरि के वाक्यपदीयम् के ब्रह्म काण्ड का १३६ वाँ श्लोक पर्याप्त संकेत देता है—

आविभागाद् विवृत्तानामभिख्या स्वप्नवच्छ्रुतौ।
भावतत्त्वं तु विज्ञाय लिङ्गेभ्यो विहिता स्मृति: ॥

इसका आशय है कि अखण्ड परमेश्वर अथवा परावाक् रूप एकाक्षर 'ओम्' पद वाचक से विस्तारित व प्रकट हुए विभिन्न छन्दों, जो पश्यन्ती रूप में विद्यमान होते हैं, का स्वप्न के

समान ज्ञान होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार स्वप्न में बिना श्रोत्रेन्द्रिय के सहाय के किसी भी व्यक्ति को सूक्ष्म शरीर द्वारा विभिन्न वाणियाँ सुनाई देती हैं, उसी प्रकार सविचार समाधि, जिसमें कि योगी सूक्ष्म विषयों का विचार करता है, में इन छन्दों को अपने सूक्ष्म शरीर किंवा अन्त:करण से ग्रहण करके अपने चित्त में अग्नि, वायु आदि चार ऋषियों ने संचित कर लिया।

प्रश्न— आपने भगवद् यास्क द्वारा निरुक्त शास्त्र में दर्शाए वाणी सम्बन्धी छ: प्रकार के वर्गीकरण की उपेक्षा करके आचार्य सायण किंवा साम्बपञ्चाशिका में भगवान् श्रीकृष्ण अथवा व्याकरण महाभाष्य के भाष्य प्रदीपकार आचार्य कैयट व आचार्य नागेशभट्ट को प्रमाण मानकर परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी इस वर्गीकरण को क्यों स्वीकार किया? इस युग के महान् वेदवेत्ता ऋषि दयानन्द सरस्वती ने वैयाकरणों के मतानुसार ही प्राक् वर्णित ऋ.१.१६४.४५ का भाष्य किया है, पुनरपि आपने ऋषि दयानन्द की उपेक्षा क्या इस कारण की, क्योंकि इससे आपके छन्द विज्ञान एवं उनको अग्न्यादि चार ऋषियों द्वारा ग्रहण करने की कल्पित प्रक्रिया की पुष्टि नहीं हो सकती थी। ऋषि दयानन्द अपनी ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका एवं सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में स्पष्ट लिखते हैं कि परमात्मा ने उन अग्न्यादि चार ऋषियों के आत्मा में वेदों का प्रकाश किया। क्या आपकी वेदज्ञान के आविर्भाव की प्रक्रिया इसके विपरीत मनगढ़न्त नहीं है?

उत्तर— जो लोग साम्बपञ्चाशिका के रचयिता भगवान् श्रीकृष्ण की आप्तता पर विश्वास नहीं करते, सर्वप्रथम मैं उन्हें मानसिक चिकित्सालय में भर्ती होने का परामर्श दूँगा, तदुपरान्त उन्हें महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में पितामह भीष्म द्वारा वर्णित भगवान् श्रीकृष्ण के गुणों को ध्यान से पढ़ने के लिए कहूँगा। वाक् के वर्गीकरण पर विचार करने से यह स्पष्ट होता है कि निरुक्त ने वर्गीकरण के जिन मतों का वर्णन किया है, उस प्रकार का वर्गीकरण परा, पश्यन्ती आदि नहीं है। आपकी शंका के समाधानार्थ हम सभी वर्गीकरणों पर क्रमश: विचार करते हैं—

१. आर्षमत— ओंकार, भू:, भुव:, स्व:।

जैसा कि हम पूर्व में दर्शा चुके हैं कि यह मत भगवान् मनु महाराज ने भी दर्शाया है। इसको आर्षमत कहने के पीछे हमें दो प्रमुख हेतु दिखाई देते हैं।

(क) भगवान् मनु से लेकर सभी महर्षि भगवन्तों के मत में वाणी का यह वर्गीकरण मान्य रहा है। इस कारण इसे आर्षमत कहा गया है।

(ख) विभिन्न ऋषि प्राणों में चार छन्द 'ओम्', 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' विद्यमान होते हैं किंवा इन्हीं से सभी ऋषि अर्थात् प्राणों की उत्पत्ति होती है। इस कारण भी इसे आर्ष मत कहा जाता है, ऐसा हमारा मत है। ऋषि प्राण क्या होता है, यह हम 'वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान' नामक अध्याय में लिखेंगे।

वाणी का यह वर्गीकरण ध्वनि उत्पत्ति के, विशेषतया उसके चरणों का वर्णन नहीं, बल्कि वाक् के प्रकारों का वर्णन करता है। हाँ, 'ओम्' मूल वाक् है, यह अवश्य है। इस वर्गीकरण से वाक् के ग्राह्यत्व के चरण वा सामर्थ्य का कोई स्पष्टीकरण नहीं होता। ये सभी छन्द हैं, जो सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न हुए थे और आज भी सर्वतोव्याप्त हैं। परा, पश्यन्ती आदि चारों रूपों में ये चारों छन्द 'ओम्', 'भूः' आदि होते हैं वा हो सकते हैं। इसे इस प्रकार समझ सकते हैं कि कोई गायक क्रमशः निश्चित चार भजन गाता है और वे भजन ऐसे हैं, जो उसके आगे गाए जाने वाले भजनों की मानो भूमिका का रूप होते हैं अथवा वह सर्वप्रथम चार छन्द 'दोहा', 'सोरठा', 'चौपाई', व 'कवित्त' गाता है, परन्तु उन्हें चार प्रकार के स्तरों वा ध्वनि तरंग की आवृत्तियों में गाता है। तब चार स्तर एवं चार छन्द दोनों प्रकार का वर्गीकरण पृथक्-२ स्तर से है। इसी प्रकार प्रत्येक छन्द वा वाक् तत्त्व परा, पश्यन्ती आदि चार रूपों में होता है।

२. वैयाकरण मत— नाम, आख्यात, उपसर्ग व निपात। ये चारों वाक् के ही रूप हैं, परन्तु चारों ही परा, पश्यन्ती आदि के स्तर पर होते हैं। इनका परस्पर कोई विरोध नहीं है।

इसी प्रकार पूर्वोक्त याज्ञिक, नैरुक्त आदि सभी मतों के विषय में जानें। परा, पश्यन्ती आदि वर्गीकरण वस्तुतः वक्ता व श्रोता के बोलने व सुनने की प्रक्रिया को चरणबद्ध विधि से व्याख्यात करता है और अन्य वर्गीकरण इस आधार पर हैं कि वक्ता व श्रोता क्या बोल वा सुन रहा है? यह विभिन्न वर्गीकरणों में परस्पर सम्बन्ध है।

अब क्योंकि हम पूर्व महर्षियों द्वारा वैदिक छन्दों के ग्रहण करने का वर्णन कर रहे हैं अर्थात् उस प्रक्रिया की वैज्ञानिकता को समझने का प्रयास कर रहे हैं, तब वाणी का अन्य कोई वर्णन यहाँ महत्त्व नहीं रखता, बल्कि परा, पश्यन्ती रूपों का वर्णन ही प्रासंगिक व

महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण हमने प्रसंगानुकूल इसी की चर्चा की है। जहाँ तक ऋषि दयानन्द के उस मत का प्रश्न है, जिसमें उन्होंने अग्न्यादि चार ऋषियों के आत्मा में वेद के प्रकाश की चर्चा की है, उसे हमारा मत पूर्णतः वर्णित होने के बाद ही समझा जा सकेगा। इस कारण हम अपने पूर्व प्रसंग पर पुनः आते हैं— जब चार ऋषियों के चित्त में वैदिक छन्द पश्यन्ती वाक् की अवस्था में संचित हो गये, तब उससे आगे की प्रक्रिया के विषय में हम ऋषि दयानन्द के वेदविषयक मत पर आगे विचार करते हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदोत्पत्तिविषय नामक अध्याय में 'वेद' शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं—

''वेदः = विदन्ति = जानन्ति, विद्यन्ते = भवन्ति, विन्दन्ति विन्दते = लभन्ते, विन्दते = विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्यविद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः''

अर्थात् जिनके पढ़ने से यथार्थ विद्या का विज्ञान होता है, जिनको पढ़के विद्वान् होते हैं, जिनमें सब सुखों का लाभ होता है और जिनसे ठीक-ठीक सत्यासत्य का विचार मनुष्यों को होता है, इससे ऋक् संहितादि का 'वेद' नाम है। इसमें विद् ज्ञाने, विद्लृ लाभे, विद् सत्तायाम् एवं विद् विचारणे चार धातुओं से 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति दर्शायी है। हम इन्हीं चार धातुओं से कुछ अन्य प्रकार का अर्थ भी ग्रहण करेंगे। 'विद् ज्ञाने' से जो ज्ञान रूप है तथा जिससे सब मनुष्यों को सत्यासत्य का पूर्ण ज्ञान होता है। 'विद् सत्तायाम्' से वह ज्ञान ऐसा होता है, जिसकी सदैव सत्ता रहती है अर्थात् इससे सभी सत्य विद्याओं का ही ज्ञान होता है, किसी अनित्य इतिहास आदि विषयों का ज्ञान इससे नहीं होता। 'विद्लृ लाभे' से अर्थात् उस वेद के ज्ञान से मानव मात्र को किंवा मानवमात्र के उसे उपयोग में लाने से प्राणिमात्र को सब यथार्थ सुखों का लाभ होता है। 'विद् विचारणे' से अर्थात् जो ज्ञान अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा इन चार ऋषियों को सविचार सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तर्गत होता है, वह ज्ञान विचार रूप अर्थात् पूर्णतः संशयरहित होता है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'वेदोत्पत्तिविषय' नामक अध्याय में ऋषि दयानन्द उद्धृत करते हुए लिखते हैं—

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऽऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दाꣳसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत॥ (यजु.३१.७)

एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो

यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥ (श.ब्रा.१४.५.४.१०)

अर्थात् तस्माद् यज्ञात् सच्चिदानन्दादिलक्षणात् पूर्णात् पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वोपास्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः ऋग्वेदः, यजुर्वेदः, सामवेदः, अथर्ववेदश्च चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्। महत आकाशादपि बृहतः परमेश्वरस्यैव सकाशाद् ऋग्वेदादिवेदचतुष्टयं निःश्वासवत् सहजतया निःसृतमस्तीति वेद्यम्। यथा शरीराच्छ्वासो निःसृत्य पुनः तदेव प्रविशति, तथैवेश्व-राद् वेदानां प्रादुर्भावतिरोभावौ भवत इति निश्चयः॥

अर्थात् उस सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण पुरुष परमात्मा से ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद उन चार ऋषियों के हृदय में प्रकाशित हुए हैं। अब वे कैसे प्रकाशित होते हैं, इसकी प्रक्रिया समझाने के लिए ऋषि दयानन्द शतपथ ब्राह्मण में कहे महर्षि याज्ञवल्क्य के वचन को उद्धृत करते हैं, जिसका भाव है कि परमेश्वर, जो आकाशादि से भी बहुत बड़ा है, से चारों वेद उन चार ऋषियों में ऐसे प्रकाशित हुए किंवा ब्रह्माण्ड में ऐसे उत्पन्न हुए जैसे कोई प्राणी सहजतया श्वास लेता व छोड़ता है। जिस प्रकार प्राणी को श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया में कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा द्वारा छन्द रूप वेद इस ब्रह्माण्ड में सर्गोत्पत्ति के समय प्रसारित किये जाते हैं।

यहाँ भगवान् याज्ञवल्क्य ने जो उपमा दी है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैसे चेतन प्राणी जड़ प्राण को श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया में ग्रहण करता व त्यागता है, उसी प्रकार चेतन परमात्मा जड़ प्रकृति से छन्दों की उत्पत्ति व प्रलय करता है। इससे हमारे मत में उन महर्षियों के

आत्मा वा चित्त में वेद के प्रकाशित होने का एक और विज्ञान भी उद्घाटित हो रहा है। वह इस प्रकार है— जब वे ऋषि सम्प्रज्ञात सविचार समाधि में होते हैं, तब परमात्मा के सानिध्य से ब्रह्माण्ड में उस समय व्याप्त विभिन्न वैदिक छन्द उन ऋषियों के अन्दर श्वास के समान प्रवेश कर जाते हैं और उन छन्दों में से जो-जो भी उन महर्षियों को ऐसे प्रतीत होते हैं, जिनके अर्थ का प्रकाश मानव वा प्राणी जाति के लिए आवश्यक होता है, उसे ग्रहण कर लेते हैं तथा शेष को प्रश्वासवत् ब्रह्माण्ड में नि:सारित कर देते हैं। जिस प्रकार प्राणी वायुमण्डल से वायु को ग्रहण करके उसमें से ऑक्सीजन को फेफड़ों के द्वारा ग्रहण कर लेते हैं तथा शेष वायु को बाहर निकाल देते हैं, उसी प्रकार वैदिक छन्दों का ग्रहण व विसर्जन होता है।

वेद संहिता से इतर छन्द

प्रश्न— क्या कुछ वैदिक छन्द परमात्मा ने अनावश्यक भी बनाए हैं, जिन्हें वे ऋषि ग्रहण नहीं करते हैं? यदि हाँ, तो परमात्मा ने निरर्थक मन्त्रों (छन्दों) की रचना क्यों की?

उत्तर— आपका प्रश्न उत्तम व स्वाभाविक है। हम आगामी 'वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान' नामक अध्याय में बतायेंगे कि वैदिक छन्द प्राण तत्त्व के रूप में असंख्य मात्रा में उत्पन्न होते हैं। परमात्मा का सामर्थ्य व ज्ञान अनन्त है। चार वेद संहिताओं का ज्ञान अनन्त नहीं है। इनमें उतना ही ज्ञान है, जो मानव जाति के लिए अनिवार्य है। मानव के ज्ञान ग्रहण सामर्थ्य की सीमा तक सभी विज्ञान वेदों में सांकेतिक वा मूल रूप में विद्यमान है। इससे हमें यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि परमब्रह्म परमात्मा में इससे अधिक ज्ञान नहीं हो सकता।

इसी प्रकार यह भी सिद्ध हुआ कि चारों संहिताओं में जितने छन्द वा मन्त्र हैं, इस ब्रह्माण्ड में प्राण-तत्त्व के रूप में केवल उतने ही विद्यमान नहीं हैं, बल्कि उनसे भी अधिक हैं। ये अधिक छन्द हमारी आवश्यकताओं से अधिक होने से तथा उन मानव ऋषियों की सामर्थ्य-सीमा के कारण भी उन्हें ऋषि प्रश्वासवत् बाहर निकाल देते हैं। जिस प्रकार प्राणी के प्रश्वास के द्वारा निकला वायु (कार्बन डाइऑक्साइड आदि) उस प्राणी के लिए अनावश्यक होते हुए भी सृष्टि में वनस्पति आदि के लिए आवश्यक होता है, उसी प्रकार मानव ऋषियों द्वारा अगृहीत छन्द सर्ग प्रक्रिया में आवश्यक होते हैं, जिनका ज्ञान रूप परमेश्वर में सदैव विद्यमान रहता है अर्थात् वे छन्द भी निरर्थक नहीं होते हैं।

प्रश्न— आप चार वेद संहिताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य मन्त्रों, जो ब्राह्मण ग्रन्थों, श्रौत सूत्रों वा वेद की शाखाओं में विद्यमान हैं, को भी वेद अर्थात् अपौरुषेय मानते हैं, तब क्या इससे भी यही परिणाम नहीं निकलता कि ईश्वर पहले चार ऋषियों को ज्ञान देना भूल गया और उसे कुछ ज्ञान बाद में देना पड़ा। तब तो कुरान व बाइबिल को भी हम कैसे नकार सकते हैं और उनसे कैसे कह सकते हैं कि खुदा ने ज्ञान पहले ही क्यों नहीं दिया था? इससे यह अर्थ क्यों नहीं निकलेगा कि ईश्वर का ज्ञान परिवर्तित होता रहता है और ईश्वर भुलक्कड़ है?

उत्तर— आपका यह शंका करना उचित नहीं है। ऐसी शंका करना यह भी दर्शाता है कि आपको वेद के स्वरूप और उसकी उत्पत्ति प्रक्रिया का बोध नहीं है। सृष्टि की आदि पीढ़ी में परमेश्वर ज्ञान कैसे देता है, इसको समझने के लिए इस सम्पूर्ण अध्याय को ध्यानपूर्वक पढ़ें। इसके साथ यह भी विचारें कि ईश्वर ने उन चार ऋषियों को पद्यात्मक भाषा अर्थात् छन्द रूप में ज्ञान क्यों दिया?[४] क्या यह पद्यात्मक भाषा कभी बोलचाल की भाषा रही? मुझे नहीं लगता कि ऐसा हुआ होगा। तब ईश्वर ने उस भाषा (पद्यात्मक) में ज्ञान क्यों दिया, जो कभी बोलचाल की भाषा नहीं रही। ऐसा लगता है कि इस बिन्दु पर आज तक किसी ने विचार नहीं किया। वेद की उत्पत्ति प्रक्रिया का रहस्य इस प्रश्न से ही उद्घाटित हो सकता है। आइए! हम इस पर विचार करते हैं—

साम्यावस्था वाले प्रकृति पदार्थ से सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया प्रारम्भ होने के लिए सर्वप्रथम सूक्ष्मतम हलचल प्रारम्भ होने लगती है। यह हलचल अर्थात् कम्पन ही ध्वनिरूप है। प्रथम हलचल सम्पूर्ण प्रकृति पदार्थ में एक साथ और समान तीव्रता से उत्पन्न होती है। धीरे-२ वह हलचल अग्रिम चरण की लयबद्ध हलचलों (कम्पनों) को उत्पन्न करने लगती है। ये कम्पन लयबद्ध होने से पद्यात्मक ध्वनियों के रूप होते हैं और यह ध्वनि परा रूप में होती है। ये ध्वनियाँ ही वेदमन्त्र हैं और सबसे प्रथम हलचल परा 'ओम्' ध्वनिरूप ही होती है। यही सृष्टि उत्पत्ति के वैदिक रश्मि सिद्धान्त का आधार है। अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा इन चार ऋषियों ने सविचार सम्प्रज्ञात समाधि में इन परा ध्वनि तरंगों (वेदमन्त्रों) को अन्तरिक्ष

---

[4] वेद भी कुछ ऐसा ही संकेत करता है— देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति (अथर्व.१०.८.३२) अर्थात् ईश्वर के काव्य (छन्दोमय जगत्) को देखो, जो न नष्ट होता है और न पुराना होता है।

से ग्रहण किया। ये वैदिक ध्वनि तरंगें आकाश में सर्वत्र भरी हुई थीं। इन चारों ने अपनी-२ क्षमता के अनुसार इन छन्द रश्मियों को ग्रहण किया। ग्रहण करने के पश्चात् उन मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान समाधि अवस्था में ही परमेश्वर ने कराया, जो गद्यात्मक भाषा के रूप में था।

पद्यात्मक रूप में ध्वनि सृष्टि का एक अनिवार्य भाग है। उनसे ही संघनित होकर के सभी पदार्थों का निर्माण होता है। इसके निर्माण में ईश्वर की प्रमुख निमित्त भूमिका होती है। वे चार ऋषि अपने पुरुषार्थ और योग्यता से उन ध्वनि तरंगों को स्वतः ही सहज भाव से ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु उसमें ईश्वर की परोक्ष भूमिका अवश्य होती है, लेकिन इन मन्त्रों के अर्थ जानने में ईश्वर की प्रत्यक्ष भूमिका होती है। ऋषियों के हृदय में ज्ञान की उत्पत्ति वेद उत्पत्ति प्रक्रिया का द्वितीय चरण है। इसका प्रथम चरण साम्यावस्था भंग होने से ही प्रारम्भ हो जाता है। ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में वेदोत्पत्ति के द्वितीय चरण की ही चर्चा की है, परन्तु वेदनित्यत्व विषय में वैदिक पदों को नित्य कहते हुए वैदिक पदों को आकाश में एकरस भरा भी माना है। इस बिन्दु पर पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर के अतिरिक्त किसी का भी ध्यान नहीं गया। इसलिए आज विद्वानों को यह बात समझ पाने में बहुत कठिनाई होती है कि वे वेदमन्त्र रश्मि (कम्पन) रूप में सृष्टि में विद्यमान हैं और उनसे सृष्टि बनी भी है।

प्रारम्भिक चार ऋषियों ने जिन मन्त्रों को ग्रहण किया, उनमें मानव जाति के लिए उपयोगी सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है। इसी ज्ञान के विस्तार से मनुष्य अपनी सम्पूर्ण लौकिक एवं पारलौकिक उन्नति कर सकता है, कितने ही प्रकार का साहित्य रच सकता है। इस प्रकार यह ज्ञान मनुष्य की दृष्टि से पूर्ण है, उसे पुनः ईश्वर द्वारा कोई ज्ञान देने की कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि इस सृष्टि में चार वेद संहिताओं के अतिरिक्त अन्य कोई मन्त्र (कम्पन) विद्यमान नहीं हैं। ईश्वर अनन्त ज्ञान वाला है। सृष्टि को बनाने, चलाने व प्रलय करने में जितना ज्ञान उपयोग में आता है, वह ईश्वर में विद्यमान ज्ञान का एक अंश मात्र है। इधर सृष्टि में ईश्वर का जो ज्ञान प्रयुक्त हुआ है, वह भी मनुष्य के लिए अनन्त है। इसलिए इस सृष्टि में ऐसे अनेक मन्त्र विद्यमान हैं, जो चारों वेद संहिताओं में नहीं हैं, जिन्हें चार ऋषि ग्रहण नहीं कर पाये।

कालान्तर में सृष्टि पर चिन्तन करने वाले वेद के व्याख्याता ब्राह्मण ग्रन्थकारों, वेद की शाखाओं के प्रवर्तक ऋषियों, श्रौत सूत्रकार आदि उच्च कोटि के महर्षि महानुभावों को समाधि

अवस्था में अन्तरिक्ष में कुछ ऐसी ध्वनि तरंगें भी परा वा पश्यन्ती रूप में सुनाई दीं, जो चार वेद संहिताओं में नहीं थीं। उन मन्त्रों को उन्होंने अपने ग्रन्थों में स्थान दिया और उनका अर्थ भी परमात्मा ने ही जनाया। यदि वे उन ऋचाओं का ग्रहण नहीं करते, तब भी मानव जाति के लौकिक और पारलौकिक उत्थान के मार्ग में कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि इसके लिए चार वेद संहिताओं में पूर्ण एवं पर्याप्त ज्ञान उनके पास था ही। मनुष्य के ज्ञान और उसको उपयोग करने के सामर्थ्य की एक सीमा होती है, उस सीमा के अन्तर्गत ही अपनी-२ क्षमतानुसार ऋषियों ने मन्त्रों का ग्रहण किया। हाँ, इतना अवश्य है कि इस सृष्टि में अन्तरिक्ष से मन्त्रों का ग्रहण करने वाले ऋषियों की संख्या बहुत कम है। मन्त्रों के अर्थ का दर्शन करने वाले तो हजारों ऋषि हुए होंगे।[5]

यहाँ ईश्वर के ज्ञान देने की प्रक्रिया में कोई भूल वा अपूर्णता का अवकाश ही कहाँ है? परमात्मा ने तो सम्पूर्ण सृष्टि वेदमन्त्रों से भर ही दी है, अब जिसका जितना सामर्थ्य होवे, उतना ग्रहण कर लेवे और ऐसा ही अग्नि आदि ऋषियों ने किया। प्रारम्भिक पीढ़ी के सभी मनुष्य पूर्व सृष्टि में किये गये कर्मों के अनुसार अथवा मुक्ति की अवधि पूर्ण होने पर पुनः जन्म लेने के कारण ऋषि कोटि के ही होते हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि उनमें से भी हमारी पृथ्वी पर चार ऋषि ही इस स्तर के थे, जो अन्तरिक्ष से मन्त्रों को ग्रहण कर सके। उन चारों ने मिलकर ब्रह्मा जी को वह ज्ञान दिया।

अन्तरिक्ष से मन्त्र ग्रहण करने वाले जो ऋषि कालान्तर में हुए, वे वस्तुतः अन्तरिक्ष से मन्त्रों को ग्रहण करने की अग्नि आदि ऋषियों की भाँति साधना नहीं कर रहे थे, बल्कि सृष्टि को समझने की प्रक्रिया में उन्हें कुछ मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ होगा, जिनको उन्होंने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया। इस कारण उनके द्वारा मन्त्रों का ग्रहण करना इस बात का द्योतक नहीं कि ईश्वर ने अपने ज्ञान को संशोधित या परिवर्धित किया, बल्कि यह तो यही संकेत देता है कि उन ऋषियों ने इसके लिए अत्यन्त पुरुषार्थ किया, न कि अग्नि आदि ऋषियों की

---

[5] भिन्न-२ लोकों में सृष्टि के आदि में ज्ञान ग्रहण करने वाले ऋषियों के स्तर को देखकर मन्त्र और उनकी संख्या में कुछ भिन्नता हो भी सकती है। इसी प्रकार भिन्न-२ लोकों में रहने वाले मननशील प्राणियों के लिए ज्ञान की आवश्यकता व पूर्णता भी भिन्न-२ हो सकती है, किन्तु सम्पूर्ण सृष्टि में वेदमन्त्र तो सबके लिए एक ही हैं, भिन्नता ग्रहणीय व गृहीत मन्त्रों की संख्या की है। —सम्पादक

भाँति उन्हें सहजतापूर्वक श्वास-प्रश्वास की भाँति मन्त्र प्राप्त हो गये। ब्राह्मण ग्रन्थों एवं शाखाओं की बाइबिल और कुरान से तुलना करना नितान्त अज्ञानता है, जिन्होंने इन ग्रन्थों को नहीं पढ़ा है, वे ही ऐसे प्रश्न खड़े कर सकते हैं।

अब तक हमने विभिन्न वैदिक छन्दों को सृष्टि के आदि में चार मानव ऋषियों द्वारा ग्रहण करने की प्रक्रिया का वर्णन किया, अब आगे उन छन्दों से 'वेद' शब्द की सार्थकता प्रमाणित करने वाले ज्ञान व भाषा की उत्पत्ति की प्रक्रिया को स्पष्ट करेंगे। जैसा कि हम लिख चुके हैं कि वे छन्द परा वा पश्यन्ती वाक् के रूप में अर्थात् सूक्ष्म प्राण के रूप में परमेश्वर की चेतना की विद्यमानता में ऋषियों की आत्मिक चेतना ने चित्ततत्त्व में संगृहीत किये।

हम इसे निम्न प्रकार समझने का प्रयास करते हैं। जब हम किसी शब्द को सुनते हैं अथवा उसकी रेडियो तरंगों को किसी उपकरण द्वारा ग्रहण करते हैं, तब उस शब्द के तीन प्रकार के प्रभाव होते हैं—

१. रेडियो तरंगों का जड़ व चेतन जगत् पर भौतिक प्रभाव। इससे प्राणियों को शारीरिक व मानसिक क्षति भी होती वा हो सकती है। आज मोबाइल आदि संचार साधनों से उत्पन्न रेडियो तरंगों से अनेक रोगों से आक्रान्त होकर कई पक्षी व कीट-पतंगों की प्रजातियाँ लुप्त हो रही हैं। मनुष्यों में भी मानसिक अवसाद, ब्रेन ट्यूमर, चर्म विकार आदि अनेक रोगों की उत्पत्ति हो रही है, तब जड़ जगत् पर भी जड़ तरंगें प्रभाव डालेंगी ही। वर्तमान में हो रहे जलवायु परिवर्तनों एवं तज्जन्य प्राकृतिक प्रकोपों में इन तरंगों की अनिवार्य भूमिका है, इसका किसी को ध्यान नहीं है।

२. उन रेडियो तरंगों को जब ध्वनि तरंगों में परिवर्तित कर दिया जाता है अथवा जो सीधे ध्वनि तरंग के रूप में ही शब्द सुने जाते हैं, उनसे सम्पूर्ण शरीर पर ध्वनि की तीव्रता, आवृत्ति आदि के भेद से पृथक्-२ प्रभाव पड़ता है। कर्कश तीक्ष्ण ध्वनि अनेक रोग उत्पन्न करती है, उत्तेजक संगीत भी मन-मस्तिष्क व शरीर पर विपरीत प्रभाव डालता है, वहीं मधुर व शान्त भक्ति संगीत शरीर की रोगप्रतिरोधक क्षमता को बढ़ाता है।

३. ध्वनि तरंगें, जो छन्द व व्यक्त वाक् के रूप में ही होती हैं, मस्तिष्क उन्हें समझ कर उनका अर्थ जानता है। तब उस ध्वनि वा रेडियो तरंगों का अन्तिम परिणाम ज्ञान के

लाभ के रूप में होता है। तदनन्तर उस ज्ञान को व्यवहार में लाकर सभी सुखों का लाभ होता है। यदि वह ध्वनि वा शब्द विपरीत ज्ञानोत्पत्ति का संवाहक वा उत्पादक होता है, तब उसे व्यवहार में लाकर दु:खों की प्राप्ति रूपी अन्तिम फल होता है।

इस प्रकार इन तीनों प्रभावों को दृष्टिगत रखकर वैदिक छन्दों के प्रभाव की चर्चा को आगे बढ़ाते हैं—

जब उन मानव ऋषियों ने वैदिक छन्दों को परा वा पश्यन्ती अवस्था में संगृहीत किया, तब उन छन्दों का अर्थ बताने वाली न तो कोई परम्परा ही थी और न कोई व्यक्ति विशेष गुरु के रूप में विद्यमान था। वह मानव सृष्टि की प्रथम पीढ़ी थी। तब उन शब्दों के अर्थ का बोध कौन कराये? इसके समाधान में ही ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में कहा है कि अर्थों का बोध परमात्मा, जिसने कि उन छन्दों को ब्रह्माण्ड में व्याप्त किया था और जिसकी सहायता से उन छन्दों को ऋषियों ने अपने चित्त में ग्रहण किया था, उसी परमब्रह्म परमात्मा ने ही उनके आत्मा में उन छन्दों के अर्थ का बोध भी कराया। ऋषि के कथन का यही भाव है।

इसी कारण वैदिक परम्परा ज्ञान व भाषा का मूल स्रोत परमब्रह्म परमात्मा को ही मानती है और यही एकमात्र वैज्ञानिक पद्धति है। इसी से जहाँ उन चार ऋषियों को वेद ज्ञान प्राप्त हुआ, वहीं उन्होंने भाषा को बोलना अर्थात् उन छन्दों की पश्यन्ती अवस्था को वैखरी रूप प्रदान करके मुख से बोलना प्रारम्भ किया, जिस प्रकार आज हम अपने विचारों के रूप में मस्तिष्कगत ज्ञान को परा-पश्यन्ती, मध्यमा स्तरों से गुजार कर वैखरी रूप में मुख से उच्चारित करते हैं।

इस विषय में आर्य विद्वान् पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' प्रथम भाग के प्रथम अध्याय में लिखते हैं—

''वेद-वाक् दैवी वाक् है। यह वाक् मानव की उत्पत्ति से बहुत पूर्व अन्तरिक्षस्थ तथा द्युलोकस्थ देवों और ऋषियों अर्थात् ईश्वर की भौतिक विभूतियों द्वारा प्रकट हो चुकी थी। ओम्, अथ, व्याहृतियाँ और मन्त्र हिरण्यगर्भ आदि से तन्मात्रारूप वागिन्द्रिय द्वारा उच्चारे जा चुके थे। वह वाक् क्षीण नहीं हुई, परम व्योम आकाश में स्थिर रही। मानव सृष्टि के आरम्भ में जब ऋषियों ने आदि शरीर धारण किए, तो वह दैवी वाक् ईश्वर-प्रेरणा से उनमें प्रविष्ट

हुई, उसे उन्होंने सुना। इस कारण वेदवाक् का एक नाम श्रुति है। उसी काल में वैदिक शब्दों के आधार पर ऋषियों ने व्यवहार की भाषा को जन्म दिया। वह भाषा आदि में मानव मात्र की भाषा थी और अत्यन्त विस्तृत और समृद्ध थी। तब भूमि पर ब्राह्मण ही था अर्थात् सभी वैदिक विद्वान् थे। भाषा की उत्पत्ति और भाषा के उत्तरोत्तर इतिहास का यह एकमात्र वैज्ञानिक पक्ष औपमन्यव, औदुम्बरायण, यास्क, द्वैपायन व्यास, व्याडि, उपवर्ष, पाणिनि, पतञ्जलि और भर्तृहरि को सर्वथा ज्ञात था। भर्तृहरि के पश्चात् गत दो सहस्र वर्षों में यह लुप्तप्राय: रहा... मिश्र और यूनान आदि के अतिप्राचीन लोग देवों और उनकी विभूतियों को थोड़ा सा समझते थे।

(क) मिश्र के प्राचीन विश्वास के विषय में मर्सर लिखता है—

Egyptians had their 'sacred writing'— 'writings of the words of the gods' often kept in a "house of sacred writings".

(Pg. 12, The religion of Ancient Egypt, Mercer)

अर्थात् मिश्र के लोग अपने पवित्र लेख रखते थे। 'देवों के शब्दों का लेख' जिसे वे प्राय: 'पवित्र लेखों का घर' में रखते थे।

(ख) यूनान का प्रसिद्ध प्राचीन लेखक होमर (ईसा से ८०० वर्ष पूर्व) देवों की भाषा और मानवी भाषा का वर्णन अपने लेख में करता है—

"अरस्तू देवों आदि के विषय को पूरा नहीं समझ पाया, तत्पश्चात् देवविद्या योरोप से सर्वथा विलुप्त हो गयी।"

—The language of gods and of men, Pg. 299-303, Asianic elements in Greek Civilization, Ramsay

इसी सन्दर्भ में ऋषि दयानन्द सरस्वती सत्यार्थ प्रकाश के एकादश समुल्लास में लिखते हैं—

"जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब आर्यावर्त (भारत) देश से मिश्रवालों, उनसे यूनानी, उनसे रोम और उनसे यूरोप देश में, उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है।"

इसी कारण फ्रेंच विद्वान् जैकालयट ने कहा है—

"सब विद्या और भलाइयों का भण्डार आर्यावर्त्त देश है और सब विद्या तथा मत इसी देश से फैले हैं।" (बाइबिल इन इण्डिया)

—सत्यार्थ प्रकाश से उद्धृत।

वेद ज्ञान संस्कृत भाषा में ही क्यों?

प्रश्न— परमात्मा ने सृष्टि की प्रथम पीढ़ी के अनेक मनुष्यों में केवल चार ऋषियों को ही ज्ञान क्यों दिया? क्या ईश्वर पक्षपाती है? फिर यह भी प्रश्न है कि परमात्मा ने अपना ज्ञान वैदिक भाषा अर्थात् संस्कृत भाषा में ही क्यों दिया? क्या इससे अन्य भाषा वालों के साथ भेदभाव वा दोष परमेश्वर पर नहीं आता है?

उत्तर— यह सत्य है कि सृष्टि की प्रथम पीढ़ी में स्त्री-पुरुषों के अनेक जोड़े उत्पन्न होते हैं। वे भी पूर्ण युवावस्था में पृथिवी रूपी गर्भ से उत्पन्न होते हैं। जो महानुभाव पूर्ण युवावस्था व भूमि से उत्पत्ति पर शंका करें, उन्हें ऋषि दयानन्द कृत 'सत्यार्थ-प्रकाश' तथा मद्रचित 'सत्यार्थ प्रकाश उभरते प्रश्न-गरजते उत्तर' नामक ग्रन्थों को पढ़ने का प्रयास करना चाहिए। विस्तारभय से हम इस विषय को यहाँ छोड़ रहे हैं। वैसे प्रत्येक वैज्ञानिक सोच वाला पाठक यह मानेगा कि प्रथम पीढ़ी की उत्पत्ति केवल इसी प्रकार सम्भव है।

उस प्रथम पीढ़ी में वे चार ऋषि ही सर्वोच्च योग्यता व सामर्थ्य वाले थे। उन्होंने अपने महान् तप से आकाश से वेद की ऋचाओं का ग्रहण किया, इस कारण उन्हें ही ज्ञान दिया, जिससे कि वे सभी को ज्ञान प्रदान कर सकें। रही शंका संस्कृत-भाषा में ज्ञान देने की, तो तद्विषय में ज्ञातव्य है कि उस समय सम्पूर्ण मानव जाति में भाषा की उत्पत्ति हुई ही नहीं थी। जो उत्पत्ति हुई, वह केवल वैदिक भाषा संस्कृत ही थी, वह भी वैदिक छन्दों के रूप में। बाद में उन ऋषियों ने इस भाषा को बोलचाल की भाषा में प्रयुक्त किया। कालान्तर में संस्कृत भाषा से अपभ्रष्ट होकर धीरे-२ विश्व में अनेक भाषाओं की उत्पत्ति हुई। अब तक सम्पूर्ण भूमण्डल पर संस्कृत भाषा ने ही सर्वाधिक शासन किया है। आज विश्व भर में यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि संस्कृत भाषा ही सभी मानव भाषाओं की जननी है। इस कारण संस्कृत भाषा में ही ज्ञान देना अनिवार्यता भी थी और निष्पक्षता भी।

प्रश्न— यदि छन्द अन्य किसी भाषा हिन्दी, अंग्रेजी, चीनी, अरबी आदि में से किसी एक

भाषा में होते और उस भाषा से अन्य भाषाओं की उत्पत्ति हो जाती, तो क्या कठिनाई थी? ईश्वर को संस्कृत भाषा से ही प्रेम क्यों था? क्या यह संस्कृत भाषाविदों की निजी कल्पना व पूर्वाग्रह नहीं है?

उत्तर— हाँ, जहाँ तक किसी एक भाषा की प्रथम उत्पत्ति का प्रश्न है, वहाँ तक तो आपका प्रश्न उचित व स्वाभाविक है। हम 'वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान' नामक अध्याय में स्पष्ट करेंगे कि वैदिक संस्कृत भाषा के शब्दों का उनके अर्थों के साथ सम्बन्ध नित्य है। जिस शब्द का जो अर्थ होता है, वह अर्थ किसी मानव ने स्वकल्पना से नहीं मान लिया है, बल्कि वह अर्थ उस शब्द से नित्य सम्बन्ध रखता है। वह वस्तु विशेष जब सर्गप्रक्रिया में निर्मित हो रही थी, तभी उस शब्द विशेष की उत्पत्ति भी हो रही थी। इस प्रकार वैदिक संस्कृत भाषा में वाचक व वाच्य का सम्बन्ध नित्य, प्राकृतिक और ईश्वरीय है, मानवीय कदापि नहीं। यह विशेषता किसी भी अन्य भाषा में नहीं है। इस प्रकार वैदिक शब्द ही नित्य हैं, अन्य किसी भाषा के शब्द नहीं। वैदिक शब्द ही प्राण रूप होकर सृष्टि के सभी पदार्थों के उपादान कारण भी हैं, जबकि यह विशेषता नाममात्र को भी किसी मानवीय भाषा में नहीं है।

इस कारण वैदिक संस्कृत भाषा किसी वर्ग, देश वा सम्प्रदाय, यहाँ तक कि केवल पृथिवीस्थ मानव जाति की भाषा नहीं है, अपितु यह ब्रह्माण्डीय भाषा है। वैदिक छन्द सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्राणतत्त्व (स्पन्दन या कम्पन या वाइब्रेशन) के रूप में व्याप्त हैं। विभिन्न सूक्ष्म कणों की उत्पत्ति भी इन्हीं से हुई है। इस प्रकार वैदिक संस्कृत भाषा पूर्ण वैज्ञानिक, शाश्वत व सार्वदेशिक होने से अत्यन्त व्यवस्थित है। इसका व्याकरण अन्य किसी भी भाषा के व्याकरण की अपेक्षा व्यवस्थित है। आधुनिक काल में उपलब्ध एकमात्र प्रामाणिक व्याकरण का आधार ग्रन्थ पाणिनीय अष्टाध्यायी आज भी विश्व भर के भाषाविज्ञानियों के लिए आश्चर्यजनक आदर्श है। इस अष्टाध्यायी के महत्त्व को वर्णित करने वाले कुछ कथन हम 'अष्टाध्यायी भाष्य प्रथमावृत्ति' —पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु (संस्करण २०४२ वि.सं. सन् १९८५) के प्राक्कथन से संक्षेप में उद्धृत करते हैं—

१. तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण (महाभाष्य १.१.१ चौखम्बा संस्करण) अर्थात् उनका अर्थात् भगवत् पाणिनि का एक वर्ण भी अनर्थक नहीं, फिर

इतने बड़े सूत्र की तो बात ही क्या? महर्षि पतञ्जलि पुनः कहते हैं—

सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्

अर्थात् शास्त्र के सामर्थ्य से मैं इस शास्त्र में कुछ भी अर्थात् कोई भी वर्ण या पद ऐसा नहीं देखता, जो कि अनर्थक हो।

२. चीनी यात्री ह्वेनसाङ्ग— शब्द एवं अक्षर विषयक कोई भी ज्ञान इससे शेष नहीं बचा।

३. मोनियर विलियम्स— अष्टाध्यायी ग्रन्थ मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम भाग है, जो मानव मस्तिष्क के सामने आया।

४. हण्टर— मानव मस्तिष्क का अतीव महत्त्वपूर्ण आविष्कार यह अष्टाध्यायी है।

५. लेनिनग्राड के प्रो.टी.वात्सकी— मानव मस्तिष्क की यह अष्टाध्यायी सर्वश्रेष्ठ रचना है।

इस प्रकार संस्कृत भाषा के व्याकरण का यह ग्रन्थ विश्व में आज भी सबके सम्मान का पात्र है। इस ग्रन्थ से भी पूर्व अनेक वैयाकरण हुए हैं। कई वैयाकरणों का नाम भगवत् पाणिनि ने स्वयं अपनी अष्टाध्यायी में उल्लिखित किया है। जिस किसी भाषा का व्याकरण संसार में सर्वाधिक व्यवस्थित व चमत्कार का कारण हो, वही भाषा तो परमात्मा के द्वारा प्रथम उत्पन्न प्राकृतिक ब्रह्माण्डीय भाषा हो सकती है। इस कारण संसार के सुविज्ञ जनों को चाहिए कि वे संस्कृत व वेद की ओर अवश्य बढ़ने का भारी प्रयास करें। इन पर मानव मात्र का साझा अधिकार है। संसार को आर्य्यावर्त्तियों (भारतवासियों) का इसके लिए धन्यवाद करना चाहिए कि उन्होंने कम से कम इनको कुछ तो सुरक्षित रखा ही। इसके साथ ही संसार को वेदपाठी ब्राह्मणों का भी ऋणी होना चाहिए, जिन्होंने इस महती सम्पदा को अपने कण्ठों में सुरक्षित रखकर विनाश से बचा लिया।

इस प्रकार हम यह सिद्ध कर चुके कि अग्नि, वायु आदि चार ऋषियों में सर्वस्रष्टा परमात्मा ने वैदिक छन्दों के माध्यम से ज्ञान व भाषा की उत्पत्ति की। इसी बात को भगवान् मनु महाराज ने कहा—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥ (मनु.१.२३)

इसका अर्थ करते हुए ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका एवं सत्यार्थ प्रकाश में लिखा- अग्नि, वायु, आदित्य एवं अंगिरा चार ऋषियों को ज्ञान दिया। यहाँ प्रायः प्रश्न उठाया जाता है कि वेद तीन हैं वा चार? हम इस पर चर्चा करके ग्रन्थ का कलेवर नहीं बढ़ाना चाहते। इस पर महर्षि दयानन्दकृत ग्रन्थों के साथ अनेक आर्य विद्वानों ने पर्याप्त एवं निश्चयात्मक लिखा है। पाठक वहाँ देख सकते हैं। हाँ, वैदिक विद्या अवश्य ऋक्, यजुः व साम इन तीन लक्षणों वाली है। इसका वैज्ञानिक अर्थात् आधिदैविक रूप हमारे ग्रन्थों में पदे-२ मिलेगा। यहाँ एक शंका विद्वानों में अवश्य ही उपस्थित हो सकती है, जिसका समाधान कदाचित् आर्य विद्वानों ने भी कहीं नहीं किया है, ऐसी हमें जानकारी है।

वह शंका यह है कि ऋषि दयानन्द ने यहाँ 'अग्नि', 'वायु' व 'रवि' इन तीन नामों से अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा इन चार का ग्रहण क्योंकर कर लिया? इसी प्रकार सत्यार्थ प्रकाश ग्रन्थ में शतपथ के प्रमाण से अग्नि, वायु व सूर्य से अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा इन चार नामों का ग्रहण क्योंकर किया? क्या यह मनमानी व पूर्वाग्रहग्रस्तता का प्रमाण नहीं है? वेद चार हैं व ऋषि भी चार हैं, इसके अनेक प्रमाण अन्यत्र अवश्य उपलब्ध हैं, परन्तु यहाँ दोनों स्थानों पर केवल तीन ही नाम हैं। वेद तो शैलीभेद से चार के स्थान पर तीन मान लिए जायें, परन्तु व्यक्तिवाचक नामों में तीन से चार का ग्रहण कैसे होगा? दूसरा प्रश्न यह भी उठता है कि क्या किसी व्यक्ति के नाम के स्थान पर उसके पर्यायवाची शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है? ऐसा तो कदापि सम्भव नहीं है। तब यह सूर्य अथवा रवि का प्रयोग आदित्य के स्थान पर कैसे हुआ है?

वास्तव में दोनों ही शंकाएँ गम्भीर व महत्त्वपूर्ण हैं। हमारे विचार में इनका समाधान निम्नानुसार है—

आर्ष ग्रन्थों में यद्यपि प्रायः सर्वत्र एवं स्वयं वेद संहिताओं में भी चार प्रकार के वेद का वर्णन होने से वेद का तीन होना तो सम्भव नहीं है। अनेकत्र चार वेदों के ज्ञान का चार ऋषियों के द्वारा ग्रहण करने का भी वर्णन है, परन्तु यहाँ मनुस्मृति तथा सत्यार्थप्रकाश में उद्धृत प्रमाण में तीन ही नाम हैं। यहाँ वेद विद्या का शैलीगत विभाग तीन प्रकार से किया है, तब उनको चार नामों के साथ कैसे संगत करें, यह भी समस्या है। इसी कारण 'रवि' व 'सूर्य' दोनों में प्रत्येक शब्द से आदित्य व अंगिरा का ग्रहण किया प्रतीत होता है। यहाँ दोनों ही स्थानों पर 'आदित्य' शब्द का प्रयोग नहीं है। यौगिक अर्थ की दृष्टि से आदित्य के

पर्यायवाची रवि व सूर्य दोनों हैं तथा अंगिरा प्राण को कहते हैं— 'प्राणो वा अंगिरा' (श.ब्रा.६.१.२.२८)। ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद ११.१५ में अंगिरा का अर्थ सूर्य किया है। सूर्य प्राणतत्त्व का सबसे बड़ा भण्डार है, इस कारण भी सूर्य से अंगिरा का ग्रहण किया। सूर्य में अनेक प्रकार की तीव्र विस्फोटजन्य ध्वनियाँ होते रहने से उसे रवि कहते हैं। इस प्रकार से 'रवि' व 'सूर्य' पदों से आदित्य व अंगिरा दोनों ऋषियों का ग्रहण त्रयी विद्या से सामंजस्य हेतु किया गया है। वस्तुतः अथर्ववेद में तीनों प्रकार की विद्या है। तब उसको केवल किसी एक विद्या से निर्दिष्ट करना सम्भव नहीं है, अतः विद्या की शैली की दृष्टि से वेद तीन ही दर्शाने पड़े।

अब यह प्रश्न है कि क्या व्यक्तियों के नामों में पर्यायवाची शब्द का प्रयोग साधु है? हमारी दृष्टि में अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा ये व्यक्ति विशेष नहीं हैं, बल्कि जिन ऋषियों को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद का ज्ञान प्राप्त होता है, उनके नाम अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा ही होते हैं। ऐसा हर सृष्टि के आदि में होता है। इस प्रकार ये नाम यौगिक न सही, परन्तु योगरूढ़ तो हैं ही, मानो ये नाम उनकी उपाधि हैं। इस परिस्थिति में त्रयी विद्या के सामंजस्य में तीन पदों से चार पदों का ग्रहण पर्यायवाची के रूप में भी ग्रहण करना अनुचित नहीं है। फिर आर्ष प्रयोग साधु ही समझने चाहिए, यह वैदिक परम्परा है। हम मानवीय इतिहास में भी ऐसे कुछ प्रयोगों को देख सकते हैं, जहाँ 'राम' शब्द से तीन महापुरुषों का ग्रहण होते देखा जाता है। वे तीन व्यक्ति हैं— मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, महर्षि परशुराम एवं वसुदेव पुत्र बलराम। इसी प्रकार यहाँ 'रवि' वा 'सूर्य' से भी आदित्य व अङ्गिरा दोनों महर्षियों का ग्रहण करना चाहिए। अस्तु।

वेदविद्या के विषय में भगवद् व्यास महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २३२ में शुकदेव को कहते हैं—

अनादिनिधना विद्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा॥ २४॥

ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु सृष्टयः।
नानारूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्त्तनम्॥ २५॥

वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः॥ २६॥

अर्थात् परमब्रह्म परमात्मा ने अनादि वेदवाणी को उत्पन्न किया। यहाँ 'उत्सृष्ट' शब्द वही

संकेत कर रहा है, जो महर्षि याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म से श्वास-प्रश्वासवत् वाणी की उत्पत्ति बतायी है। यहाँ 'विद्या-वाक्' का तात्पर्य है कि वह वाणी, जिसमें यथार्थ ज्ञान भी हो अर्थात् वेदवाणी॥ २४॥

विभिन्न ऋषियों के नाम अर्थात् ब्रह्माण्डस्थ ऋषि प्राणों के नाम, जिनसे मानव ऋषियों ने अपने नाम रखे। सृष्टि के जो-२ पदार्थ वैदिक छन्दरूप प्राणों में रचे गये, विभिन्न पदार्थों व प्राणियों के नाना रूप एवं उनके कर्मों को आदि सृष्टि में ईश्वर वैदिक शब्दों वा छन्दों से ही रचता है एवं उन्हीं के माध्यम से उनका वर्णन भी करता है॥ २५-२६॥

यहाँ न केवल भाषा व ज्ञान के स्रोत वेद की चर्चा है, अपितु उस वेद अर्थात् प्राण (छन्द) समूहरूप वेद का भी संकेत है, जिससे सम्पूर्ण पदार्थों की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः ये दोनों एक ही हैं। हम यह चर्चा 'वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान' नामक अध्याय में करेंगे। यदि ऐसा न होता तो, 'भूतानां नानारूपम्' ये पद नहीं होते। कर्मों का प्रवर्त्तन तो भाषा व ज्ञान से हुआ, परन्तु प्राणियों व पदार्थों का रूप तो जड़ उपादान से ही बन सकेगा। कदाचित् भगवान् व्यास के इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर महाविद्वान् भर्तृहरि अपने वाक्यपदीयम् ग्रन्थ के ब्रह्म काण्ड के प्रथम श्लोक में लिखते हैं—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

अर्थात् अनादि व अमर, अविनाशी शब्दतत्त्व रूप जो ब्रह्म है, वह अर्थ के भाव से विवर्त को प्राप्त होता है। इसका आशय है कि शब्द ब्रह्म अर्थात् मूल शब्द ओंकार सृष्टि रचना के प्रयोजन से विभिन्न वाणियों-छन्दों में परब्रह्म परमात्मा के द्वारा विस्तारित किया जाता है, पहले सर्वत्र ओंकार रूपी वाक् व्याप्त हो जाती है, तदनन्तर समस्त वैदिक छन्द व्याप्त हो जाते हैं। इससे जगन्निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। उधर उस वेद-वाक् से समस्त मानव जगत् के व्यवहारों की प्रक्रिया भी चल पड़ती है। हम आर्षग्रन्थों के अधिक प्रमाण इस कारण नहीं दे रहे, क्योंकि दुर्भाग्य से इन ग्रन्थों का आज संसार में तो क्या, भारत में भी सम्मान नहीं बचा है। हमने अपने ग्रन्थ, विशेषकर उन विद्वानों के लिए लिखे हैं, जो विज्ञान व तर्क के ही सहारे आगे बढ़ने की वकालत करते हैं और अपने वैज्ञानिक वा बौद्धिक दम्भ में भरकर वेद वा आर्ष ग्रन्थों का उपहास वा निन्दा करने में अपना गौरव समझते हैं, अस्तु।

इन चार ऋषियों ने सर्वप्रथम महर्षि ब्रह्मा को ज्ञान दिया। इससे यह स्पष्ट है कि महर्षि ब्रह्मा उसी आदि सृष्टि में भूमि से उत्पन्न हुए। महर्षि ब्रह्मा इन चार ऋषियों से ज्ञान प्राप्त करके विश्व में सर्वप्रथम चतुर्वेदवित् ऋषि हुए। फिर ज्ञान-विज्ञान की परम्परा महर्षि ब्रह्मा से अद्यपर्यन्त सतत चली आ रही है। क्योंकि महर्षि ब्रह्मा ही प्रथम चतुर्वेदवित् थे, इस कारण उन्हें ही भारतीय परम्पराओं में विद्या परम्परा का आद्य पुरुष मान लिया गया है। इस परम्परा में भगवान् मनु, भगवान् शिव, भगवान् विष्णु, देवराज इन्द्र, देवगुरु महर्षि बृहस्पति, सनत्कुमार, नारद, वसिष्ठ, अगस्त्य, भरद्वाज, वाल्मीकि, विश्वामित्र, व्यास, गोतम, पतञ्जलि, कणाद, यास्क, पाणिनि, जैमिनी आदि अनेकों ऋषि-मुनियों के द्वारा विस्तृत ज्ञान-विज्ञान से समृद्ध साहित्य का सृजन हुआ था।

इस प्रकार साहित्य शृंखला में अपौरुषेय चार वेद संहिताओं के पश्चात् अनेक शाखा ग्रन्थ, मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, ऐतरेय-शतपथ-गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ, निरुक्त, व्याकरण, शिक्षा, कल्प, छः दर्शनशास्त्र (न्याय, सांख्य, वैशेषिक, योग, वेदान्त, मीमांसा) उपनिषद्, अनेक नीतिग्रन्थ आदि की अति समृद्ध परम्परा चलती रही। विश्वभर में वेदों से ज्ञान व भाषा का विकास हुआ है। इसके इतिहास के लिए पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' तथा पण्डित रघुनन्दन शर्मा कृत 'वैदिक सम्पत्ति' ग्रन्थ विशेष पठनीय व मननीय है। हमारा इस अध्याय को लिखने का प्रयोजन मात्र यही था कि ज्ञान व भाषा की प्रथम उत्पत्ति कहाँ से व कैसे होती है।

यह तथ्य सर्वविदित है कि संसार का कोई भी देश अपनी विद्या व सभ्यता की परम्परा को मानव सृष्टिकाल से जोड़ने का साहस कभी नहीं करता। वर्तमान में विकासवाद के मिथ्या प्रचार, जो विज्ञान के नाम से प्रचलित है, के रहते सभी मानव स्वयं को पशुओं का वंशज मानकर मूर्ख पूर्वजों की सन्तान मानने को विवश हैं। यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि वर्तमान विज्ञान के अति आवेश में मानव स्वयं को पशुओं तथा जंगली मनुष्यों का वंशज कहलाने का हठ क्यों करता है? क्या ऐसा तो नहीं है कि पश्चिमी देशों के वैज्ञानिक अपने शोधकार्य को भी अपनी साम्प्रदायिक सोच के दुराग्रह से मुक्त रखकर निष्पक्ष दृष्टि से विचारने का साहस नहीं कर पाते। कहीं वे इससे भयभीत तो नहीं होते कि स्वयं को महान् मनीषियों की सन्तान सिद्ध करने से उनके सम्प्रदाय की मान्यताएँ ध्वस्त तथा वैदिक व भारतीय मान्यताएँ सत्य सिद्ध हो जाएँगी।

वस्तुतः वेद विद्या के यथावत् बोध के न होने से वैदिक परम्परा को केवल हिन्दुओं अथवा भारतीयों की परम्परा मानकर साम्प्रदायिक वा क्षेत्रीय दृष्टि से ही देखा जाता है। दुर्भाग्य से इस देश के कथित वेदानुरागी वैदिक विद्वानों के साथ-२ कथित प्रबुद्ध वर्ग एवं राजनीति ही इस सबके लिए अधिक उत्तरदायी है। इसका वर्णन करना इस ग्रन्थ का प्रयोजन नहीं है। विवेकशील निष्पक्ष मनुष्य ज्ञान व भाषा की परम्परा के प्रारम्भ सम्बन्धी वर्तमान जगत् में प्रचलित विविध मतों से हमारे वैदिक मत की तुलना करके स्वयं ही सत्य का अनुभव कर सकेंगे।

हमें अपने चारों ओर जो भी दिखाई देता है अथवा किसी भी इन्द्रिय से अनुभव होता है अथवा हो सकता है वा नहीं भी हो सकता है एवं जो कभी न कभी निर्मित हुआ होता है, उसे सृष्टि कहते हैं। इस सृष्टि पर हम विचार करें, तो हमारी बुद्धि हतप्रभ हो जाती है। आइए, हम इसकी सूक्ष्मता पर कुछ विचार करते हैं—

सभी लोक-लोकान्तर और उनमें विद्यमान प्राणियों के शरीर एवं वनस्पति और सूक्ष्म कण (मोलिक्यूल) से बने हैं। इस बात को विज्ञान पढ़ने वाला साधारण व्यक्ति भी जानता है और ये मोलिक्यूल्स दो या दो से अधिक एटम्स से मिलकर बनते हैं। अगर हम एक एटम के आकार पर विचार करें, तो एक एटम की त्रिज्या लगभग $१०^{-१०}$ मीटर होती है, तब इसका वक्र पृष्ठ लगभग $१०^{-२०}$ वर्ग मीटर होता है। इधर मान लें किसी आलपिन वा सूई की त्रिज्या लगभग ०.१ मि.मी. होती है, तब इसका वक्रपृष्ठ लगभग $१०^{-८}$ वर्गमीटर होता है। यदि मनुष्य का आकार एक एटम के बराबर मान लें, तो एक आलपिन की नोक पर $१०^{१२}$ मनुष्य आराम से बैठ सकते हैं अर्थात् अपनी पृथ्वी जैसी जनसंख्या वाले एक सौ पृथ्वियों पर बसने वाले मनुष्य एक आलपिन की नोक पर बैठ सकते हैं। इतना सूक्ष्म एटम स्वयं भी कोई ठोस कण नहीं होता, बल्कि उसका $१०^{-१५}$ भाग ही नाभिक के रूप में होता है, जिसके चारों ओर इलेक्ट्रॉन्स चक्कर लगाते रहते हैं। उधर वह नाभिक भी पूर्णतः ठोस नहीं होता, बल्कि उसमें भी सूक्ष्म कण, क्वार्क आदि भरे रहते हैं। उनके मध्य भी अवकाश होता है और क्वार्क आदि कण भी ठोस नहीं होते। इस प्रकार सूक्ष्म जगत् की कल्पना करना भी अति कठिन है।

यदि इस ब्रह्माण्ड की विशालता पर विचार करें, तो अपनी विशाल दिखने वाली पृथ्वी, जिसका घेरा ४० हजार वर्ग किलोमीटर है, उसका इस ब्रह्माण्ड में उतना ही स्थान माना जा सकता है, जितना कि पृथ्वी पर स्थित सभी महासागरों में जल की एक बूँद का होता है,

कदाचित् इससे भी छोटा स्थान हो। अपनी पृथ्वी सौरमण्डल का एक मध्यम वा छोटे आकार का ग्रह है। ऐसे अरबों सौरमण्डल अपनी एक गैलेक्सी में ही हैं और ऐसी अरबों गैलेक्सियाँ इस ब्रह्माण्ड में वैज्ञानिकों ने अब तक देखी हैं। हमारा सूर्य हमारी पृथ्वी से तेरह लाख गुणा बड़ा है और इस ब्रह्माण्ड में इस सूर्य से करोड़ों गुने बड़े भी सूर्य हैं। तब इसके विस्तार की कल्पना करना भी कठिन है। वैज्ञानिकों ने जो देखा है, ब्रह्माण्ड केवल उतना ही नहीं है। इस प्रकार यह ब्रह्माण्ड मनुष्य के लिए सदैव कुतूहलजनक रहा है।

इसलिए इस पृथिवी पर जब से मनुष्य ने जन्म लिया है, तभी से वह सृष्टि की उत्पत्ति एवं संचालन प्रक्रिया के विषय में जानने का प्रयास निरन्तर करता रहा है। इस समय भी पृथिवी पर जहाँ-2 भी मनुष्य बसते हैं, वे चाहे पढ़े-लिखे हों अथवा अनपढ़, सभी किसी न किसी स्तर पर इस ब्रह्माण्ड के विषय में विचारते ही हैं। यह विचार उनके विभिन्न बौद्धिक स्तरों की दृष्टि से भिन्न-2 होता है। सभी सम्प्रदाय अपने पृथक्-2 दर्शनों द्वारा इस सृष्टि पर नाना प्रकार की कल्पनाएँ लिए हुए हैं। उधर वर्तमान विज्ञान ने पिछले लगभग 200-300 वर्षों से इस सृष्टि पर पर्याप्त विचार किया है। अब हम वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान पर चर्चा प्रारम्भ करते हैं। इस विषय पर पाठकों को सर्वप्रथम हमारी एक लघु पुस्तक 'सृष्टि संचालक' अवश्य पढ़नी चाहिए। उस पुस्तक से यह स्पष्ट हो जायेगा कि सर्वज्ञ, सर्वव्यापक व सर्वशक्तिमती चेतन सत्ता के बिना सृष्टि की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ईश्वर अपने आप में पूर्ण व अकाम है, तब वह सृष्टि की रचना करता ही क्यों है? सृष्टि जड़ पदार्थों के मेल से बनी होने से स्वयं जड़ है, इस कारण उसका अस्तित्व स्वयं के लिए नहीं हो सकता। सृष्टि का कोई भी पदार्थ स्वयं के लिए नहीं है। सूर्य स्वयं अपने लिए नहीं है, पृथिवी, जल, वायु व अग्नि आदि भी अपने लिए नहीं हैं, बल्कि किसी चेतन सत्ता के लिए हैं। उस जगत्स्रष्टा व संचालक को न तो भोजन, जल एवं हवा की आवश्यकता है और न उसे प्रकाश, विद्युत् व रहने के लिए किसी लोक की ही आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में वह सृष्टि की रचना स्वयं के लिए तो करेगा नहीं। यदि कोई कहे कि वह लीलावश यह प्रपञ्च रचता है, तो वह भी उचित नहीं, क्योंकि लीला या तो नादान बच्चा करता है, जो बिना किसी उचित प्रयोजन मिट्टी के घर बनाता व मिटाता रहता है। उस समय उसमें प्रयोजनीयता वा निष्प्रयोजनीयता की कोई समझ नहीं होती। जब वह बड़ा हो जाता है, तब वह खेल करना बन्द कर देता है। दूसरी लीला कोई

मिथ्याचारी वा नाटककार करता है, जो क्रमश: किसी को धोखा देने वा दूसरों का मनोरंजन एवं अपनी उदरपूर्ति वा यथेष्ट धनार्जन हेतु करता है। इनमें से किसी भी कारण से ईश्वर का लीला करना उचित सिद्ध नहीं होता।

इस कारण ईश्वर द्वारा इस विशाल सृष्टि की रचना करने के पीछे कोई विशेष प्रयोजन अवश्य है। जो जितना महान् होता है, उसका प्रयोजन उतना ही महान् होता है। जब वह ईश्वर सबसे महान् होता है, तब निश्चित ही उसका प्रयोजन भी सबसे महान् होगा। ईश्वर परम दयालु है, तब उसकी दया का पात्र तो कोई चेतन पदार्थ ही होगा, जड़ पदार्थ के लिए दया का कोई अर्थ ही नहीं है। वह न्यायकारी है, तब उसके न्याय का पात्र भी तो कोई चेतन पदार्थ ही होगा, क्योंकि जड़ पदार्थ के लिए न्याय-अन्याय का कोई अर्थ ही नहीं है। वह ईश्वर परोपकारी है, तब वह जिसका उपकार करता है, वह पदार्थ चेतन ही होगा, जड़ नहीं। यह सृष्टि उसी के उपकार के लिए बनाई है। महर्षि कपिल ने इसी को दृष्टिगत रखकर कहा है—

'संहत्परार्थत्वात् पुरुषस्य' (सां.द.)

अर्थात् यह प्रकृति के संघात से बनी सृष्टि किसी के उपकार के लिए है अर्थात् उसके प्रयोग के लिए है, इससे किसी भोक्ता चेतन पुरुष पदार्थ का अनुमान होता है। क्योंकि उस चेतन पदार्थ के लिए ईश्वर ने रचना की है, इस कारण वह चेतन पदार्थ ईश्वर की भाँति सर्वज्ञ, सर्वव्यापक व सर्वशक्तिमान् तो नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह है कि वह चेतन तत्त्व एकदेशी, अल्पज्ञ व अल्पशक्ति वाला ही होगा। इसी का नाम जीवात्मा माना गया है, जो हम सब प्राणियों के शरीरों के माध्यम से इस सृष्टि का भोग करता है और इसका भोग करते-करते मोक्ष को भी प्राप्त कर सकता है, जो उसका चरम लक्ष्य है। वह चेतन पदार्थ अर्थात् जीवात्मा भी ईश्वर की भाँति अजन्मा, अविनाशी, निराकार व निर्विकार है। इस प्रकार तीन सत्ताएँ अनादि, अजन्मी व अविनाशी हैं— ईश्वर, जीव एवं प्रकृति। इनमें से ईश्वर इस सृष्टि का स्रष्टा व संचालक है।

वह ईश्वर जीवात्मा के भोग व मोक्ष के लिए ही इस सृष्टि का निर्माण करता है। ईश्वर बिना जड़ पदार्थ के सृष्टि की रचना नहीं कर सकता। कुछ लोग उसके सर्वशक्तिमान् विशेषण से ऐसा मानते हैं कि ईश्वर बिना जड़ पदार्थ के ही सृष्टि रचना कर सकता है, यह विचार

बौद्धिक अपरिपक्वता का परिचायक है। इस विषय में 'सृष्टि संचालक' पुस्तक भी पठनीय है। इसके साथ ही डॉ. भूपसिंह कृत 'वैदिक संस्कृति की वैज्ञानिकता' भी पठनीय है।

* * * * *
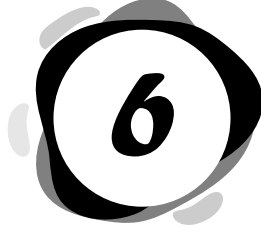
वैदिक सृष्टि उत्पत्ति विज्ञान

अब हम इस क्रम में सर्वप्रथम इस बात पर गम्भीरता से विचार करते हैं कि जिस मूल पदार्थ से ईश्वर सृष्टि की रचना करता है, वह मूल पदार्थ क्या है? उसका स्वरूप क्या है? ध्यातव्य है कि वैदिक विज्ञान शून्य से सृष्टि की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं करता और न ही सृष्टि को अनादि मानता है, बल्कि वैदिक विज्ञान की दृष्टि में यह सृष्टि एक जड़ पदार्थ, जिसे मुख्यत: प्रकृति नाम दिया जाता है, से उत्पन्न होती है। यहाँ 'प्रकृति' शब्द संकेत करता है कि यह पदार्थ किसी भी जड़ पदार्थ की सबसे सूक्ष्म, प्रारम्भिक एवं स्वाभाविक अवस्था है। इस समूचे ब्रह्माण्ड में विद्यमान असंख्य विशालतम तारों से लेकर सूक्ष्मतम कण वा रश्मि आदि पदार्थ सभी इसी प्रकृति रूपी स्वाभाविक अवस्था वाले पदार्थ से उत्पन्न हुए हैं, उसी में स्थित हैं और एक निश्चित समयान्तराल के पश्चात् उसी स्वाभाविक अवस्था वाले पदार्थ में लीन भी हो जायेंगे।

प्रकृति

अब हम इस बात पर विचार करते हैं कि प्रकृति किसे कहते हैं? इसका स्वरूप क्या है? इस विषय में महादेव शिव अपनी धर्मपत्नी भगवती उमा से कहते हैं—

नित्यमेकमणु व्यापि क्रियाहीनमहेतुकम्।
अग्राह्यमिन्द्रियैः सर्वैरेतदव्यक्तलक्षणम्॥

अव्यक्तं प्रकृतिर्मूलं प्रधानं योनिरव्ययम्।
अव्यक्तस्यैव नामानि शब्दैः पर्यायवाचकैः॥

(महाभारत अनुशासन पर्व-दानधर्मपर्व १४५वाँ अध्याय, पृष्ठ संख्या ६०१४)

उधर महर्षि ब्रह्मा कहते हैं—

तमो व्यक्तं शिवं धाम रजो योनि: सनातन:।
प्रकृतिर्विकार: प्रलय: प्रधानं प्रभवाप्ययौ॥ २३॥

अनुद्रिक्तमनूनं वाप्यकम्पमचलं ध्रुवम्।
सदसच्चैव तत् सर्वमव्यक्तं त्रिगुणं स्मृतम्।

ज्ञेयानि नामधेयानि नरैरध्यात्मचिन्तकै:॥ २४॥
(महाभारत आश्वमेधिक पर्व अनुगीता पर्व अध्याय-३९)

इन श्लोकों से प्रकृति रूप पदार्थ के निम्न गुणों का प्रकाश होता है—

१. नित्य— यह पदार्थ सदैव विद्यमान रहता है अर्थात् इसका कभी भी अभाव नहीं होता। यह अजन्मा एवं अविनाशी रूप होता है।

२. एक— महाप्रलय काल में अर्थात् ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से पूर्व यह पदार्थ सम्पूर्ण अवकाश रूप आकाश में सर्वथा एकरस भरा रहता है। इसमें कोई भी उतार-चढ़ाव (फ्लक्चुएशन्स) अर्थात् सघनता व विरलता का भेद प्रलयावस्था में नहीं होता।

३. अणु— यह जड़ पदार्थ की सबसे सूक्ष्म अवस्था में विद्यमान होता है। इससे सूक्ष्म जड़ पदार्थ की अवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

४. व्यापी— यह पदार्थ सम्पूर्ण अवकाश रूप आकाश में व्याप्त होता है। कहीं भी अवकाश नहीं रहता।

५. क्रियाहीन— महाप्रलयावस्था में यह पदार्थ पूर्ण निष्क्रिय होता है।

६. अहेतुक— इस पदार्थ का कोई भी कारण नहीं होता। इसका तात्पर्य यह है कि यह पदार्थ ईश्वरादि द्वारा निर्मित नहीं होता, बल्कि स्वयम्भू रूप होता है। सृष्टि का हेतु ईश्वर इसे प्रेरित व विकृत अवश्य करता है, परन्तु उसे बनाता नहीं है।

७. अग्राह्य— यह पदार्थ की वह स्थिति है, जिसे किसी इन्द्रियादि साधनों से कभी भी जाना वा ग्रहण नहीं किया जा सकता।

८. अव्यक्त— इसे किसी भी प्रकार से व्यक्त नहीं किया जा सकता। व्यक्त का लक्षण बताते हुए महर्षि व्यास ने लिखा—

प्रोक्तं तद्व्यक्तमित्येव जायते वर्धते च यत्।
जीर्यते म्रियते चैव चतुर्भिर्लक्षणैर्युतम्॥
(महा.शा.प.। मो.प.। अ.२३६। श्लोक ३०)

जो इसके विपरीत हो, वह अव्यक्त कहाता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रकृति रूपी पदार्थ न जन्म लेता है, न वृद्धि को प्राप्त करता है, न पुराना होता है और न नष्ट होता है।

९. मूल— इस सृष्टि में जो भी जड़ पदार्थ विद्यमान था, है वा होगा, उस सबकी उत्पत्ति का मूल उपादान कारण यही जड़ पदार्थ है। इस पदार्थ में सम्पूर्ण सृष्टि के निर्माण की सभी सम्भावनाएँ एवं मूल गुण छिपे रहते हैं।

१०. प्रधान— यह सूक्ष्मतम पदार्थ सम्पूर्ण जड़ पदार्थ का अच्छी प्रकार धारण व पोषण करने वाला है। यह बात पृथक् है कि ईश्वर तत्त्व इस पदार्थ को भी धारण करता है।

११. योनि— यह पदार्थ जहाँ सबकी उत्पत्ति का कारण है, वहीं यह पदार्थ सबका निवास व उत्पत्ति-स्थान भी है। सम्पूर्ण सृष्टि इसी पदार्थ से बनी एवं इसी में उत्पन्न भी होती है।

१२. अव्यय— यह पदार्थ कभी क्षीण वा न्यून नहीं होता अर्थात् यह पदार्थ सृष्टि एवं प्रलय सभी अवस्थाओं में सदैव संरक्षित रहता है।

१३. तम— यह पदार्थ ऐसे अन्धकार रूप में विद्यमान होता है, वैसा अन्धकार अन्य किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता।

१४. व्यक्त— यहाँ अव्यक्त प्रकृति का व्यक्त विशेषण हमारी दृष्टि में यह संकेत दे रहा है कि सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों गुणों में से सत्त्व व रजस् का तो कोई लक्षण महाप्रलय में विद्यमान नहीं होता, किन्तु तमस् गुण का एक लक्षण अन्धकार अवश्य व्यक्त रहता है। सर्वत्र अव्यक्त कही जाने वाली प्रकृति का यहाँ व्यक्त विशेषण इसी कारण बतलाया गया प्रतीत होता है। इसके साथ ही इसका आशय यह भी है कि वह अव्यक्त प्रकृति ही व्यक्त जगत् के रूप में प्रकट होती है। इसके साथ ही यह पदार्थ ईश्वर व जीवात्मा के सापेक्ष व्यक्त भी होता है।

१५. शिवधाम— 'शेतेऽसौ शिवः' (उ.को.१.१५३) से संकेत मिलता है कि यह सूक्ष्मतम पदार्थ सोया हुआ सा होता है। यह पदार्थ प्रत्येक जड़ पदार्थ का धाम है अर्थात् सभी पदार्थ

इसी में रहते हैं। इसके साथ ही जीव के कल्याण अर्थात् भोग व मोक्ष का शरीररूपी साधन इसी से निर्मित होता है।

१६. रजोयोनि— सृष्टि उत्पत्ति के प्रारम्भ से लेकर प्रलय के प्रारम्भ होने तक प्रत्येक रजोगुणी प्रवृत्ति इसी कारण रूप पदार्थ में ही उत्पन्न होती है। इससे बाहर कोई भी उत्पत्ति आदि क्रियाएँ कभी नहीं हो सकतीं।

१७. सनातन— यह पदार्थ सनातन है अर्थात् इसका कभी अभाव नहीं हो सकता। न यह कभी उत्पन्न हो सकता है और न कभी नष्ट हो सकता है।

१८. विकार— यह पदार्थ ही विकार को प्राप्त करके सृष्टि में नाना पदार्थों के रूप में प्रकट होता रहता है। इस पदार्थ के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ अर्थात् ईश्वर व जीवात्मा नामक दोनों चेतन पदार्थों में कभी विकृति नहीं आ सकती। इस कारण वे दोनों पदार्थ किसी भी पदार्थ के उपादान कारण नहीं हो सकते।

१९. प्रलय— इस सृष्टि में जो भी पदार्थ नष्ट होने योग्य है, वह नष्ट होकर अपने कारणरूप प्रकृति पदार्थ में ही लीन हो जाता है। महर्षि कपिल मुनि ने इसे ही नाश कहते हुए कहा है—

'नाशः कारणलयः' (सां.द.१.१२१)।

२०. प्रभव— इसका तात्पर्य है कि इस सृष्टि में जो भी पदार्थ उत्पन्न हुआ है, होता है वा आगे होगा, वह इसी पदार्थ से उत्पन्न होगा। जीवात्मा चेतन होते हुए भी इसके बिना भोग व मोक्ष दोनों में से किसी को भी प्राप्त नहीं कर सकता।

२१. अप्यय— इस पदार्थ में ही सृष्टि के सभी उत्पन्न पदार्थ विनाश के समय मिल जाते हैं। इसके साथ सृष्टि काल में भी इसमें ही समाहित रहकर परस्पर मिले हुए रहते हैं।

२२. अनुद्रिक्त— इस अवस्था में स्पष्टतादि किन्हीं लक्षणों की विद्यमानता नहीं होती।

२३. अनून— यह पदार्थ कभी भी अभाव को प्राप्त नहीं होता।

२४. अकम्प— इस अवस्था में कोई कम्पन विद्यमान नहीं होता और न हो सकता।

२५. अचल— इस अवस्था में कभी कोई गति नहीं होती।

२६. ध्रुव— यह पदार्थ पूर्ण स्थिर ही होता है।

२७. सत्+असत्— यह पदार्थ सदैव सत्तावान् होते हुए भी प्रलय काल में अर्थात् प्रकृति रूप में सदैव अविद्यमान के समान होता है।

२८. सर्व— यह पदार्थ सृष्टिनिर्माणार्थ पूर्ण ही होता है अर्थात् इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपादान पदार्थ की आवश्यकता नहीं होती।

२९. त्रिगुण— यह पदार्थ सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों की साम्यावस्था के रूप में होता है।

३०. प्रकृति— यह पदार्थ की स्वाभाविक अवस्था होती है, जिसे हम पूर्व में दर्शा चुके हैं।

इसके अतिरिक्त महा.शा.प., मोक्षधर्म पर्व के ३०७ वें अध्याय के द्वितीय श्लोक में महर्षि वसिष्ठ ने अव्यक्त प्रकृति को अविद्या भी कहा है। इससे संकेत मिलता है कि वह अविद्या रूप प्रकृति न जानने, न उपयोग में लेने और न विचारने के योग्य होती है। वह विद्यमान होते हुए भी अविद्यमानवत् होती है।

आज का विज्ञान सृष्टि उत्पत्ति के कई परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है। उन सबमें सबसे बड़ी समस्या है कि वर्तमान विज्ञान सृष्टि उत्पत्ति के मूल कारण एवं उसकी स्थिति के विषय में नितान्त अनभिज्ञ है। वह केवल प्रयोगों व परीक्षणों पर ही आश्रित है, सामान्य तार्किकता व ऊहाशक्ति का प्रयोग नहीं करना चाहता, तब मूल स्थिति के बारे में उसकी अनभिज्ञता कभी दूर नहीं होगी। वैदिक विज्ञान में शब्द प्रमाण का भी बहुत महत्त्व होता है। मैं नहीं कहता कि वर्तमान विज्ञान शब्द प्रमाण को प्रमाण माने, परन्तु तर्क एवं ऊहा की उपेक्षा तो उसे नहीं करनी चाहिए। हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि प्रयोग, प्रेक्षण और परीक्षणों की एक सीमा होती है और वह सीमा प्रयोगकर्त्ता के पास उपलब्ध प्रयोग, परीक्षण आदि के साधनों अर्थात् टेक्नोलॉजी पर निर्भर होती है।

यदि हमारे पास भोजन में विष का परीक्षण करने के लिए उपयुक्त टेक्नोलॉजी नहीं हो और कोई अनजान व्यक्ति हमें भोजन प्रदान करे तथा उस भोजन देने वाले व्यक्ति की मुखाकृति संदिग्ध प्रतीत हो रही हो, तब क्या हम उस भोजन को ग्रहण करना चाहेंगे? क्या हम यह कह देंगे कि जब भोजन में विष सिद्ध हुआ ही नहीं, तब भोजन को क्यों छोड़ा जाए? क्या हम इस विषय में अपनी विचारशक्ति और ऊहा का प्रयोग नहीं करेंगे? इसी

प्रकार यदि हम कहीं जंगल में मार्ग भटक जायें और कोई वनवासी हमें मार्ग बताये, तो क्या हम उसके बताये मार्ग पर चलना नहीं चाहेंगे? क्या हम उससे यह तर्क करेंगे कि तूने कौनसी टेक्नोलॉजी से मार्ग की पहचान की है? यदि हम ऐसा करेंगे, तो उस बीहड़ जंगल में उसी प्रकार भटकते रहेंगे, जिस प्रकार आज का वैज्ञानिक अपनी टेक्नोलॉजी का कूपमण्डूक बनकर सृष्टि विज्ञान के क्षेत्र की अन्धी और कँटीली पगडंडियों में भटक रहा है।

यद्यपि वैज्ञानिक भी इस बात को जानते हैं कि तर्क और ऊहा के बिना उनकी टेक्नोलॉजी भी उचित परिणाम नहीं दे सकती। इसी कारण प्रयोग करते हुए भी वे चिन्तन करते ही हैं। भिन्न-भिन्न प्रतिभा के वैज्ञानिक एक ही उपकरण से प्रयोग करके भिन्न-भिन्न परिणाम प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् वे भिन्न-भिन्न निष्कर्ष निकाल सकते हैं। उन सभी निष्कर्षों की शुद्धता पृथक्-पृथक् होती है। जहाँ उनके उपकरण काम नहीं करते, वहाँ वे भी केवल वैचारिक व्यायाम अर्थात् तर्क और ऊहा से मानसिक प्रयोग करते ही हैं, जिन्हें वे थॉट एक्सपेरिमेंट कहते हैं। स्ट्रिंग थ्योरी में कोई प्रयोग नहीं है, फिर भी वह ५०-६० वर्षों से केवल गणितीय संकल्पनाओं के आधार पर ही चल रही है। कॉस्मोलॉजी आदि के क्षेत्र में भी अनेक कल्पनाएँ स्थापित सिद्धान्तों की भाँति संसार भर में प्रचलित हैं। हम इन सबसे कहना चाहेंगे कि थॉट एक्सपेरिमेंट भी सृष्टि को जानने का एक बहुत अच्छा साधन है? परन्तु जब इस साधन को किसी मजहबी पूर्वाग्रह अथवा अपनी अहंमन्यता के जाल में जकड़ दिया जाता है और निष्पक्ष एवं सात्त्विकी तर्क और ऊहा का प्रयोग नहीं होता, तब यह सब विज्ञान के लिए अभिशाप बन जाता है, जैसाकि आज बना हुआ है।

आज संसार में जो भी सूक्ष्म टेक्नोलॉजी है, वह विद्युत् चुम्बकीय तरंगों अथवा इलेक्ट्रॉन पर आधारित है, इसलिए इस टेक्नोलॉजी से फोटोन और इलेक्ट्रॉन से स्थूल पदार्थों अथवा उनके समकक्ष सूक्ष्म पदार्थों को अनुभूत किया जा सकता है, इनसे सूक्ष्म पदार्थों के विषय में कुछ भी नहीं जाना जा सकता। आज इसी कारण इन कणों एवं क्वार्क आदि के विषय में इस बात की कल्पना भी नहीं की जा रही कि इनकी भी कोई संरचना है और इनके भी अवयव हैं तथा वे अवयव भी मूल पदार्थ नहीं हैं। इस कल्पना, जो कल्पना नहीं बल्कि पूर्ण यथार्थ है, को भूलकर वर्तमान विज्ञान इन कणों को मूल कण वा मूल उपादान पदार्थ मानने पर विवश है। यदि मेरी तराजू की वजन नापने की क्षमता १० किलोग्राम है और इससे बड़ी तराजू मैंने कभी देखी और सुनी नहीं, तब मैं यह कह दूँ कि संसार में १० किलोग्राम से

भारी कोई पदार्थ नहीं है, तो क्या ऐसा कहना मेरी बुद्धिमत्ता होगी?

मूल पदार्थ का स्वरूप क्या होना चाहिए, इतना विचारने की क्षमता तो वैज्ञानिक में होनी ही चाहिए। किन्हीं भी दो प्रकार के मूलकणों के गुण परस्पर भिन्न क्यों हैं, इसकी विवेचना तो होनी ही चाहिए। नमक और मिश्री के क्रिस्टल देखने में समान दिखाई देते हैं, परन्तु चखने से दोनों में भेद स्पष्ट होता है। अब यहाँ कोई भी सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति विचार कर ही लेगा कि जब इनके स्वाद में अन्तर है, तो इनकी संरचना में भी अवश्य भेद होगा। इनके अवयव भी अवश्य ही भिन्न-भिन्न होंगे, तब हमें यह क्यों नहीं विचारना चाहिए कि मूल पदार्थ माने जाने वाले इलेक्ट्रॉन, फोटोन, क्वार्क एवं न्यूट्रिनो जैसे कणों के गुणों में भेद होने का कारण इनकी आन्तरिक संरचना एवं इनके अवयवों में भेद का होना है। यह भेद अनिवार्यतः है, अन्यथा इन कणों के गुणों में भेद हो ही नहीं सकता था। इनको कण के रूप में मूल अवश्य कहा जा सकता है, परन्तु इनको मूल पदार्थ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पदार्थ कणीय स्थिति से भी सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम हो सकता है। जिस प्रकार गेहूँ, जौ, चना, बाजरा आदि अनाज के रूप में मूल हैं, परन्तु पदार्थ के रूप में इनका भी कोई मूल पदार्थ है और जो मूल पदार्थ है, वह अनाज के रूप में नहीं है, बल्कि सूक्ष्म रासायनिक तत्त्वों के रूप में है और उस पदार्थ का भी मूल कोई अन्य पदार्थ है।

सबके मूल को खोजने की प्रक्रिया वहाँ समाप्त होती है, जहाँ सम्पूर्ण पदार्थ एक जैसे गुणों से युक्त होता है। जहाँ कोई विषमता नहीं होती, बल्कि पूर्णतः एकत्व होता है। इस प्रकार वर्तमान भौतिक विज्ञान मूल पदार्थ के ज्ञान से बहुत दूर है। टेक्नोलॉजी और गणित की सीमा से बँधे रहने की प्रतिबद्धता उसे कभी मूल तक पहुँचने नहीं देगी, भले ही वह कितना भी समय और धन क्यों न नष्ट कर ले। यहाँ विज्ञ पाठक समझ गये होंगे कि जिस प्रकृति पदार्थ की हम चर्चा कर चुके हैं, वही पदार्थ सम्पूर्ण सृष्टि का मूल है।

वैदिक विज्ञान की दृष्टि में सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व अर्थात् प्रलय काल में मूल पदार्थ किस अवस्था में विद्यमान रहता है, यह बात पूर्वोक्त प्रकृति के विभिन्न नामों से जानी जा सकती है। इस प्रकार सृष्टि का मूल पदार्थ सर्वत्र अर्थात् अनन्त आयतन में ऐसी विरल अवस्था में एकरस होकर फैला वा व्याप्त रहता है, जैसा इस सृष्टि काल में कभी व कहीं नहीं रह सकता। उस समय अनन्त अन्धकार विद्यमान होता है। अनन्त शीतलता लिए हुए वह पदार्थ नितान्त शून्य द्रव्यमान, शून्य घनत्व एवं सर्वथा ऊर्जारहित होता है अर्थात् उस समय ऊर्जा,

प्रकाश, ताप, द्रव्यमान, गति, बल, आकाश, ध्वनि, सूक्ष्मातिसूक्ष्म कम्पनादि कुछ भी विद्यमान नहीं होता। इस बात का संकेत भगवान् मनु ने भी किया है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ (मनु.१.५)

वेद ने कहा—

गीर्णं भुवनं तमसापगूळ्हम् (ऋ.१०.८८.२)
तम आसीत्तमसागूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलम् (ऋ.१०.१२९.३)

इन प्रमाणों से भी उस मूल पदार्थ का ऐसा ही स्वरूप सिद्ध होता है, जिसे किसी भी प्रकार अच्छी प्रकार से जाना व व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसमें कोई लक्षण विद्यमान नहीं होता और न उसके स्वरूप पर विशेष तर्क-वितर्क ही हो सकता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मानो उस अव्यक्त प्रकृति में लीन होकर गहन अनुपमेय अन्धकार में डूबा हुआ था। पदार्थ विद्यमान अवश्य होता है, परन्तु उसकी विद्यमानता का कोई भी लक्षण, क्रिया, बल आदि की किंचिदपि विद्यमानता नहीं होती। इससे निष्कर्ष निकलता है कि प्रलयावस्था में वर्तमान विज्ञान द्वारा जाने व माने जा रहे द्रव्यमान, ऊर्जा, बल, आकाश तत्त्व आदि का सर्वथा अभाव रहता है। आप विचार करें कि तब पदार्थ का कैसा रूप विद्यमान रहता है? वस्तुतः उस समय वर्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित विभिन्न मूलकण, तरंगाणु, वैक्यूम एनर्जी, डार्क एनर्जी, डार्क मैटर आदि कुछ भी विद्यमान नहीं होता, तब उनके मध्य किसी प्रकार का मूल बल भी विद्यमान नहीं होता। इसी कारण वह पदार्थ पूर्ण निष्क्रिय होता है। वह पदार्थ न कण रूप में होता है और न तरंग रूप में होता है।

आकाश नामक पदार्थ, जिसे स्पेस कहा जाता है, जो गुरुत्व वा अन्य बलों के द्वारा वक्र (कर्व) होता है, वह भी उस समय नहीं होता, बल्कि उस समय विद्यमान पदार्थ इन सबसे बहुत सूक्ष्म होता है, जिससे सूक्ष्म अवस्था कदापि सम्भव नहीं हो सकती। इस अवस्था वाले पदार्थ का मुख्य नाम प्रकृति है। इसे त्रिगुण भी कहा गया है। इसे वेद में भी 'त्रितस्य धारया' (ऋ.९.१०२.३), 'त्रिधातु' (ऋ.१.१५४.४) कहकर त्रिगुणा ही सिद्ध किया है। ये तीन गुण किस अवस्था में रहते हैं, यह बताते हुए महर्षि कपिल ने कहा— 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' [सां.द.१.२६ (६१)] अर्थात् सत्त्व, रजस् व तमस् की साम्यावस्था

को प्रकृति कहा जाता है। हम सर्वप्रथम 'साम्य' शब्द पर विचार करते हैं। साम्यम् = सम+ष्यञ् (आप्टेकोश) (सम = सम् अवैक्लव्ये+अच् —आप्टेकोश)। इससे स्पष्ट है कि गुणों की अविक्षुब्ध वा निष्क्रिय अवस्था को ही साम्यावस्था कहा जाता है। अब इन तीन गुणों पर विचार करते हैं—

इस विषय में हम सर्वप्रथम भगवान् ब्रह्मा के मत को उद्धृत करते हैं—

तमो रजस्तथा सत्त्वं गुणानेतान् प्रचक्षते।
अन्योऽन्यमिथुनाः सर्वे तथान्योन्यानुजीविनः॥ ४॥

अन्योन्यापाश्रयाश्चापि तथान्योन्यानुवर्तिनः।
अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्चधातवः॥ ५॥

तमसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः।
रजसश्चापि सत्त्वं स्यात् सत्त्वस्य मिथुनं तमः॥ ६॥

नियम्यते तमो यत्र रजस्तत्र प्रवर्तते।
नियम्यते रजो यत्र सत्त्वं तत्र प्रवर्तते॥ ७॥

नैशात्मकं तमो विद्यात् त्रिगुणं मोहसंज्ञितम्।
अधर्मलक्षणं चैव नियतं पापकर्मसु।
तामसं रूपमेतत् तु दृश्यते चापि सङ्गतम्॥ ८॥

प्रकृत्यात्मकमेवाहु रजः पर्यायकारकम्।
प्रवृत्तं सर्वभूतेषु दृश्यमुत्पत्तिलक्षणम्॥ ९॥

प्रकाशं सर्वभूतेषु लाघवं श्रद्दधानता।
सात्त्विकं रूपमेवं तु लाघवं साधुसम्मितम्॥ १०॥

(महाभा.आश्व.प., अनुगीता पर्व, अध्याय ३६)

यहाँ स्पष्ट है कि तीनों गुण परस्पर एक-दूसरे के साथ युग्म बनाने वाले, एक-दूसरे के आश्रित, एक-दूसरे के सहारे रहने, एक-दूसरे का अनुसरण करने और परस्पर मिश्रित रहने वाले हैं॥ ४-५॥

तमोगुण का मिथुन सत्त्व के साथ, सत्त्व का रजस् के साथ, रजस् का सत्त्व के साथ, सत्त्व का तमस् के साथ मिथुन रहता है॥ ६॥

तमोगुण के नियन्त्रण से रजोगुण बढ़ता तथा रजोगुण को नियन्त्रित करने पर सत्त्वगुण में वृद्धि होती है॥ ७॥

यह तीनों गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध बताया, उसके साथ आगे श्लोकों में बताया कि तमस् अन्धकारयुक्त एवं अधर्मयुक्त होता है, साथ ही अन्य दोनों गुणों के कुछ अंश से सदैव युक्त होता है। इसे 'मोह' भी कहा जाता है अर्थात् यह जड़ता रूप होता है। रजोगुण प्रकृति अर्थात् विशेष क्रियाशीलता से युक्त होता तथा सम्पूर्ण दृश्य जगत् उसी के कारण उत्पन्न होता है। सत्त्व के कारण प्रकाश, लघुता (हल्कापन) एवं धारण गुण से युक्त होता है।

पातञ्जल योगदर्शन के सूत्र—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। (२.१८)

की व्याख्या में महर्षि व्यास लिखते हैं—

प्रकाशशीलं सत्त्वम्। क्रियाशीलं रजः। स्थितिशीलं तम इति। एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिन संयोगवियोगधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणोपार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गाङ्गित्वेऽप्यसंभिन्नशक्तिप्रविभागास्तुल्यजातीया तुल्यजातीयशक्तिभेदानुपातिनः... ॥

उधर महर्षि कपिल का सांख्य दर्शन में कथन है—

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्॥ [१.९२ (१२७)]

इन आर्ष वचनों को दृष्टिगत रखकर हम इन तीनों गुणों पर विस्तार से चर्चा करते हैं—

सत्त्व वह गुण है, जिसके कारण प्रकाश एवं प्रीति अर्थात् आकर्षण व धारण बल आदि की उत्पत्ति होती है। किसी पदार्थ का हल्कापन भी इसी सत्त्व गुण की ही देन है। इस कारण इस सृष्टि में जहाँ-२ भी प्रकाश, लघुत्व एवं आकर्षण-धारण आदि बल विद्यमान हैं, वहाँ प्रकृति के सत्त्व गुण की ही महिमा समझनी चाहिए।

रजोगुण के कारण अप्रीति अर्थात् प्रतिकर्षण-प्रक्षेपक बल एवं गतिशीलता की उत्पत्ति होती है अर्थात् इन गुणों का मूल कारण रजोगुण ही होता है।

तमोगुण के कारण अन्धकार, जड़ता, गुरुता, निष्क्रियता, द्रव्यमान आदि गुणों की उत्पत्ति होती है।

ध्यातव्य है कि यहाँ इन गुणों के कारण चेतन प्राणियों में उत्पन्न हर्ष, शोक, द्रोह आदि गुणों की चर्चा हम नहीं कर रहे हैं, क्योंकि इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में चेतन जीव जगत् के व्यवहार की चर्चा नहीं है। सृष्टि के प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ में ये तीनों ही गुण न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान होते हैं। हमने ऊपर भगवान् ब्रह्मा के वचन द्वारा दर्शाया है कि इन तीनों गुणों का सदैव सम्मिश्रण विद्यमान रहता है।

प्रश्न— क्या उत्पन्न सभी पदार्थों में इन तीनों गुणों की विद्यमानता अनिवार्य होती है, जैसा कि ऊपर भगवान् ब्रह्मा का वचन उद्धृत किया गया है?

उत्तर— काल तत्त्व के अतिरिक्त सभी पदार्थों में तीनों गुणों की विद्यमानता अनिवार्य होती है। यहाँ प्रश्न यह भी उपस्थित हो सकता है कि जब इन तीनों का परस्पर मिथुन ही रहता है, तब काल तत्त्व में ऐसा ही क्यों न माना जाये? इसके उत्तर में भगवान् ब्रह्मा का एक वचन और उद्धृत करते हैं—

यावत्सत्त्वं रजस्तावत् वर्तते नात्र संशयः।
यावत्तमश्च सत्त्वं च रजस्तावदिहोच्यते॥
(महाभारत आश्वमेधिक पर्व, अनुगीता पर्व ३९.३)

अर्थात् जब तक सत्त्व गुण विद्यमान रहता है, तब तक निश्चित ही रजोगुण भी विद्यमान रहता है। जब तक तमोगुण विद्यमान रहता है, तब तक निश्चित ही सतोगुण व रजोगुण दोनों की ही विद्यमानता अवश्य रहती है। यहाँ स्पष्ट संकेत मिलता है कि सत्त्व व रजस् तो बिना तमोगुण के विद्यमान रह सकते हैं अर्थात् सतोगुण तो तमोगुण के बिना विद्यमान रह सकता है, परन्तु तमोगुण की विद्यमानता के लिए सतोगुण व रजोगुण दोनों का विद्यमान रहना अनिवार्य है। हमारे मत में केवल काल तत्त्व में ही दो गुण सत्त्व व रजस् विद्यमान होते हैं। इसकी चर्चा आगे की जाएगी।

यहाँ हम अन्य प्रकार से इन तीनों गुणों पर चर्चा करते हैं—

इस सृष्टि में जिस वस्तु में प्रकाश व बल आदि गुणों की विद्यमानता होती है, उनमें

क्रिया वा गतिशीलता एवं यत्किंचित् मात्रा में जड़त्व वा द्रव्यमान आदि गुण विद्यमान होते हैं। वर्तमान विज्ञान विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के तरंगाणुओं में विराम द्रव्यमान (रेस्ट मास) नहीं मानता। आश्चर्य यह है कि जो पदार्थ कभी विराम वा स्थिर (रेस्ट) अवस्था में रहता ही नहीं, उसका रेस्ट मास शून्य कैसे सिद्ध कर लिया? फिर इससे अर्थापत्ति से यह भी तो सिद्ध हो जाता है कि सदैव गतिशील रहने वाले क्वाण्टा में द्रव्यमान अवश्य होता है। इस प्रकार क्वाण्टा में तीनों गुणों की विद्यमानता अनिवार्यत: सिद्ध हो जाती है। उधर किसी मूल कण पर विचार करें, तो उसमें द्रव्यमान के साथ-२ गति एवं यत्किंचिद् मात्रा में दीप्ति भी विद्यमान होती है। इस कारण वे भी त्रिगुणयुक्त सिद्ध होते हैं।

अब वर्तमान विज्ञान के स्पेस पर विचार करें। विज्ञान स्पेस में किसी द्रव्यमान वा विद्युत् आवेश द्वारा संकुचन का होना मानता है, इस कारण स्पेस में भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म मात्रा में ही सही बल, क्रिया व जड़त्व का होना सिद्ध होता है। यदि स्पेस में बल, क्रिया व जड़त्व का सर्वथा अभाव होता, तब स्पेस इन गुणों से युक्त पदार्थों से प्रभावित ही नहीं होता। वास्तव में स्पेस में प्रत्यक्ष जड़त्व तो नहीं है, परन्तु उसके कारणरूप तमोगुण की विद्यमानता होती है, जिसके कारण वह द्रव्यमान से प्रभावित होता है। अन्य दोनों गुणों की भी विद्यमानता उसमें अनिवार्यत: होती है।

अब इन गुणों पर नियन्त्रण सम्बन्धी प्रक्रिया, जो भगवान् ब्रह्मा द्वारा बतलाई गई है, उसे वर्तमान स्थूल विज्ञान की दृष्टि से देखें। तमोगुण पर नियन्त्रण से रजोगुण में वृद्धि बताई गई है। इधर लोक में देखें, तो किसी वस्तु के जड़त्व को नियन्त्रित करने से उसकी क्रियाशीलता में वृद्धि देखी ही जाती है अर्थात् जब कोई व्यक्ति जड़ वस्तु को अपने नियन्त्रण में लेता है अथवा उस वस्तु पर रजोगुण व सतोगुण प्रधान पदार्थों का नियन्त्रण होता है, तब उसमें क्रियाशीलता उत्पन्न हो जाती है। किसी कण की गति को अवरुद्ध करके उससे प्रकाश आदि ऊर्जा की वृद्धि भी सर्वविदित है। उदाहरणत: उल्का पिण्ड का वायुमण्डल में प्रवेश करने पर चमकना तथा किसी इलेक्ट्रॉन प्रवाह में प्रतिरोध उत्पन्न करने पर प्रकाश व ऊष्मा का उत्पन्न होना।[६] इसी बात का संकेत करते हुए भगवान् ब्रह्मा ने कहा कि रजोगुण के नियन्त्रण से सतोगुण में वृद्धि होती है।

[6] अवमंदक विकिरण या ब्रेम्स्ट्रालंग।

इस प्रकार इन तीनों गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

प्रश्न— सत्त्व, रजस् व तमस् को कुछ विद्वान् गुण न मानकर गुणी अर्थात् द्रव्य मानते हैं, जिनके समान परिमाण को प्रकृति कहा जाता है।

उत्तर— यह बात बालपन की है। सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों ही पदार्थों को सभी शास्त्रों में गुण ही माना है। किसी भी स्थान पर कहीं भी इन्हें कण नहीं कहा है। इन्हें कहीं द्रव्य नहीं कहा है, तब भी इन्हें कण मानने की हठ क्या मात्र दुराग्रह नहीं है? इस विषय में भगवान् शिव का कथन है—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति प्रकृतिगुण सम्भवाः।
तैः सृजत्यखिलं लोकं प्रकृतिरात्मजैर्गुणैः॥
(अनु.पर्व अ.१४५ पृ.६०१४)

इसी को भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १४.५)

यहाँ भगवान् शिव ने इन गुणों को प्रकृति में उत्पन्न माना है। दोनों ही प्रमाणों में 'सम्भवाः' पद का प्रयोग है। इससे यह स्पष्ट होता है कि ये गुण प्रकृति में उत्पन्न होते हैं वा प्रकट होते हैं। पूर्व में भी हम महाभारत और योगदर्शन के महर्षि व्यास भाष्य से इनका गुण होना प्रमाणित कर चुके हैं।

ऋग्वेद ९.१०२.३ में प्रकृति को 'त्रितस्य धारा' कहा है अर्थात् त्रित को धारण करने वाली। ऋग्वेद १.१५४.४ में लोकों को 'त्रिधातु' कहा है, इसका भाष्य करते हुए ऋषि दयानन्द ने लिखा है— 'त्रयः सत्त्वरजस्तम-आदि धातवो येषु तानि'। इस प्रकार सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीन उन पदार्थों का नाम है, जो सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न भी करते हैं और धारण भी करते हैं।

सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में ऋषि दयानन्द लिखते हैं— "(सत्त्व) शुद्ध (रजः) मध्य (तमः) जाड्य अर्थात् जड़ता तीन वस्तु मिलकर जो एक संघात है, उसका

नाम प्रकृति है।'' यहाँ 'वस्तु' और 'धातु' जैसे पदों को देखकर यह भ्रम होता है कि सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों द्रव्य हैं, न कि गुण। हमने इनको पदार्थ कहा है, इससे भी कोई इन्हें द्रव्य अर्थात् कण भी कह सकता है, परन्तु हमें इसके लिए महर्षि कणाद कृत वैशेषिक दर्शन १.१.४ को पढ़ना चाहिए, जहाँ न केवल द्रव्य को, अपितु गुण एवं कर्म को भी पदार्थ कहा है। यही अर्थ वस्तु और धातु का भी समझना चाहिए। गुण किसी द्रव्य द्वारा धारण किये जाते हैं और ये गुण किन्हीं अन्य गुणों को धारण भी करते हैं। इस कारण इन्हें धातु कहा जाता है। बल सभी पदार्थों को धारण किये हुए है, इसका अर्थ यह नहीं है कि बल कोई द्रव्य है, बल द्रव्य का एक गुण है। वह गुण न हो, तो कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य को धारण नहीं कर सकता।

'बलम्' पद का निर्वचन करते हुए महर्षि यास्क का कथन है— 'बलं कस्मात्। बलं भरं भवति बिभर्तेः' (निरु.३.९)। यहाँ बल को धारक और पोषक कहा है। यहाँ धारण करना और पोषण करना भी किसी पदार्थ का गुण है और महर्षि यास्क इसे बल का गुण बता रहे हैं, तब क्या यहाँ बल को द्रव्य मान लिया जाए? ऐसा तो कोई मूढ़ व्यक्ति भी स्वीकार नहीं करेगा। इसलिए 'धातु' और 'वस्तु' पदों से सत्त्व आदि के द्रव्य होने का भ्रम नहीं होना चाहिए। इन्हें सूक्ष्म परमाणु कहना कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता। वे सूक्ष्म परमाणु पदार्थ, जिनमें संयोग और वियोग की प्रक्रिया सर्वप्रथम प्रारम्भ होती है, उसका संकेत करते हुए ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में किसी आर्ष वचन को उद्धृत करते हुए लिखा है—

''नित्यायाः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परमसूक्ष्माणां पृथक् पृथग्-वर्त्तमानानां तत्त्वपरमाणूनां प्रथमः संयोगारम्भः संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकार प्राप्तिः सृष्टिरुच्यते।

अनादि नित्यस्वरूप सत्त्व, रजस् और तमोगुणों की एकावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न जो परम सूक्ष्म पृथक्-पृथक् तत्त्वावयव विद्यमान हैं, उन्हीं का प्रथम ही जो संयोग का आरम्भ हैं, संयोग विशेषों से अवस्थान्तर दूसरी-दूसरी अवस्था को सूक्ष्म से स्थूल-स्थूल से बनते-बनाते विचित्ररूप बनी है।''

यहाँ स्पष्ट ही ऋषि दयानन्द ने सत्त्वादि को गुण कहा है और इन गुणों से युक्त द्रव्य को

प्रकृति कहा है, जिससे सूक्ष्म अवयवरूप परमाणु उत्पन्न होते हैं। इन उत्पन्न परमाणुओं से संयोग क्रिया प्रारम्भ होती है। शुद्ध, मध्य एवं जाड्य जैसे पद किसी द्रव्य को नहीं दर्शा रहे हैं, बल्कि गुणों को ही दर्शा रहे हैं। महर्षि कपिल, जिन्होंने अपने सांख्यदर्शन में सत्त्वादि पदार्थों की विवेचना की है, उन्होंने स्वयं इन्हें गुण ही कहा है। वे लिखते हैं—

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम् (सां.द.१.९२)

यहाँ तीनों गुणों में परस्पर भेद दर्शाया है, उस भेद को वैधर्म्य कहा है, तब निश्चित ही धर्म पद गुण का पर्यायवाची नहीं है, बल्कि वह इन गुणों का एक लक्षण है। कुछ महानुभाव सांख्यदर्शन में प्रयुक्त गुण एवं धर्म दोनों ही पदों की प्रसंगानुसार विवेचना नहीं करके हठपूर्वक सत्त्व आदि को कण सिद्ध करने के लिए सांख्य दर्शन का ही एक सूत्र प्रस्तुत करते हैं, वह यह है— 'सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्' (सां.द.६.३९)। इस सूत्र से वे कहना चाहते हैं कि सत्त्वादि प्रकृति के धर्म नहीं हैं, बल्कि उसके रूप ही हैं। इसका अर्थ यह है कि ये तीनों द्रव्य ही हैं, गुण नहीं। ये महानुभाव यहाँ धर्म का अर्थ गुण ग्रहण कर रहे हैं, जबकि पूर्व सूत्र में इन्हें स्वयं प्रकृति के गुण ही कहा है। यहाँ धर्म का अर्थ लक्षण है, न कि गुण। इसका अर्थ यह है कि प्रकृति पदार्थ में ये लक्षण विद्यमान नहीं होते, क्योंकि उस समय ये तीनों ही गुण अविद्यमानवत् होते हैं। जिस प्रकार प्रकृति को अव्यक्त कहा जाता है, उसी प्रकार उसके ये तीनों गुण भी अव्यक्त ही होते हैं। इसी कारण इन्हें तद्रूप अर्थात् प्रकृति के रूप वाले कहा है। यदि ये तीनों प्रकृति के धर्म (लक्षण) होते, तो प्रकृति में प्रीति, अप्रीति आदि धर्म भी विद्यमान होते। यदि ऐसा होता, तो प्रकृति प्रकृति नहीं रहने पाती, बल्कि वह महत्तत्त्व का रूप धारण कर लेती।

'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' (सां.द.१.२६)। यहाँ इनकी साम्यावस्था का अर्थ भी यही है कि इन गुणों की सम्पूर्ण निष्क्रियावस्था हो चुकी है। 'साम्यम्' पद सम+ष्यञ् से व्युत्पन्न होता है और 'सम' पद सम् अवैक्लव्ये+अच् से व्युत्पन्न होता है। इसका अर्थ यह है कि जब इन गुणों की पूर्ण शान्त अर्थात् निष्क्रियावस्था होती है, उसी अवस्था को साम्यावस्था कहा जाता है अर्थात् ये भी पूर्ण अव्यक्त अवस्था में होते हैं। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में जो 'तीन वस्तुओं का संघात', ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, उसमें भी संघात वह अवस्था है, जिसमें इन तीनों गुणों का ही सम्यक् रूप से हनन हो चुका होता है अर्थात् वे तीनों गुण मृतप्राय अर्थात् पूर्ण निष्क्रिय हो चुके होते हैं। यहाँ 'संघात' पद का अर्थ

संयोग नहीं मानना चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने पर प्रकृति कभी अनादि नहीं हो सकती। इस कथन की वैज्ञानिकता आपको समझ में नहीं आयेगी, इसलिए मैं ऋषि दयानन्द के शब्दों को ही यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ, जो उन्होंने बारहवें समुल्लास में लिखे हैं— "जो संयोग से उत्पन्न होता है, वह अनादि और अनन्त कभी नहीं हो सकता"। इस कारण संघात का अर्थ वही है, जो हमने किया है। यहाँ मुझे प्रतीत होता है कि बुद्धिमानों के लिए इतना ही उत्तर पर्याप्त है।

अब तक के प्रकरण से यह स्पष्ट होता है कि सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया के प्रारम्भ में प्रकृति रूपी मूल उपादान पदार्थ में प्रकाश, क्रियादि सभी गुणों में से कोई भी गुण विद्यमान नहीं होता किंवा उनका बीजरूप भी विद्यमान नहीं रहता। इस कारण उस समय विद्यमान मूल पदार्थ को न द्रव्य, न ऊर्जा और न स्पेस ही कहा जा सकता है। वैक्यूम एनर्जी, डार्क एनर्जी वा डार्क मैटर आदि भी उस समय विद्यमान नहीं होते। इस प्रकार वह पदार्थ निम्नलिखित स्वरूप वाला होता है—

१. पदार्थ का आयतन अनन्त होता है।
२. पदार्थ का द्रव्यमान शून्य होता है।
३. शीतलता अनन्त परिमाण में होती है।
४. घनत्व शून्य होता है।
५. किसी भी प्रकार के बल अथवा क्रियाएँ पूर्णतः अविद्यमान होती हैं। इससे वह पदार्थ पूर्णतः शान्त एवं अनन्त आयतन में पूर्णतः एकरस होकर भरा रहता है।
६. वह न कण रूप, न तरंग रूप, न स्पेस रूप और न स्ट्रिंग रूप में होता है।

इस प्रकार वह सर्वथा अनिर्वचनीय, अलक्षण, अज्ञेय व अप्रतर्क्य अवस्था में होता है। वैदिक विज्ञान का मूल पदार्थ वर्तमान बिग बैंग सिद्धान्त की प्रारम्भिक अवस्था से प्रायः विपरीत है। समानता यह अवश्य है कि वर्तमान विज्ञान भी शून्य समय से $१०^{-४३}$ से. तक (समयान्तराल में) पदार्थ की अवस्था को अनिर्वचनीय व अज्ञेय मानता है। उसकी दृष्टि में ज्ञेय अवस्था का प्रादुर्भाव प्लांक समय पर ही होता है, पुनरपि अज्ञेय अवस्था में कल्पित शून्य वा अनन्त आयतन, अनन्त ताप, अनन्त ऊर्जा, अनन्त द्रव्यमान व अनन्त घनत्व की धारणाएँ वैदिक विज्ञान की धारणा के साथ-२ सामान्य युक्तियों के भी सर्वथा विपरीत हैं।

काल तत्त्व

काम— पूर्वोक्त अवस्था महाप्रलय की होती है। जब सृष्टि का समय आता है, उस समय सर्वप्रथम जो क्रिया उत्पन्न होती है, उसके विषय में वेद ने कहा— 'कामस्तदग्रे समवर्त्तत...' (अथर्व.१९.५२.१) अर्थात् सर्वप्रथम ईश्वर तत्त्व में सृष्टि उत्पन्न करने की कामना उत्पन्न होती है। यह बात हम पूर्व में अवगत करा चुके हैं कि जड़ पदार्थ में कोई भी प्रवृत्ति स्वत: नहीं होती। इस कारण प्रकृतिरूप महाप्रलयावस्था में सृष्टि उत्पत्ति की स्वत: प्रवृत्ति नहीं होती और न ही हो सकती। इस प्रवृत्ति को प्रारम्भ करने हेतु ईश्वर तत्त्व में इच्छा उत्पन्न होती है। यह सर्वप्रथम चरण है। अथर्ववेद में १९.५२ काम सूक्त कहलाता है तथा इससे अगला सूक्त कालसूक्त कहाता है।

काल का स्वरूप—

ईश्वर सर्वप्रथम काल तत्त्व को प्रेरित करता है। यहाँ एक बड़ा विकट प्रश्न यह है कि क्या काल किसी पदार्थ को कहते हैं? किसी भी विद्वान् ने काल के विषय में कुछ स्पष्ट लिखा हो, ऐसा हमारी जानकारी में नहीं आया। अब तक मैंने अनेक महान् वैज्ञानिकों की संगति की है, परन्तु काल क्या है, यह कभी किसी ने स्पष्ट नहीं किया है। हमने काल के विषय में अनेक वैज्ञानिक पुस्तकों को कुतूहलपूर्वक पढ़ा कि देखा जाए कि वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक काल का क्या स्वरूप बताते हैं? खेद है कि मुझे इन सबसे निराशा हुई। हिस्ट्री ऑफ टाइम की चर्चा करके बिग बैंग का इतिहास सुनाने लग जाते हैं। काल पर बड़ी-२ पुस्तकें लिखी गयीं, परन्तु कहीं यह नहीं बताया कि काल है क्या? कुछ पौराणिक लोग (विशेषकर माताएँ) सत्यनारायण की कथा करते हैं। पूरी कथा में सत्यनारायण कथा की महिमा बतायी है, परन्तु उस कथा में यह कहीं नहीं कहा जाता कि वह कथा क्या है? ऐसी ही कथा वर्तमान वैज्ञानिकों की काल के विषय में है और कुछ अंश तक आकाश तत्त्व के विषय में भी यही स्थिति है। वे काल (टाइम) को आकाश (स्पेस) के साथ जोड़कर देखते हैं। वे स्पेस के तीन आयाम (डायमेंशन) के साथ टाइम का एक चौथा डायमेंशन मानते हैं। वर्तमान विज्ञान न तो स्पेस के बारे में कुछ स्पष्ट करता है और न टाइम के विषय में ही। क्या ये दोनों शब्द मात्र व्यवहार में प्रयोग करने के लिए ही हैं अथवा ये किसी पदार्थ के नाम हैं, जिनकी इस सर्ग रचना में भूमिका होती है। महर्षि कणाद वैशेषिक दर्शन में छ:

प्रकार के पदार्थों की सत्ता मानते हैं—

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् (१.१.४)

यहाँ हम इस सम्पूर्ण सूत्र पर विचार नहीं कर रहे। हम केवल यह बताना चाह रहे हैं कि महर्षि कणाद न केवल द्रव्य को पदार्थ मान रहे हैं, अपितु उनके गुण, कर्म आदि को भी पृथक् पदार्थ के रूप में माना है। अब द्रव्य के विषय में कहा—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि (वै.द.१.१.५)

यहाँ नौ द्रव्यों में काल व आकाश को भी द्रव्य के रूप में माना है। अब वे द्रव्य का लक्षण बताते हुए कहते हैं—

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् (वै.द.१.१.१५)

अर्थात् जो पदार्थ क्रियाओं व गुणों का आश्रय होते हैं अर्थात् जिनमें क्रिया व गुण विद्यमान होते वा हो सकते हैं तथा किसी कार्यरूप पदार्थ का समवाय कारण होते हैं, वे द्रव्य कहलाते हैं। यहाँ समवाय कारण का अर्थ है कि ये द्रव्य उनसे उत्पन्न कार्यरूप पदार्थ में सदैव मिश्रित रहते हैं। यहाँ सभी द्रव्यों पर विचार न करके प्रसंगानुसार केवल 'काल' नामक द्रव्य पर विचार करते हैं। महर्षि कणाद ने काल, आकाश व दिशा के विषय में अन्य द्रव्यों से भेद करते हुए लिखा—

दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि (वै.द.५.२.२१)

अर्थात् काल, आकाश व दिशा निष्क्रिय द्रव्य हैं। काल का लक्षण बताते हुए लिखा—

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि (वै.द.२.२.६)

अर्थात् छोटा, बड़ा, साथ-२, शीघ्र व देर से आदि व्यवहार होना काल का लक्षण है।

यहाँ प्रश्न यह है कि क्या काल सर्वथा निष्क्रिय एवं केवल व्यवहार में प्रयोग आने वाला काल्पनिक द्रव्य है? पहले महर्षि कणाद ने द्रव्य को क्रिया व गुण वाला कहा, पुनः इनमें से तीन द्रव्यों काल, आकाश व दिशा को निष्क्रिय कहा, इसका रहस्य क्या है? यह बात गम्भीर अन्वेषण की है। इस विषय पर विचार करने हेतु परम प्रमाण वेद के कुछ वचनों

को हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः॥ (अथर्व.१९.५३.१)

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः॥ (अथर्व.१९.५३.२)

स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत्।
पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत् परमस्ति तेजः॥ (अथर्व.१९.५३.४)

कालः प्रजा असृजत। (अथर्व.१९.५३.१०)

कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम्। (अथर्व.१९.५४.४)

वेद के इन वचनों में काल को कर्त्ता तथा 'वहति', 'अञ्जत्', 'ईयते', 'आभरत्', 'पर्यैत्', 'अभवत्', 'असृजत', 'समैरयत्' को क्रियापद के रूप में दर्शाया है। ये क्रियापद मात्र व्यवहारार्थक नहीं हैं। काल सूक्तों में ऐसे अन्य उदाहरण भी विद्यमान हैं। ऐसी स्थिति में काल को सर्वथा क्रियारहित नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उठता है कि काल कैसा द्रव्य है, जो महर्षि कणाद की दृष्टि में क्रियावान् होने के साथ-२ निष्क्रिय भी कहाता है। यद्यपि किसी आर्ष ग्रन्थ में इसके स्वरूप का वर्णन हमें नहीं मिला है। काल के अवयवरूप पल, निमेष, मुहूर्त, दिन-रात, मास, ऋतु व संवत्सर आदि के बारे में पढ़ने में तो आता है, परन्तु ये सभी पदार्थ क्या हैं? इनका स्वरूप क्या है? यह रहस्य ही बना हुआ है।

हमने इस रहस्य को उद्घाटित करने हेतु पर्याप्त चिन्तन किया और अपने मनन व ध्यान से ईशकृपा से हमें जो भी विचार आया, उसे हम प्रतिभासम्पन्न वैज्ञानिक विचारकों के समक्ष रख रहे हैं—

'कालः' पद को आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश में 'कल्+णिच्+अच्' से व्युत्पन्न माना है अर्थात् चुरादि. 'कल्' धातु के अर्थ 'धारण करना, प्रेरणा करना, अधिकार में रखना, जाना, आसक्त होना' आदि दिये हैं। महर्षि यास्क ने लिखा है— कालः कालयतेर्गतिकर्मणः (निरु.२.२५)। इससे स्पष्ट है कि काल वह पदार्थ है, जिसमें प्रेरण, धारण, गमन, अधिग्रहण आदि का सामर्थ्य विद्यमान होता है।

अब गम्भीर प्रश्न यह है कि ऐसा पदार्थ काल वस्तुतः क्या है ? उसका स्वरूप क्या है ? इस विषय में हमारा मत है कि मूल प्रकृति तत्त्व में ईश्वर तत्त्व जब सूक्ष्मतम परा 'ओम्' रश्मि को उत्पन्न वा जाग्रत करता है, तब वह 'ओम्' का सबसे सूक्ष्मतम रूप मूल प्रकृति से सम्पृक्त होकर ही काल का रूप धारण करता है। काल तत्त्व चेतन नहीं है। चेतन तत्त्व केवल ईश्वर व जीवात्मा हैं। जड़ तत्त्व एक ही है, ऐसा पूर्वोक्त प्रमाणों के अनुसार हम सिद्ध कर चुके हैं। उधर वैदिक त्रैतवाद सर्वविख्यात है। इस कारण काल तत्त्व को प्रकृति से पृथक् नहीं माना जा सकता, परन्तु यह केवल प्रकृति का भाग है, यह भी पूर्ण सत्य नहीं है। ईश्वर में सृष्टि की इच्छा होने पर अर्थात् काम वा संकल्प उत्पन्न होने पर वह ईश्वर मूल प्रकृति पदार्थ में 'ओम्' रश्मि की सूक्ष्मतम परा अवस्था उत्पन्न वा जाग्रत करके अति सूक्ष्मतम बल को उत्पन्न कर देता है। इस समय भी प्रकृति की साम्यावस्था सर्वथा भंग नहीं हो पाती। यह अवस्था ही काल कहलाती है।

'ओम्' रश्मि सम्पूर्ण मूल पदार्थ में काम को उत्पन्न करने में सक्षम होती है। यह 'ओम्' रश्मि ईश्वर द्वारा उत्पन्न होती है, इसका ईश्वरतत्त्व से ही साक्षात् सम्बन्ध होता है, इस कारण यह प्रकृति में काम वा इच्छा को उत्पन्न करने में सक्षम होती है। प्रकृति की 'ओम्' रश्मिमयी अवस्था को ही काल कहते हैं। यह अवस्था प्रकृति में उत्पन्न होती है, इस कारण यह जड़ पदार्थ है। क्योंकि यह ईश्वर तत्त्व से साक्षात् सम्बन्धित है, इस कारण यह चेतनवत् व्यवहार करता है। इसी बात का संकेत वेद से मिलता है—

स ईयते प्रथमो नु देवः (अथर्व.१९.५३.२)

अर्थात् वह काल तत्त्व प्रथम देव अर्थात् परमात्मा के समान व्यवहार करता है। यहाँ 'ईयते' क्रियापद का प्रयोग है, जो 'ई गतौ' धातु का रूप है। इस धातु के आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश में अनेक अर्थ दिये हैं— जाना, चमकना, व्याप्त होना, कामना करना, फेंकना, खाना आदि। ये सभी अर्थ काल व ईश्वर के व्यवहार को दर्शाते हैं। यहाँ 'चमकना' प्रकृति का भी व्यवहार है। काल तत्त्व सतत गति करता है, यह कभी रुकता नहीं। इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि इस तत्त्व में प्रकृति का केवल सत्त्व व रजस् गुण विद्यमान होता है। इसमें तमोगुण का सर्वथा अभाव होता है।

वर्तमान वैज्ञानिक कथित ब्लैक हॉल पर काल के रुकने की जो कल्पना करते हैं, वह

उनका नितान्त भ्रम है। यदि ब्लैक हॉल पर प्रकाश के रुकने की उनकी कल्पना को भी सत्य मान लें, तब भी इससे काल का रुकना सिद्ध नहीं हो जाता। प्रकाशादि किसी भी पदार्थ की गति रुकने से काल की गति का रुकना कैसे माना जा सकता है? वस्तुतः किसी की गति का रुकना किसी प्रतिरोधी बल के कारण सम्भव है। यदि किसी लोक के प्रबल गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से प्रकाशादि का उत्सर्जित होना सर्वथा रुका भी माना जाये, तब भी काल अपना कार्य करता रहता है। प्रबल गुरुत्व बल की रश्मियाँ अर्थात् गुरुत्व क्षेत्र तो और भी प्रबलता से कार्य कर रहा होता है, यहाँ भी तो काल तत्त्व की ही प्रेरणा रहती है। एक गति बन्द मानें, तो ग्रेवीटॉन की तीव्रता तो बढ़ी। इस कारण काल का रुकना अथवा आगे-पीछे होना मिथ्या कल्पना ही है। वस्तुतः काल तो सर्वव्यापक, सतत गमन करने वाला एकरस तत्त्व है, जो प्रत्येक पदार्थ को प्रेरित करता है, परन्तु स्वयं ईश्वर के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ से प्रेरित नहीं होता। यह काल परमात्मा में ही सदैव आश्रित रहता है। इसे ही वेद ने कहा—

कालं तमाहुः परमे व्योमन् (अथर्व.१९.५३.३)

यहाँ 'परम व्योम' परमात्मा को कहा गया है, जैसा कि ऋषि दयानन्द ने 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्।' (ऋ.१.१६४.३९) के भाष्य में माना है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इसी भाव को प्रकट करते हुए कहा है—

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविधः। (श्वे.उ.६.२)

यहाँ सबके नित्य आच्छादक एवं व्यापक सर्वज्ञ परमेश्वर को कालतत्त्व को प्रकट व धारण करने वाला कहा है। जिस 'ओम्' रश्मि को हमने कालतत्त्व का मुख्य भाग माना है, उसके विषय में ऋषियों का कथन है—

त ओङ्कारं ब्रह्माणः पुत्रं ज्येष्ठं ददृशुः (गो.पू.१.२३), रस ओङ्कारः (जै.ब्रा.२.७८),
ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳ सर्वम्। (तै.आ.७.८.१; तै.उ.१.८.१)

इस प्रकार यहाँ 'ओम्' को ब्रह्म अर्थात् परमात्मा का रस वा पुत्र माना तथा उसे सर्वव्यापक कहा, उसी प्रकार काल को भी परमात्मा से उत्पन्न तथा सर्वव्यापक माना। इससे दोनों का सम्बन्ध स्पष्ट हुआ।

अब पुनः हम काल तत्त्व के विषय में वेद मत को उद्धृत करते हैं—

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वानन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ (अथर्व.१९.५३.७)

अब 'ओम्' के विषय में देखें—

वागेवर्क प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः।
तद्वा एतन्मिथुनं यद् वाक् च प्राणश्चर्क च साम च॥ ५॥

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते यदा वै मिथुनौ
समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम्॥ ६॥ (छां.उ.१.१)

इन दोनों प्रमाणों से 'काल' व 'ओम्' का सम्बन्ध प्रकट होता है। वेद ने काल में मन, प्राण व नाम अर्थात् छन्द रश्मियों का विद्यमान होना किंवा उनका काल तत्त्व में ही आश्रित होना लिखा है और इन सबसे नाना प्रजा अर्थात् पदार्थों का प्रसन्न, तृप्त वा उत्पन्न होना कहा है। उधर उपनिषद् ने भी छन्द व प्राण रश्मियों के मिथुनों का उद्गीथ=ओम् में ही आश्रित एवं उसी में रहकर नाना मिथुन बनाकर परस्पर तृप्त होने किंवा नाना पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ होना लिखा है।

दोनों ही प्रमाणों से काल तत्त्व एवं 'ओम्' तत्त्व का सम्बन्ध प्रकट होकर हमारी काल सम्बन्धी अवधारणा पुष्ट होती है। इस प्रकार काल तत्त्व वह पदार्थ है, जिसमें महत्, अहंकार से लेकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्याप्त, आश्रित एवं उसके द्वारा ही संचालित है। इसी का संकेत वेद ने किया है—

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति॥ ६॥

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्॥ ९॥ (अथर्व.१९.५३)

कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही।
द्यौर्मही काल आहिता॥ २॥

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत॥ ३॥ (अथर्व.१९.५४)

अर्थात् काल ही सभी प्रकार के पदार्थों की सत्ता, उनकी समृद्धि और ऐश्वर्य का कारण है। किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति 'ओम्' रश्मियों के बिना सम्भव नहीं है। उत्पत्ति हो जाने के पश्चात् उनकी स्थिति भी 'ओम्' रश्मियों के बिना सम्भव नहीं है। इन सभी वस्तुओं की नाना प्रकार की क्रियाओं और बलों में वृद्धि और परस्पर एक-दूसरे के प्रति नियन्त्रण क्षमता में वृद्धि भी इन काल रश्मियों के बिना सम्भव नहीं है। काल के कारण ही सूर्य तप रहा है और काल के कारण ही इसकी उत्पत्ति हुई है। सभी प्रकार के उत्पन्न पदार्थ, चाहे वे प्राणी, वनस्पति अथवा जड़ पदार्थ हों, सदैव 'ओम्' रश्मि में ही निवास करते हैं। जहाँ तक इस ब्रह्माण्ड की सत्ता है, वहाँ सर्वत्र काल की भी सत्ता है और जहाँ ब्रह्माण्ड की सत्ता नहीं है, वहाँ भी काल की सत्ता है। काल में ही हमारे नेत्र देखते हैं अर्थात् नेत्रों से होने वाली दर्शन क्रिया भी बिना काल के सहयोग के सम्भव नहीं है। प्रकाश के गमन एवं परावर्तन आदि क्रियाओं में 'ओम्' रश्मियों की अन्तिम एवं अनिवार्य भूमिका है।

सभी उत्पन्न पदार्थ, जो भी और जैसी भी गति करते हैं, उनके पीछे कालतत्त्व की ही प्रेरणा रहती है। वे गति करते हुए भी काल में ही प्रतिष्ठित होते हैं। ये काल अर्थात् 'ओम्' रश्मियाँ ही परमेष्ठी अर्थात् द्युलोकों का धारण और पोषण करती हैं। इस प्रकार यह काल परब्रह्म परमात्मा के समान महान् और व्यापक होता है। काल के द्वारा ही वायु निरन्तर गति करता है और इन 'ओम्' रश्मियों के द्वारा ही वायु का शोधन होता है। काल के द्वारा ही पृथिवी की उत्पत्ति और विस्तार होता है। काल ने ही विशाल द्युलोक को सब ओर से धारण कर रखा है। ईश्वर का पुत्र काल ही अर्थात् ईश्वर से उत्पन्न 'ओम्' रश्मियाँ ही भूत, भविष्य और वर्तमान को उत्पन्न करती हैं। कालतत्त्व से ही ऋक् एवं यजुः रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं अर्थात् सभी वेदमन्त्र काल द्वारा ही उत्पन्न होते हैं।

सारांशतः इस सृष्टि में सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम पदार्थ तक सभी पदार्थ काल से ही उत्पन्न एवं काल से ही प्रेरित हैं। यह काल परमेश्वर का पुत्र रूप है। इससे 'ओम्' रश्मि का काल से सम्बन्ध भी स्पष्ट हो रहा है। महर्षि कणाद ने 'कारणेन कालः' (वै.द.५.२.२६) एवं 'कारणे कालः' (वै.द.७.१.२५) के द्वारा संकेत किया कि कारण रूप प्रकृति व 'ओम्' रश्मि के द्वारा ही काल प्रकट होता है तथा यह कारण रूप प्रकृति व ईश्वर में ही स्थित रहता है। आचार्य प्रशस्तपाद ने लिखा है—

'कारणे काल इति वचनात् परममहत्परिमाणम्'

अर्थात् वह काल ईश्वर व प्रकृति के समान परम महत् परिमाण वाला होता है। वैशेषिक दर्शन के इन दो सूत्रों का आशय वर्तमान भाष्यकारों ने किंचिदपि नहीं समझा।

प्रश्न— जब ईश्वरतत्त्व द्वारा 'ओम्' रश्मि के माध्यम से प्रेरित व सक्रिय प्रकृति ही काल तत्त्व का रूप है, तब वह काल किसे प्रेरित करके सृष्टि को उत्पन्न व संचालित करता है? क्या प्रकृति के अतिरिक्त कोई अन्य जड़ पदार्थ भी है, जिसे काल रूपी प्रकृति प्रेरित व संचालित करती है और ऐसा करके क्या वह इस सृष्टि को प्रकट वा उत्पन्न करती है?

उत्तर— वस्तुतः प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी जड़ पदार्थ की सत्ता नहीं है। काल तत्त्व, जो प्रकृति की उपर्युक्त अवस्था है, ही त्रिगुणा प्रकृति को महत् तत्त्वादि में परिवर्तित करके पुनः उसे ही प्रेरित करता है। इस प्रक्रिया में काल तत्त्व प्रकृति के तमोगुण को भी जाग्रत वा सक्रिय करके महत् तत्त्वादि पदार्थों का निर्माण करता है। काल के अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थों में तीनों ही गुणों की न्यूनाधिक अनिवार्यतः विद्यमानता होती है। इस प्रकार वह विभिन्न पदार्थों को अपनी प्रेरणा द्वारा उत्पन्न भी करता है और फिर उन्हें प्रेरित व धारण भी करता है। किसी पदार्थ द्वारा अन्य पदार्थ को उत्पन्न व धारण करने के अन्य उदाहरण हम प्रस्तुत करते हैं—

मनसो हि वाक् प्रजायते (जै.ब्रा.१.३२०),
मनसा हि वाग्धृता (तै.सं.६.१.७.२; काठ.सं.२४.३), वागिति मनः (जै.उ.४.११.१.११)।

इन तीनों वचनों से सिद्ध होता है कि वाक् तत्त्व मनस्तत्त्व द्वारा उत्पन्न होता है। मनस्तत्त्व ही वाक् तत्त्व को धारण करता है तथा वाक् तत्त्व मनस्तत्त्व का ही रूप है। इसी प्रकार काल तत्त्व रूपी प्रकृति की अवस्था से ही सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसी के द्वारा प्रेरित व धारण किये जाते हैं एवं उसी का ही रूप होते हैं।

आधुनिक विज्ञान भी द्रव्य को ऊर्जा द्वारा निर्मित व प्रेरित मानता है, साथ ही ऊर्जा द्वारा द्रव्य को धारण करना व द्रव्य को ऊर्जा का रूप भी मानता है, परन्तु काल का व्यवहार इससे किंचित् भिन्न समझना चाहिए।

प्रश्न— काल तत्त्व प्रकृति का एक विशेष रूप है, परन्तु इसका स्वरूप क्या है? इसके साथ ही अहोरात्र, मास, अर्धमास, ऋतु आदि किस प्रकार के पदार्थ हैं?

उत्तर— जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि काल तत्त्व प्रकृति की लगभग अव्यक्त (पूर्ण व्यक्त नहीं) अवस्था का नाम है, जिसमें ईश्वर तत्त्व द्वारा 'ओम्' रश्मि के सर्वाधिक सूक्ष्म रूप का अव्यक्त संचरण किया जा चुका होता है, जिससे प्रकृति के सत्त्व व रजोगुण तो अत्यन्त सूक्ष्म रूप से व्यक्त हो जाते हैं, परन्तु तमोगुण सर्वथा अव्यक्त ही रहता है। इस प्रक्रिया के साथ-२ सम्पूर्ण प्रकृति में विक्षोभ के विषय में वेद ने संकेत किया है—

'यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम्' (अथर्व.८.९.३)

इसका तात्पर्य है कि प्रकृति के सत्त्व, रजस् व तमस् इन तीन गुणों में परमात्मा वाक् तत्त्व को विशेष रूप से संयुक्त अर्थात् संचरित करता है। यहाँ 'ओम्' रश्मि का सर्वाधिक सूक्ष्म रूप ही वाक् तत्त्व है। यह वाक् तत्त्व ही उन तीनों गुणों को जाग्रत वा सक्रिय करता है। इनमें भी सर्वप्रथम काल तत्त्व को प्रकट करने हेतु सत्त्व व रजस् इन दो गुणों को ही जाग्रत करता है। इन दो गुणों के प्रकट होते ही काल तत्त्व चक्रवत् सतत घूमने लगता है। यह सतत प्रवृत्तमान काल तत्त्व त्रिगुणा प्रकृति को जगाने अर्थात् सक्रिय करने लगता है। यह काल तत्त्व दो गुणों से युक्त प्रकृति पदार्थ में अव्यक्त भाव से संचरित 'ओम्' रश्मियों के रूप में होता है। इसमें मूल प्रकृति की भाँति गुणों की साम्यावस्था नहीं रहती, इस कारण इसे सर्वथा अव्यक्त नहीं माना जा सकता।

काल के स्वरूप के विषय में अथर्ववेद के पूर्वोक्त मन्त्रों में विद्यमान निम्नलिखित पदों पर विचार करते हैं—

1. सहस्राक्ष— अनेक अक्षर रूप अवयव जिसके आधार होते हैं, किंवा इनके ऊपर 'ओम्' रश्मि का परारूप गमन करता है। मूल प्रकृति पदार्थ में सभी अक्षर रश्मि रूप में प्रकट नहीं हो पाते हैं किंवा अव्यक्त अवस्था में विद्यमान होते हैं। परारूप 'ओम्' रश्मि इन सभी अक्षरों के ऊपर व्याप्त होकर गमन करती हुई उन्हें परस्पर नाना पदरूप रश्मियों के रूप में प्रकट करती है। यह 'ओम्' रश्मि ही कालरूप है, जो मूल प्रकृति के साथ मिश्रित होती है।

2. सप्तरश्मि— 'भूः', 'भुवः', 'स्वः', 'महः', 'जनः', 'तपः', 'सत्यम्', ये सात प्रकार की सूक्ष्म छन्द रश्मियाँ सर्वप्रथम इस कालरूप 'ओम्' रश्मि से ही उत्पन्न वा प्रकट होती हैं। यह परारूप 'ओम्' रश्मि किसी भी छन्द रश्मि का उपादान कारण नहीं होती, बल्कि निमित्त कारण होती है, जो त्रिगुणा प्रकृति तथा मनस् तत्त्वादि को प्रेरित करके नाना छन्द

रश्मियों को उत्पन्न करती है। हमारे मत में परारूप 'ओम्' रश्मि कालरूप होकर सत्त्व व रजस्, इन दो गुणों में रमण करती हुई प्रकृति के तीनों गुणों को प्रकट करके महत् एवं मनस् तत्त्वादि को उत्पन्न करती है। इसका आशय है कि काल तत्त्व ही महत् आदि को उत्पन्न करता है। इसके पश्चात् काल तत्त्व मनस्तत्त्व आदि को प्रेरित करके भूरादि सात व्याहृति रूप रश्मियों को उत्पन्न करता है। इन्हीं सात रश्मियों के द्वारा काल तत्त्व अग्रिम रश्मियों को उत्पन्न करता है। इसी कारण काल को 'सप्तरश्मि' कहा गया है अर्थात् जिससे भूरादि सात रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं किंवा जो भूरादि सात रश्मियों को साधन रूप में प्रयोग करता है, वह काल तत्त्व सप्तरश्मि कहलाता है। इस पद में 'सप्त' संख्यावाची पद का एक विशिष्ट महत्त्व है। महर्षि यास्क का कथन है— 'सप्त सृप्ता संख्या' (निरु.४.२६)। इससे संकेत मिलता है कि काल से उत्पन्न सात रश्मियाँ किंवा काल की साधन रूप भूरादि रश्मियाँ परावस्था रूप होकर फैली हुई सी होती हैं। यहाँ ऐसा संकेत मिल रहा है कि ये रश्मियाँ अग्रिम उत्पन्न पश्यन्ती रूप भूरादि अन्य रश्मियों की अपेक्षा फैली हुई एकरसवत् होती हैं। उन ऐसी रश्मियों का काल तत्त्व से साक्षात् सम्बन्ध होता है।

3. अश्व— यह पद स्पष्ट करता है कि कालरूप परा 'ओम्' रश्मियाँ तीव्रगामिनी तथा एकरसवत् सर्वतः व्याप्त होती हैं। यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि जब काल रश्मियाँ अर्थात् परारूप 'ओम्' रश्मियाँ एकरसवत् व्याप्त होती हैं, तब वे गतिशील कैसे हो सकती हैं? गति तो एकदेशी पदार्थ में ही हो सकती है, व्यापक पदार्थ में नहीं, तब काल को आशुगामी क्यों कहा? इस विषय में हमारा मत है— ईश्वर तत्त्व से प्रकृति पदार्थ में परारूप 'ओम्' रश्मि, जो कालरूप होती है, अतितीव्र वेग से सतत सर्वत्र प्रकट होती रहती है, इसी कारण काल को अश्व कहा गया है। यह पदार्थ भी मूल प्रकृतिवत् लगभग अव्यक्त ही होता है।

4. अजर— परारूप 'ओम्' रश्मि सहित प्रकृति पदार्थ, जो काल तत्त्व कहलाता है, वह कभी जीर्ण नहीं होता। प्रलयावस्था में भी प्रकृति को प्रेरित न करते हुए अव्यक्त रूप में यह तत्त्व यथावत् विद्यमान रहता है।

5. भूरिरेता— यह काल तत्त्व ही अनेक प्रकार के पदार्थों व कर्मों का बीजरूप है। सृष्टि के सभी द्रव्य, बल, कर्म, गुण आदि का बीज यही तत्त्व है, जो सबके मूल ईश्वर तत्त्व से उत्पन्न होता है।

6. सप्तचक्र व सप्तनाभि— प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, धनञ्जय व सूत्रात्मा वायु का सप्तक किंवा सात प्रकार की छन्द रश्मियों के चक्र को यह काल तत्त्व ही उत्पन्न एवं वहन करता है। इन सात चक्रों को चलाने हेतु ईश्वर तत्त्व भूरादि सात छन्द रश्मियों को नाभि अर्थात् केन्द्ररूप में प्रयुक्त करता है। इस कारण काल की सात नाभियाँ बतलायी गयी हैं। ये नाभिरूप रश्मियाँ ही उन प्राणादि सात रश्मियों को एक रश्मि रूप में बाँधे रखकर गति भी प्रदान करती हैं किंवा ये उन्हें परमात्म तत्त्व से भी जोड़े रखती हैं।

'कालः' पद की व्युत्पत्ति करते हुए आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश में कहा है— 'कु ईषत् कृष्णत्वं लाति ला+क, कोः कादेशः'। यद्यपि आप्टे ने यहाँ 'कालः' का अर्थ 'काला' ग्रहण किया है तथा एतदर्थ कृष्ण का अर्थ काला ही माना है, परन्तु हम यहाँ 'कृष्णत्वम्' से आकर्षण बलशीलता का ग्रहण करके अति सूक्ष्म आकर्षण बल किंवा बल व गति के प्रारम्भ से युक्त प्रकृति पदार्थ की पूर्वोक्त अवस्था का नाम ही काल ग्रहण कर रहे हैं। यही काल तत्त्व सम्पूर्ण प्रकृति एवं उससे उत्पन्न पदार्थों में प्रारम्भिक बल सदैव उत्पन्न करता रहता है। शेष मास वा प्राणापानादि रश्मियाँ काल की मापक होने के साथ-२ त्रिगुणा प्रकृति के विकार महत् वा मनस्तत्त्व से उत्पन्न होती हैं। ये पदार्थ ही इन रश्मियों के उपादान कारण तथा काल व ईश्वर निमित्त कारण हैं। इन रश्मियों में तमोगुण की मात्रा अन्य रश्मियों की अपेक्षा न्यून होती है। इनके विषय में आगे विस्तार से लिखा जाएगा। अब हम प्राणतत्त्व के सम्बन्ध में प्राण सूक्त के कुछ मन्त्रों को उद्धृत करते हैं—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ १॥

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥ १०॥

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥ १२॥

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ १५॥ (अथर्व.११.४)

यहाँ प्राणतत्त्व को सभी उत्पन्न पदार्थों को नियन्त्रित व धारण करने वाला, उन्हें सतत

आच्छादित करने वाला, सूर्य, चन्द्र आदि लोकों एवं प्रजापति अर्थात् वाक् एवं मनस्तत्त्व किंवा नाना संयोगादि क्रियाओं, अन्तरिक्ष में शयन करने वाले वायु तत्त्व एवं भूत, भविष्यत् आदि कालों में उत्पन्न विभिन्न पदार्थों में प्रतिष्ठित बताया है।

यहाँ प्राण तत्त्व का स्वरूप पूर्वोक्त काल तत्त्व के स्वरूप से प्राय: मेल खाता है। इसी कारण अहोरात्र रूप प्राणापानोदान रश्मियाँ भी काल तत्त्व का ही रूप हैं किंवा उसका एक मापक परिमाण विशेष हैं। इसी प्रकार मास, ऋतु आदि को भी समझा जा सकता है, क्योंकि ये सभी प्राण रश्मियों का ही रूप हैं। प्राण रश्मियों के विषय में हम आगे चर्चा करेंगे।

महाप्रलय में काल तत्त्व—

प्रश्न— आपके अनुसार प्रकृति पदार्थ में 'ओम्' रश्मि के सबसे सूक्ष्म स्वरूप के उत्पन्न होने पर वह पदार्थ काल के रूप में प्रकट होता है अर्थात् सर्वप्रथम एवं सर्वाधिक सूक्ष्म बल व क्रिया की उत्पत्ति होती है। तब महाप्रलय काल में काल का अस्तित्व सर्वथा असिद्ध हो जाता है, ऐसी स्थिति में प्रलय काल में मुक्तात्माओं का गमनागमन तथा सृष्टि के प्रारम्भ होने के काल का ज्ञान कैसे होता है अर्थात् ईश्वर तत्त्व कैसे उचित व निश्चित समय पर सर्ग रचना प्रारम्भ कर पाता है?

उत्तर— आपका प्रश्न स्वाभाविक है। वस्तुत: 'ओम्' के सूक्ष्मतम स्वरूप तथा विभिन्न अक्षररूप वाक् तत्त्व का कभी पूर्ण विनाश नहीं होता, इसी कारण इन्हें अक्षर रश्मि कहा जाता है। हाँ, महाप्रलय काल में इस सर्वथा अव्यक्त अक्षर 'ओम्' का प्रकृति रूप पदार्थ से साक्षात् सक्रिय सम्बन्ध नहीं होता। ईश्वर तत्त्व की दृष्टि में 'ओम्' रश्मि का वह रूप सदैव बना रहता है, क्योंकि ईश्वर अर्थात् 'ओम्' वाच्य परमात्म तत्त्व सदैव जाग्रत रहता है। बद्ध व मुक्तात्माओं के सम्पर्क में यह 'ओम्' रश्मिमय पदार्थ अर्थात् काल तत्त्व अवश्य अपने अव्यक्ततम रूप में बना रहता है। यह प्रलयकाल तक इसी रूप में बना रहता है तथा अन्य प्रकृति रूप पदार्थ में यह परमेश्वर में बीजरूप में अनादि एवं अनन्त रूप में सदैव विद्यमान रहता है। इस अजर काल चक्र के कारण ही सृष्टि-प्रलय का चक्र नियमित व निरन्तर चलता रहता है।

प्रश्न— ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में वैशेषिक दर्शन के सूत्र

'नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति' (वै.द.२.२.९) का भाष्य करते हुए लिखा है—

"जो नित्य पदार्थों में न हो और अनित्यों में हो, इसलिए कारण में ही काल संज्ञा है।"

यहाँ काल का नित्य पदार्थ (ईश्वर, जीव तथा प्रकृति) में विद्यमान न होना लिखा है, तब आपने काल को प्रलय काल में जीवात्माओं के सम्पर्क में रहने वाला क्यों लिखा है?

उत्तर— हमारे कथन का ऋषि के इस कथन से कोई विरोध नहीं है। हमने कहीं नहीं लिखा कि जीवात्माओं के अन्दर काल तत्त्व विद्यमान होता है, बल्कि यह लिखा है कि कालतत्त्व उनके सम्पर्क में रहता है। 'ओम्' रश्मि के परारूप मूल प्रकृति से सम्पृक्त रूप को काल कहा है। यहाँ नित्य पदार्थ में काल के निषेध तथा अनित्य पदार्थों में विद्यमान होने का आशय यही है कि काल तत्त्व नित्य पदार्थों को जीर्ण नहीं करता है और न कर ही सकता है, जबकि यह काल तत्त्व अनित्य पदार्थों में व्याप्त होकर उन्हें निरन्तर जीर्ण करता रहता है।

प्रश्न— काल अनित्य पदार्थों को जीर्ण कैसे करता है? जो काल सभी पदार्थों को प्रेरित व सक्रिय करता है, उसी काल के कारण सभी अनित्य पदार्थ जीर्ण कैसे हो जाते हैं?

उत्तर— आपका प्रश्न स्वाभाविक भी है और महत्त्वपूर्ण भी। हम जानते हैं कि कोई भी अनित्य पदार्थ मूल प्रकृति का विकार ही होता है और विकार सदैव संयोगजन्य होता है। कोई भी संयोगजन्य पदार्थ अनादि क्यों नहीं हो सकता? आइये, हम इस पर विचार करते हैं। संयुक्त पदार्थों के मध्य एक बल कार्य करता है, जिसे वर्तमान विज्ञान गुरुत्व बल, विद्युत् चुम्बकीय बल अथवा प्रबल नाभिकीय बल आदि नामों से सम्बोधित करता है। इन बलों के लिए कुछ मध्यस्थ कण (मीडियेटर पार्टिकल) उत्तरदायी होते हैं। इन कणों का संयुक्त हो रहे वा संयुक्त हो चुके कणों के मध्य विनिमय होता रहता है। इस विनिमय के पीछे जो बल उत्तरदायी है, उसे वर्तमान विज्ञान नहीं जानता। इन सब बलों की शृंखला में 'ओम्' रश्मि अर्थात् काल का बल मूल में रहता है। परमात्मा सबका मूल है ही। इस प्रकार सभी जड़ बलों में गति का विद्यमान होना अनिवार्य है, परन्तु गति कभी अनादि नहीं हो सकती, इसी कारण कोई भी संयोग अनादि कभी नहीं हो सकता। इसलिए सृष्टि का कोई पदार्थ अनादि व अजर नहीं हो सकता। यहाँ प्रत्येक पदार्थ के उत्पन्न होने, जीर्ण होने तथा नष्ट होने की

एक सुनिश्चित व्यवस्था है। यह सम्पूर्ण व्यवस्था ईश्वर तत्त्व के प्रेरण व निर्देशन में ही होती है, अन्यथा काल ऐसा नहीं कर सकता।

प्रश्न— जब काल तत्त्व से महत् से लेकर विशाल लोक-लोकान्तरों तक की उत्पत्ति होती है और वह प्रकृति की एक अवस्था विशेष का नाम है, तब वह सृष्टि का उपादान कारण है वा निमित्त कारण? काल का क्रियाविज्ञान क्या है?

उत्तर— जैसा कि हम लिख चुके हैं कि काल तत्त्व त्रिगुणयुक्त प्रकृति पदार्थ को प्रेरित व सक्रिय करता है, परन्तु स्वयं किसी भी उत्पन्न पदार्थ का उपादान कभी नहीं बनता। ध्यातव्य है कि काल तत्त्व स्वयं भी मूल चेतन प्रेरक ईश्वर तत्त्व द्वारा सतत प्रेरित होता रहता है। वह काल तत्त्व कभी भी ईश्वर तत्त्व की प्रेरणा से पृथक् नहीं हो सकता। काल द्वारा प्रेरित त्रिगुणा प्रकृति महत्तत्त्व को जन्म देती है। यह महत्तत्त्व भी काल द्वारा प्रेरित व धारण किया जाता है। इसका धारण स्थान त्रिगुणा प्रकृति ही होता है। तदुपरान्त महत्तत्त्व से आगामी पदार्थों की उत्पत्ति प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इस सम्पूर्ण शृंखला में ईश्वर द्वारा प्रेरित काल तत्त्व की प्रेरणा सदैव बनी रहती है और सृष्टि के पदार्थों में सर्वत्र काल तत्त्व की विद्यमानता होती है, तब ईश्वर तत्त्व की अविद्यमानता का प्रश्न ही नहीं है। ये दोनों तत्त्व अर्थात् ईश्वर व काल दोनों ही निमित्त कारण के रूप में ही कार्य करते हैं, उपादान रूप में कदापि नहीं।

काल का क्रियाविज्ञान—

अब रहा प्रश्न यह कि कालतत्त्व का क्रियाविज्ञान क्या है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि 'ओम्' रश्मि रूप काल रश्मियाँ सर्वप्रथम मूल प्रकृति तत्त्व को सृष्टि के सबसे सूक्ष्म प्रेरण से युक्त करके उसे विकृत करना प्रारम्भ करती हैं। प्रकृति में अव्यक्त रूप में विद्यमान विभिन्न अक्षर रूप वाक् तत्त्व जाग्रत होकर मूल प्रकृति को क्रमशः महत्, अहंकार व मनस्तत्त्व के रूप में प्रकट करता है, परन्तु सत्त्व व रजस् गुणों से युक्त प्रकृति अर्थात् 'ओम्' का कालरूप स्वयं सदैव अविकृत रहकर तमोगुण के साथ अन्य दोनों गुणों से सम्पृक्त प्रकृति को ही सृष्टि रचना हेतु प्रेरित व विकृत करता है। वह काल तत्त्व 'ओम्' के पश्यन्ती रूप को प्रकट करके मनस्तत्त्व में स्पन्दन व क्रियाशीलता उत्पन्न करके भूरादि सप्त सूक्ष्म रश्मियों को प्रकट करता है। इसके पश्चात् इन भूरादि रश्मियों को साधन बनाकर प्राणापानादि सात मुख्य प्राण रश्मियों, पुनः अन्य प्राण, मरुत् व छन्द रश्मियों को प्रकट करके सृष्टि चक्र

को आगे बढ़ाता है। वर्तमान में भी काल तत्त्व प्रत्येक पदार्थ— मूलकणों, तरंगों, स्पेस आदि के अन्दर विद्यमान रहकर उनमें विद्यमान 'ओम्' के पश्यन्ती रूप, भूरादि से लेकर सभी रश्मियों को प्रेरित करके सबको सक्रिय करता है, साथ ही उनमें उचित जीर्णता भी लाता रहता है।

प्रश्न— आपने प्रेरण, जागरण आदि शब्दों का प्रयोग किया है। ईश्वर काल को प्रेरित करता है, काल प्रकृति को, पुनः प्रेरण व जागरण क्रिया आगे चलती रहती है। प्रेरण व जागरण कर्म का स्वरूप क्या है? क्या ईश्वर व काल आदि पदार्थ अग्रिम पदार्थों में ऊर्जा का संचरण करते हैं? क्या ये स्वयं ऊर्जायुक्त पदार्थ हैं किंवा स्वयं ही ऊर्जास्वरूप हैं?

उत्तर— यह प्रश्न वर्तमान परम्परा के वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में अवश्य उत्पन्न होता है। हमारे एक न्यासी प्रो. वसन्त मदनसुरे, जो एक विश्वविद्यालय में इंजीनियरिंग के प्रोफेसर रहे हैं तथा इस ग्रन्थ के सम्पादक हमारे मानस पुत्र प्रिय विशाल आर्य (अग्नियश वेदार्थी), जो इस संस्थान में प्राचार्य पद पर कार्यरत हैं, ने अपनी चर्चाओं में ऐसा प्रश्न उठाया है। मुझे प्रतीत होता है कि अन्य अनेक व्यक्तियों के मन में उठने वाला यह प्रश्न उन्हें उलझन में फँसाये रहेगा, इस कारण मैंने इसका समाधान करना आवश्यक समझा है। वर्तमान विज्ञान पदार्थ के तीन स्वरूपों पर ही चर्चा करता है। वे स्वरूप हैं— द्रव्य (मैटर), ऊर्जा (एनर्जी) एवं आकाश (स्पेस)। इनमें आकाश के विषय में उसे नगण्य ज्ञान ही है। शेष दो पदार्थों में ऊर्जा का स्वरूप द्रव्य की अपेक्षा सूक्ष्म है।

यद्यपि वर्तमान विज्ञान ऊर्जा के स्वरूप के विषय में भी विशेष ज्ञान नहीं रखता, भले ही वह संसार में इसका अपार दोहन व उपयोग कर रहा है। वैक्यूम एनर्जी व डार्क एनर्जी के विषय में उसे अभी नितान्त अन्धकार वा भ्रम ही दिखाई देता है। विद्युत् चुम्बकीय तरंगों व ध्वनि ऊर्जा से परिचित होते हुए भी इनका भी पूर्ण स्वरूप वर्तमान विज्ञान को अभी अज्ञात है। इस कारण इन ऊर्जाओं से परे कोई पदार्थ होता है, वह इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। वह समझता है कि जैसे विद्युत् प्रेरण, चुम्बकीय प्रेरण अथवा यान्त्रिक प्रेरण होता है, वैसे ही ईश्वर व काल जैसे सूक्ष्म पदार्थों द्वारा प्रेरण होना चाहिए। वैसे ही शरीर में जीवात्मा द्वारा सूक्ष्म शरीर व स्थूल शरीर में प्रेरण होना चाहिए। हम इस विषय पर विचार करते हैं—

हम लोक में प्रेरणा वा जागरण के भिन्न-२ रूप देखते हैं। एक व्यक्ति किसी पशु को डंडे से हाँकता है, तब वह उस पशु को डंडे से किसी कार्य को करने की प्रेरणा ही करता है। पिता अपने उद्दण्ड पुत्र को ताड़ना से ही प्रेरणा करता है, उसे धक्का मार-२ कर कहीं भेजता है। उस प्रेरणा के उपरान्त वह पुत्र जाने वा कार्य करने को विवश होता है। वही पिता अपने बुद्धिमान् तथा आज्ञाकारी पुत्र को आँख के संकेत मात्र से प्रेरणा करके त्वरित क्रियाशील बना देता है। इन दोनों ही प्रक्रियाओं में क्या वैज्ञानिक यह कहेगा कि वह व्यक्ति पशु में अथवा पिता अपने पुत्र में कोई ऊर्जा संचरित कर रहा है? जड़ वस्तुओं में प्रेरण का तात्पर्य ऊर्जा संचरण हो सकता है, परन्तु चेतन के स्तर पर ऐसा विचार अपरिपक्व है।

जब चेतन अन्य चेतन प्राणी को प्रेरणा देता है, तब कोई ऊर्जा संचरण तो नहीं होता, बल्कि मन की रश्मियों के द्वारा प्रेरणा अवश्य होती है। मन की रश्मियों को कोई भौतिक-विज्ञानी न तो देख सकता है और न अनुभव कर सकता है। मन की इन सूक्ष्म रश्मियों का प्रेरण ही अन्य प्राणियों को सक्रियता प्रदान करता है। उसकी क्रियाशीलता के लिए आवश्यक ऊर्जा उसके शरीर में ही विद्यमान होती है, जिसे अन्य प्राणी के मन की तरंगों ने प्रेरित मात्र किया। यह प्रेरणा आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र का विषय नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर द्वारा काल को प्रेरित करना वर्तमान विज्ञान की सीमा से बाहर का विषय है। काल द्वारा प्रकृति, मन व प्राण तत्त्व को प्रेरित करना भी वर्तमान विज्ञान की दृष्टि के बाहर की बात है। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि विद्युत् आवेश के उत्पन्न होने के पश्चात् प्रारम्भ होती है, इसके पूर्व के कार्यों को वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से न तो विचार सकते हैं और न परिभाषित वा व्यक्त ही कर सकते हैं। मान लें एक व्यक्ति किसी कार्य को तीव्रता से करते हुए किसी शोक समाचार से आहत होकर अपने को दुर्बल समझकर बैठ जाता है, वह वास्तव में दुर्बल हो भी जाता है। यदि कोई कहे कि उसकी ऊर्जा कहाँ संचरित हो गयी? वह कार्य क्यों नहीं कर पा रहा, तो वर्तमान भौतिकी के आधार पर कोई ऊर्जा विज्ञानी इसका क्या उत्तर देगा? वह जो भी उत्तर देगा, वह वर्तमान भौतिकी से कुछ हटकर ही देगा।

आशा है विज्ञ पाठक इतने मात्र से प्रेरण व जागरण का भाव समझ जायेंगे। पुनरपि सारांशतः ईश्वर काल को अव्यक्त व अज्ञेय भाव से प्रेरित व उत्पन्न करता है। पुनः काल प्रकृति में सूक्ष्म प्रेरण व स्पन्दन प्रारम्भ करता है। इस कार्य में ईश्वरीय प्रेरणा व बल अवश्य विद्यमान रहता है। पुनः प्रकृति स्पन्दित व विकृत होकर महत्-अहंकार व मनस्तत्त्व में

परिवर्तित हो जाती है। उसके पश्चात् यह प्रेरण व स्पन्दन प्रक्रिया आगे चलती है। किसी भी पदार्थ में उसके पूर्ववर्ती पदार्थ का प्रेरण अवश्य विद्यमान होता है। इस प्रकार सभी सूक्ष्म से स्थूल पदार्थ परस्पर ईश्वर व काल के प्रेरण द्वारा एक शृंखला में बँधकर कार्य करते हैं। क्या विद्युत् प्रेरण आदि को भी कोई भौतिकविद् मुझे पूर्ण रूप से समझा सकता है? कदाचित् नहीं, तब काल व ईश्वर वा मनस्तत्त्वादि का प्रेरण कर्म तो अति सूक्ष्म है, उसे स्पष्ट व्याख्यात करना सम्भव नहीं है।

प्रश्न— वर्तमान वैज्ञानिक काल को आकाश से जोड़कर अनेक गणितीय संकल्पनाओं को प्रस्तुत करते हैं तथा इनको प्रकाश की तरंगों से सम्बद्ध करके काल व आकाश की सिंगुलैरिटी की चर्चा करते हैं। काल के रुकने, धीमे व तीव्र गति से चलने की बात करते हैं, उस विषय में आपका क्या मत है?

उत्तर— वर्तमान विज्ञान काल व आकाश ही नहीं, अपितु विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की आन्तरिक संरचना व स्वरूप के विषय में भी प्रायः अनभिज्ञ है। इस अनभिज्ञता से तीनों का असंगत व अस्वाभाविक मेल करने का असफल प्रयास करता है, इस कारण अनेक मिथ्या धारणाओं को प्रस्तुत करता है। काल तत्त्व आकाश तत्त्व से अति सूक्ष्म तत्त्व है। आकाश प्राण व सूक्ष्म छन्द रश्मियों से निर्मित पदार्थ है, जिसके विषय में आगे यथास्थान लिखा जायेगा। प्रबल गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र में किसी पदार्थ की गति कम होने वा बन्द होने का अर्थ यह नहीं है कि वहाँ काल रुक गया है, बल्कि उसका आशय यह है कि वहाँ वर्तमान वह प्रबल बल, फिर चाहे वह गुरुत्वाकर्षण बल हो अथवा अन्य कोई बल, उस पदार्थ की गति को रोक अथवा प्रभावित कर रहा है। कोई व्यक्ति चलती साइकिल के पहिये को थाम ले, तो इसका आशय यह नहीं है कि वहाँ काल रुक गया। यह वर्तमान वैज्ञानिकों को भारी भ्रम है। आकाश तत्त्व विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के गमन करने का एक आधार है, जैसे किसी कार को चलने के लिए सड़क एक आधार है। इस कारण इन रश्मियों का आकाश तत्त्व से सम्बन्ध अवश्य है। काल तो वैसे ही सबके साथ निरपेक्ष व समान सम्बन्ध रखता ही है, अन्यथा किसी भी वस्तु में कोई क्रिया न हो सके, अस्तु।

प्रश्न— वर्तमान वैज्ञानिक काल के आगे व पीछे जाने की चर्चा करते हैं, इससे वे किसी घटना के भविष्य व भूत में जाने पर अनुसन्धान कर रहे हैं। इस विषय में आपका क्या कहना

है ?

उत्तर— इस प्रश्न पर हमारा प्रतिप्रश्न यह है कि काल के पीछे जाने अर्थात् भूत में जाने का अर्थ क्या है ? क्या कोई वृद्ध वैज्ञानिक काल को पीछे ले जाकर अपने पूर्व युवा वा शिशु रूप को प्राप्त कर सकता है ? क्या वह दिवंगत व्यक्तियों का साक्षात् कर सकता है ? क्या रामायण, महाभारत काल में जाकर इस धरती पर उस युग व उसमें विद्यमान मनुष्यों, देवों व अन्य सम्पूर्ण परिस्थिति को वापिस ला सकता है ? हमारा निश्चित मत है कि ऐसा सम्भव नहीं है। यदि यह सम्भव नहीं है, तब काल के पीछे जाने का अर्थ ही क्या रह जाता है ? हाँ, हम यह तो स्वीकार करते हैं कि कोई योगी भूत की घटनाओं को अपने योगबल से जान सकता है। कभी भविष्य में वैज्ञानिक किसी तकनीक का आविष्कार करके महाभारत युद्ध की ध्वनियों व रूपों को सुन व देख भी सकते हैं, परन्तु वास्तव में वे उन योद्धाओं को पुनर्जीवित नहीं कर सकते और न इस पृथिवी पर उसी परिस्थिति को वास्तव में उत्पन्न कर सकते हैं।

किसी रसायन के प्रयोग से वृद्ध व्यक्ति युवा भी बन सकता है, परन्तु इसका भी यह अर्थ नहीं है कि काल वापिस लौट आया है। काल के लौटने से नदी, पर्वत, वृक्ष, सम्पूर्ण भौगोलिक व पर्यावरणीय तन्त्र सभी कुछ भूतकाल जैसा हो जाना चाहिए, लेकिन क्या कोई ऐसा कर सकता है ? कदापि नहीं। विज्ञान बल व ऊर्जा की किसी विशेष तकनीक के आधार पर किसी पदार्थ विशेष में होने वाली प्रक्रियाओं को मन्द वा तीव्र तो कर सकता है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि काल की गति को नियन्त्रित करके ऐसा किया गया। जब आप यह ही नहीं जानते कि काल किस वस्तु का नाम है, तब उसके तीव्र वा मन्द होने की चर्चा करके क्या दर्शाना चाह रहे हैं ?

अब भविष्य में जाने को लेकर कुछ विचार करें। हम यह जानना चाहते हैं कि इसका क्या अर्थ है ? क्या आप इससे यह बताना चाहते हैं कि आप भविष्य में जाकर किसी शिशु के पौत्र का विवाह कर सकते हैं ? भविष्य में होने वाली हर परिस्थिति को प्रत्यक्ष कर सकते हैं ? तो यह निरी कल्पना है। भूत तो निश्चित भी होता है, परन्तु भविष्य तो निश्चित भी नहीं, तब उसका साक्षात् कैसे होगा ? कोई उच्च कोटि का योगी भविष्य का कुछ ज्ञान कर ले, यह सम्भव है, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होगा कि उसने काल को आगे खिसका दिया। क्या

कोई व्यक्ति काल को आगे खिसका कर स्वयं को चिता में जलते देख सकता है? क्या क्षण भर में भविष्य के भूगोल का साक्षात् कर सकता है?

वस्तुतः गणित के मिथ्या मकड़जाल में फँसकर काल को बिना समझे वर्तमान विज्ञान स्वयं उपहास का पात्र बन रहा है। वर्तमान वैज्ञानिक आइंस्टीन के सापेक्षता के सिद्धान्त का भारी दुरुपयोग करते प्रतीत हो रहे हैं। काल को आकाश से जोड़कर वैज्ञानिक भारी भ्रान्ति में जी रहे हैं। वे दोनों के स्वरूप को नहीं जानते, तब भी दोनों का घालमेल करके छेड़छाड़ कर रहे हैं, फिर इसका परिणाम तो विपरीत ही होगा। वे काल और अवधि के अन्तर को भी नहीं समझ पा रहे हैं। यदि कोई व्यक्ति लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई को अथवा उनके मापक मीटर, फीट आदि को ही आकाश मान ले, तो क्या यह उसका भारी भ्रम वा मूर्खता नहीं होगी? यही स्थिति घण्टा, मिनट, सेकण्ड आदि अवधि मापी मापकों को काल मानने से होगी। इस पर भी इन्हें आपस में जोड़ने से कोढ़ में खाज जैसी स्थिति बन जायेगी। वैदिक विज्ञान से अनभिज्ञ वर्तमान विज्ञान ऐसी भूलें सदियों से कर रहा है और आगे भी करता रहेगा।

प्रश्न— काल एवं समय वा समयावधि में क्या भेद है? जिसे हम क्षण, मुहूर्त, दिन, मास, वर्ष में मापते हैं, उसका आपके द्वारा परिभाषित काल से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर— काल के विषय में हम विस्तार से लिख ही चुके हैं। इसे महर्षि कणाद ने द्रव्यों के अन्तर्गत माना है, उधर समय वा समयावधि का प्रयोग मात्र व्यावहारिक है। किसी क्रिया विशेष को पूर्ण करने में अर्थात् किसी घटना विशेष में काल रश्मियों के स्पन्दन की मात्रा ही समय की माप कहाती है। 'ओम्' रश्मि का एक स्पन्दन समय का सबसे सूक्ष्म माप है। इससे सूक्ष्म इस सृष्टि में कभी भी कहीं भी कोई घटना नहीं हो सकती। प्राण, अपान, मास, ऋतु आदि भी कालमापी रश्मियाँ हैं। एक प्राण के स्पन्दन की घटना में कितनी 'ओम्' रश्मियाँ स्पन्दित होती हैं, यह प्राण रश्मि का माप है। इसी प्रकार अन्यों के विषय में भी समझें। एक सेकण्ड में कितनी प्राण रश्मियाँ वा 'ओम्' रश्मियाँ स्पन्दित होती हैं, इसे कोई नहीं जानता।

हम घंटा, मिनट, सेकण्ड, दिन, मास, वर्ष आदि के द्वारा 'ओम्' रश्मियों के स्पन्दनों को ही मापते हैं, भले ही हम उसे जानते नहीं हैं। इस कारण वर्तमान भौतिकविद् सीजियम

१३३ एटम के दो अति सूक्ष्म ऊर्जा स्तरों के मध्य विकिरण के ९,१९,२६,३१,७७० संक्रमण की अवधि को एक सेकण्ड मानते हैं। वर्तमान में समय की सबसे सूक्ष्म माप प्लांक समय मानी जाती है, जो ५.३९१×$१०^{-४४}$ से. के बराबर होती है। न केवल 'ओम्' रश्मि के स्पन्दन, अपितु प्राणापानादि के स्पन्दनों की अवधि भी प्लांक समय से न्यून होती है। इस कारण इन स्पन्दनों को वर्तमान विज्ञान द्वारा कभी नहीं मापा जा सकता।

इस सृष्टि में जो भी घटनाएँ हो रही हैं, वे सब विभिन्न प्रकार की गतियों के कारण हो रही हैं। उन सब गतियों का मूल कारण काल ही है अर्थात् 'ओम्' रश्मियों का स्पन्दन है। इन स्पन्दनों से अग्रिम चरण के स्पन्दन, पुनः नाना प्रकार के कणों व लोकों की गतियाँ सभी काल के ही कारण हो रही हैं। इन गतियों के कारण ही हम समयान्तराल को माप सकते हैं। दो घटनाओं का अन्तराल ही समय का कोई माप होता है, क्योंकि घटनाओं का मूल उत्तरदायी काल होता है, इस कारण लोक में समयान्तराल वा समय को काल नाम देते हैं। काल में तमोगुण का अभाव होने से इसकी रश्मियाँ सतत समान लय से गमन करती रहती हैं। इसमें कभी उतार-चढ़ाव नहीं होता। काल सब पदार्थों को क्षीण भी करता रहता है और क्षीणता की मात्रा को भी काल में ही मापा जाता है। क्षीणता-नवीनता, शीघ्रता-चिरकारिता, पूर्व-पश्चात्, ये लक्षण सभी गतिमान पदार्थों में ही घटते हैं अर्थात् सभी काल के कारण ही सम्भव हैं। इस कारण इन लक्षणों को काल का ही लक्षण कह देते हैं।

महत्, अहंकार व मन

यह काल तत्त्व सर्वप्रथम जिस तत्त्व को उत्पन्न करता है, उसे ब्राह्मण ग्रन्थों में 'प्रजापति' कहा गया है। इसके साथ ही महत् वा मनस्तत्त्व को भी प्रजापति कहा गया है। इस विषय में ऋषियों का कथन है—

प्रजापतये मनवे स्वाहा (तै.सं.४.१.९.१, मै.सं.२.७.७),
प्रजापतिर्वाव महान् (तां.ब्रा.४.१०.२),
प्रजापतिर्वै मनः (कौ.ब्रा.१०.१, २६.३; श.ब्रा.४.१.१.२२),
मन इव वै प्रजापतिः (काठ.सं.३१.१५, ३५.१७), महद्रूपो वै प्रजापतिः (जै.ब्रा.२.१२)

इन प्रमाणों से महत्तत्त्व एवं मनस्तत्त्व का प्रजापति रूप होना सिद्ध होता है। इस सृष्टि में यही वह प्राथमिक पदार्थ है, जो बल, क्रिया आदि का बीजरूप तथा प्रकृति के प्रायः

अव्यक्त भाव से युक्त होता है तथा जो विकार को प्राप्त होकर नाना पदार्थों के रूप में प्रकट होता है। सुश्रुत संहिता में कहा गया है—

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव (शारीरस्थानम् १.४)

अर्थात् महत्तत्त्व भी अव्यक्त प्रकृति के लक्षण से युक्त अर्थात् अव्यक्तवत् ही होता है। हमारे मत में यह सर्वथा अव्यक्त नहीं होता। हमारे मत की पुष्टि आगे उद्धृत महाभारत के प्रमाण से होती है। सांख्यदर्शन में महर्षि कपिल ने महत्, अहंकार एवं मन तीनों पदार्थों को पृथक्-२ माना है। यद्यपि सांख्यदर्शन के सूत्र—

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः [१.३६ (७१)]

से ऐसा संकेत भी मिलता है कि यहाँ महत् को मन ही कहा गया है। जो आन्तर इन्द्रिय रूप मन है, वह इससे पृथक् इनका कार्यरूप आगामी पदार्थ है। महत् अर्थात् मनस्तत्त्व को बुद्धि नाम भी दिया गया है तथा उसका लक्षण करते हुए कहा—

अध्यवसायो बुद्धिः (सां.द.२.१३)

इसका अर्थ है कि यह सतत प्रयत्न करने के धर्म से युक्त होता है। महत्तत्त्व के विषय में भगवान् ब्रह्मा का कथन है—

अव्यक्तात्पूर्वमुत्पन्नो महानात्मा महामतिः।
आदिर्गुणानां सर्वेषां प्रथमः सर्ग उच्यते॥ १॥

महानात्मा मतिर्विष्णुर्जिष्णुः शम्भुश्च वीर्यवान्।
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च तथा ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः॥ २॥

(महाभारत आश्वमेधिक पर्व, अनुगीतापर्व अध्याय ४०)

यहाँ महत्तत्त्व के अनेक पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख है, जिनकी व्याख्या हम निम्नानुसार कर रहे हैं—

१. महान् — अत्यन्त व्यापक होने से महान् कहाता है।

२. आत्मा — यह सृष्टि के सभी जड़ पदार्थों के भीतर आत्मा के समान विचरने से आत्मा कहाता है।

३. मतिः — [मन्यते इति कान्तिकर्मा (निघं.२.६), मन्यते इति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)] यह पदार्थ सूक्ष्म, परन्तु व्यापक बल तथा अति मन्द अव्यक्त दीप्ति से युक्त होता है। इस पदार्थ में वाक् तत्त्व अर्थात् सूक्ष्मतम 'ओम्' रश्मियाँ एकरस होकर व्याप्त वा विचरती रहती हैं, इसी कारण महर्षि याज्ञवल्क्य ने वाक् तत्त्व को भी मति कहते हुए लिखा है—

'वाग्वै मतिर्वाचा हीदं सर्वं मनुते' (श.ब्रा.८.१.२.७)

४. विष्णुः — [विष्णुः = व्याप्तुशीलं विद्युद्रूपाग्निः (तु.म.द.य.भा.१२.५), यज्ञो वै विष्णुः (श.ब्रा.१.९.३.९)] यही महत्तत्त्व सर्वप्रथम संयोग-वियोगादि गुणों से युक्त होकर नाना पदार्थों का निर्माण प्रारम्भ करता है। ऋषि दयानन्द की दृष्टि में कदाचित् कारण विद्युत् भी यही है, जो एकरस प्रकृति अवस्था के किंचित् विक्षुब्ध रूप में विद्यमान होती है।

५. जिष्णुः — यह पदार्थ सभी पदार्थों को नियन्त्रित करने के स्वभाव वाला होता है अर्थात् किंचिद् व्यक्त बल की उत्पत्ति सर्वप्रथम यहीं होती है।

६. शम्भुः — यह पदार्थ सृष्टि की विभिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न क्षोभकारी अनिष्ट रश्मि आदि पदार्थों को शान्त करने में अन्तिम भूमिका निभाता है।

७. वीर्यवान् — यह पदार्थ विभिन्न पदार्थों की उत्पत्ति प्रक्रियाओं का बीजारोपण करता है।

८. बुद्धिः — इसी तत्त्व के कारण प्राणियों में निश्चय करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है अर्थात् जिस प्राणी के अन्दर इस तत्त्व का जितना अधिक भाग विद्यमान होता है, वह प्राणी उतनी ही अधिक विचार शक्ति से सम्पन्न होता है।

९. प्रज्ञा — इसी के कारण प्राणी प्रकृष्ट ज्ञानसम्पन्न होते हैं।

१०. उपलब्धिः — यह पदार्थ अपने निकटस्थ पदार्थों को ग्रहण करने के स्वभाव वाला होता है।

११. ख्यातिः — यहीं से जड़ पदार्थ मानो प्रकटावस्था में आना प्रारम्भ करता है अर्थात् प्रकृति की अव्यक्तावस्था भंग हो जाती है।

१२. धृतिः — यह पदार्थ सभी पदार्थों को धारण करने में समर्थ होता है।

१३. स्मृतिः — [स्मृतिः = स्मृ प्रीतिसेवनयोः, प्रीतिचलनयोर्वा] इसके कारण ही प्रत्येक

पदार्थ संरक्षित व गतिशील रह पाता है। वह अपनी रक्षा के स्वभाव से भी युक्त होता है तथा इसी के कारण प्राणी स्मरण शक्ति से युक्त होते हैं।

अहंकार तत्त्व के विषय में भगवान् ब्रह्मा कहते हैं—

य उत्पन्नो महान् पूर्वमहंकारः स उच्यते।
अहमित्येव सम्भूतो द्वितीयः सर्ग उच्यते॥ १॥

अहंकारश्च भूतादिर्वैकारिक इति स्मृतः।
तेजसश्चेतना धातुः प्रजासर्गः प्रजापतिः॥ २॥

देवानां प्रभवो देवो मनसश्च त्रिलोककृत्।
अहमित्येव तत्सर्वमभिमन्ता स उच्यते॥ ३॥
(महाभारत आश्वमेधिक पर्व, अनुगीतापर्व, अध्याय ४१)

अर्थात् पूर्वोत्पन्न महत्तत्त्व ही उस समय अहंकार कहलाता है, जब यह अपनी प्रकटावस्था रूप द्वितीय सृष्टि के रूप में होता है। यह तत्त्व पञ्चभूतों का कारण होने से वैकारिक कहलाता है। यह तेज का धारणकर्त्ता व आत्मा वा परमात्मा के द्वारा धारण किया जाता है। इससे नाना पदार्थ उत्पन्न होने से इसे प्रजापति भी कहते हैं। इससे नाना देव पदार्थ अर्थात् विभिन्न प्राण, इन्द्रियाँ व मन (आन्तर इन्द्रिय) एवं [लोकः = छन्दांसि वै सर्वे लोकाः (जै.ब्रा.१.३३२), एता वै व्याहृतय इमे लोकाः (तै.ब्रा.२.२.४.३)] भूरादि तीन व्याहृति छन्द रश्मियों रूपी लोक उत्पन्न होते हैं, साथ ही सभी छन्द रश्मियाँ इसी से उत्पन्न होती हैं। यह सम्पूर्ण सृष्टि अहंकार रूप ही है तथा उसी के द्वारा नाना कामनाओं अर्थात् आकषर्णादि बलों से युक्त होती है। इसीलिए महर्षि कपिल ने कहा है—

'अभिमानोऽहंकारः' (सां.द.२.१६)

अहंकार के भेद

[अभिमानः = अभि+मन् = कामना करना, लालायित होना, चोट पहुँचाना वा पहुँचाने का प्रयत्न करना —आप्टेकोश] इसका तात्पर्य है कि इस पदार्थ में सर्वत्र आकर्षण एवं भेदक बल उत्पन्न होकर क्रियाशीलता उत्पन्न होने लगती है। महत्तत्त्व का चरम रूप ही अहंकार कहलाता है, इसकी पुष्टि महर्षि कपिल भी करते हैं—

चरमोऽहङ्कारः [सां.द.१.३७ (६२)]

इस तत्त्व के तीन प्रकार बतलाते हुए महर्षि सुश्रुत ने लिखा है—

तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते,
स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति॥ (सु.सं., शारीरस्थानम् १.४)

उधर महर्षि कपिल का कथन है—

एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्।
सात्त्विकमेकादशं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात्॥ (सां.द.२.१७-१८)

इसे और स्पष्ट करते हुए महर्षि सुश्रुत ने कहा है—

''तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते॥ भूतादेरपि तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते। तद्यथा-शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूप-तन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति। तेषां विशेषाः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः, तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः, एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता॥''

(सु.सं., शारीरस्थानम् १.५,७)

इससे स्पष्ट है कि अहंकार तत्त्व सत्त्व, रजस् व तमस् की प्रधानता से क्रमशः वैकारिक, तैजस एवं भूतादि नाम वाला होता है। वैकारिक अहंकार से आन्तर इन्द्रिय संज्ञक मन एवं दसों इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, परन्तु इस क्रिया में तैजस अहंकार का भी योग रहता है। इसका आशय यह है कि इन्द्रियाँ सत्त्व व रजस् प्रधान होती हैं। यद्यपि यहाँ तमोगुण का कोई उल्लेख नहीं है, पुनरपि हमारा मत है कि काल तत्त्व के अतिरिक्त सर्वत्र ही तमोगुण की मात्रा न्यूनाधिक अवश्य रहती है, इस कारण यहाँ भी तमोगुण की स्वल्प मात्रा की विद्यमानता माननी चाहिए। ध्यातव्य है कि तमोगुण की सर्वथा अविद्यमानता से कोई भी पदार्थ सदैव गतिशील ही रहेगा। इस सृष्टि में काल तत्त्व के अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा जड़ पदार्थ नहीं है, जो सदैव गतिशील रहता हो, इस कारण इन्द्रियों में तमोगुण की अतिन्यून मात्रा में विद्यमानता आवश्यक है। उधर तमोगुण प्रधान भूतादि अहंकार से तैजस अहंकार के सहाय-संयोग से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की चरणबद्ध ढंग से उत्पत्ति होती है। हम यहाँ उस क्रम का वर्णन अभी नहीं कर रहे हैं।

यहाँ हम अहंकार वा महत्तत्त्व के स्वरूप पर विचारें, तो स्पष्ट होता है कि वर्तमान विज्ञान द्वारा परिकल्पित कोई भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ इससे साम्य नहीं रखता। इसमें विद्युत् आवेश, द्रव्यमान एवं स्पष्ट व अपेक्षित गतिशीलता आदि का प्रादुर्भाव नहीं होता। ऐसी स्थिति में वर्तमान विज्ञान की भाषा में यह भी न द्रव्य है, न ऊर्जा और न स्पेस नामक आकाश। वैदिक भाषा में इसे द्रव्य व ऊर्जा दोनों ही कह सकते हैं, परन्तु वर्तमान विज्ञान की भाषा में यह पदार्थ अभी कल्पनातीत ही माना जा सकता है।

प्रश्न— प्रकृति पदार्थ से महत्, अहंकार वा मन की अवस्था उत्पन्न होने की प्रक्रिया क्या है? मन तथा महत्-अहंकार में क्या भेद है?

उत्तर— काल तत्त्व के सक्रिय होते ही सम्पूर्ण त्रिगुणा प्रकृति में एक सूक्ष्म परिवर्तन करने के लिए ईश्वर तत्त्व 'ओम्' रश्मियों की परा अवस्था को अव्यक्त भाव से सर्वत्र संचरित करने लगता है अर्थात् काल तत्त्व का सम्पूर्ण प्रकृति में संचरण होने लगता है। यह संचरण ऐसा होता है कि सत्त्वादि तीनों गुण सक्रिय हो उठते हैं, यही अवस्था महत् कहलाती है। 'ओम्' का परास्वरूप जब सत्त्व व रजस् इन दो गुणों को ही सक्रिय करता है, तब मूल प्रकृति काल तत्त्व का रूप धारण करती है और जब 'ओम्' का परारूप, जो काल तत्त्व के रूप में विद्यमान होता है, उस समय मूल प्रकृति के तीनों गुणों को सक्रिय करता है, तब प्रकृति महत्तत्त्व का रूप धारण करती है। यह तत्त्व सम्पूर्ण अवकाश रूप आकाश में एकरस होकर भरा रहता है अर्थात् इसमें भी प्रायः कोई उतार-चढ़ाव (फ्लक्चुएशन्) नहीं होता।

'ओम्' रश्मियों की परा अवस्था सम्पूर्ण पदार्थ में एक साथ व्याप्त रहती है, जिससे तीनों गुण सबसे सूक्ष्म रूप में सक्रिय वा जाग्रत होने लगते हैं। इससे उस पदार्थ में ऐसी मन्दतम दीप्ति होती है, जो सम्पूर्ण सृष्टि में अन्यत्र कहीं नहीं होती। इस सृष्टि में जो भी गहन अन्धकार होता है, उससे भी गहन अन्धकार महत्तत्त्व में होता है। महत् की चरमावस्था रूप अहंकार भी ऐसे ही अन्धकार से युक्त होता है। इसमें महत्तत्त्व की पूर्णता होती है। इस समय परारूप 'ओम्' रश्मि के अतिरिक्त सभी अक्षर व्यक्तावस्था को प्राप्त कर लेते हैं। जब ईश्वरीय प्रेरणा से सर्वतोव्याप्त महत्तत्त्व में काल तत्त्व अर्थात् परा 'ओम्' रश्मि का संचरण होता है, तब अक्षर रश्मियाँ मिलकर पदरूप रश्मियों का निर्माण करने लग जाती हैं, महत् की यही अवस्था अहंकार कहलाती है। अहंकार में सभी पदरूप रश्मियाँ परा अवस्था में ही

विद्यमान रहती हैं। अहंकार को अग्रिम अवस्था मनस्तत्त्व में परिवर्तित करने के लिए ईश्वर द्वारा 'ओम्' रश्मियों का पुनः संचरण कराया जाता है। इससे सभी पदरूप रश्मियाँ परस्पर संयुक्त होकर छन्द रश्मियों का निर्माण करने लगती हैं। ये छन्द भी परा अवस्था में ही होते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण मनस्तत्त्व ऐसा अनन्त समुद्र है, जिसमें सभी प्रकार की अक्षर, पद व छन्द रश्मियाँ व्याप्त रहती हैं। ध्यातव्य है कि न तो सम्पूर्ण प्रकृति महत् (अक्षर) में, न सम्पूर्ण महत् अहंकार (पद) में और न सम्पूर्ण अहंकार मनस्तत्त्व (छन्द) में परिवर्तित होता है। इसके पश्चात् ईश्वर की प्रेरणा से कुछ परा 'ओम्' रश्मियाँ पश्यन्ती 'ओम्' रश्मियों में परिवर्तित होने लगती हैं। इन पश्यन्ती 'ओम्' रश्मियों के मनस्तत्त्व में संचरण से अन्य परा रश्मियाँ पश्यन्ती रश्मियों में परिवर्तित होने लगती हैं। मनस्तत्त्व की यह अवस्था ही प्रजापति नाम से जानी जाती है, क्योंकि यहाँ मनस्तत्त्व सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न करने के लिए तैयार हो चुका है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

अनिरुक्तं हि मनः (श.ब्रा.१.४.४.५), अनन्तं वै मनः (श.ब्रा.१४.६.१.११),
मनसा वा ऽ इदꣳ सर्वमाप्तम् (श.ब्रा.१.७.४.२२),
वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम् (ऐ.ब्रा.५.२३), मनसा हि वाग्धृता (क.सं.३७.४),
मनसो रेतो वाग्वाचो रेतः कर्म (ऐ.आ.२.१.३),
अथो द्वे एव धुरौ मनश्चैव वाक् च। मनसो हि वाक् प्रजायते (जै.ब्रा.१.३२०)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि मन भी महत्तत्व वा अहंकार की भाँति सर्वत्र व्याप्त होता है। यह अपने से उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ को भी बाहर भीतर से व्याप्त करता है। यह पदार्थ 'ओम्' रश्मि के पश्यन्ती रूप के साथ मिथुन बनाकर उसे अपने साथ धारण किये रहता है। मनस्तत्त्व का सार वाक् अर्थात् 'ओम्' का पश्यन्ती रूप है तथा इस वाक् तत्त्व से ही सभी कर्म उत्पन्न होते हैं किंवा क्रियाशीलता इस वाक् तत्त्व का सार है। वस्तुतः इस 'ओम्' रश्मि के कारण ही मनस्तत्त्व सक्रिय होता है। यदि महत्तत्त्व वा मनस्तत्त्व को एक सूक्ष्म ऊर्जा की भाँति मानकर विचार करें, तब ऐसा प्रतीत होता है कि यह अदृश्य व अग्राह्य ऊर्जा नगण्य शक्ति की होती है, जो एकरसवत् सर्वत्र भरी रहती है। इसकी रश्मियाँ लगभग शून्य किंवा अत्यल्प आवृत्ति एवं अनन्त के समकक्ष तरंगदैर्घ्य वाली होती हैं। इससे यह तत्त्व भी प्रायः अचल रूप में सर्वत्र व्याप्तवत् रहता है। उधर शरीरधारियों में जो महत्, अहंकार

व मन होता है, वह व्यष्टि रूप तीव्र गति से विचरने वाला होता है। मनस्तत्त्व के अन्दर सभी संयोग-वियोग आदि क्रियाएँ इसी रश्मि के कारण प्रारम्भ होती हैं। इसी कारण कहा गया है—

ओमिति वै स्वर्गो लोकः (ऐ.ब्रा.५.३२)

उधर अन्य ऋषियों ने स्वर्गलोक की व्याख्या में कहा—

एष ह वै स्वर्गो लोको यद् यज्ञायज्ञीयम् (जै.ब्रा.२.४२५),
स्वर्गो वै लोको यज्ञः (कौ.ब्रा.१४.१)

इससे संकेत मिलता है कि यह 'ओम्' रश्मि रूप वाक् तत्त्व ही मनस्तत्त्व को सर्ग प्रक्रिया प्रारम्भ करने योग्य बनाता है अर्थात् उसे सक्रिय करता है। इसीलिए महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है—

मनश्च ह वै वाक् च युजौ देवेभ्यो यज्ञं वहतः (श.ब्रा.१.४.४.१)

महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है—

वृषा वा ऋषभो योषा सुब्रह्मण्या, तन्मिथुनं, तस्म मिथुनस्य प्रजात्या इति॥ (ऐ.ब्रा.६.३)

यहाँ 'वृषा हि मनः' (श.ब्रा.१.४.४.३) एवं 'वाग्वै सुब्रह्मण्या' (ऐ.ब्रा.६.३) से यह स्पष्ट होता है कि वाक् व मन के योग से ही सभी पदार्थों की सृष्टि होती है।

इस प्रकार उस समय सम्पूर्ण अवकाशरूप आकाश मनस्तत्त्व एवं 'ओम्' के पश्यन्ती रूप के मिश्रण से भर जाता है। उस समय सम्पूर्ण पदार्थ में पूर्वापेक्षा कुछ व्यक्त, परन्तु मानव दृष्टि में अव्यक्त दीप्ति व सूक्ष्मतम हलचल की विद्यमानता होती है। यह अवस्था भी वर्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित द्रव्य, ऊर्जा व स्पेस से भिन्न तथा उससे पूर्व की है। यहाँ मनस्तत्त्व आगामी पदार्थों की उत्पत्ति हेतु समर्थ हो चुका होता है। इस पदार्थ में अभी भी एकरसता भंग नहीं हुई है, परन्तु होने के लिए अनुकूल स्थिति बन चुकी है। ध्यातव्य है कि यह अवस्था समष्टि बुद्धि, अहंकार व मन की ही माननी चाहिए। विभिन्न प्राणियों के अन्तःकरण के रूप में जो बुद्धि, अहंकार व मन होते हैं, वे इन्हीं समष्टि बुद्धि आदि के ही अवयव रूप में विद्यमान होते हैं। जिस प्रकार समष्टि पदार्थों का सम्बन्ध ईश्वर से होता है, उसी प्रकार व्यष्टि पदार्थों का सम्बन्ध जीवात्मा से होता है। ऋषि दयानन्द ने यजु.१७.३२ में सूत्रात्मा

वायु से पूर्व जिस दिव्य वायु के उत्पन्न होने की चर्चा की है, वह मन वा अहंकार तत्त्व ही है, ऐसा हमारा मत है।

प्राण व छन्द तत्त्व

जब 'ओम्' रश्मि के पश्यन्ती रूप की तीव्रता बढ़ती है, उस समय प्रायः एकरसवत् मनस्तत्त्व में स्पन्दन होने लगते हैं। ये स्पन्दन ही भूरादि व्याहृति रश्मियों एवं प्राथमिक प्राणों का रूप होते हैं। इस विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास ने लिखा है—

''प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान् स्यामिति, स तपोऽतप्यत, स तपस्तप्त्वेमं द्वादशाहम-पश्यदात्मन एवाङ्गेषु च प्राणेषु च, तमात्मान एवाङ्गेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च द्वादशधा निरमिमीत... ॥''
(ऐ.ब्रा.४.२३)

इस कण्डिका के विषय में विस्तृत व्याख्यान पाठक 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में देख सकते हैं। यहाँ संक्षेप में चर्चा यह है कि परमात्म तत्त्व काल तत्त्व के द्वारा सम्पूर्ण मनस्तत्त्व में 'ओम्' रश्मियों के द्वारा एक साथ स्पन्दन उत्पन्न करने लगता है। यह क्रिया सहसैव अति तीव्र गति से होती है। ये स्पन्दन ही भूरादि व्याहृति रूप एवं प्राणादि प्राणरूप होते हैं। महर्षि व्यास का प्राण तत्त्व के विषय में कथन है—

प्राणः कम्पनात् (ब्र.सू.१.३.३९), अणवश्च (ब्र.सू.२.४.७)

इन सूत्रों से स्पष्ट है कि प्राण सूक्ष्म स्पन्दन वाले होते हैं। ईश्वर तत्त्व काल तत्त्व के द्वारा सम्पूर्ण महत्तत्व-अहंकार वा मनस्तत्त्व के विशाल सागर, जो सर्वत्र एकरसवत् भरा रहता है, को सूक्ष्म पश्यन्ती 'ओम्' वाक् रश्मियों से ऐसे स्पन्दित करता रहता है, मानो कोई शक्ति किसी महासागर में एक साथ तीव्र गति से भाँति-२ की सूक्ष्म-स्थूल लहरें उत्पन्न कर रही हो। उसी प्रकार ईश्वर अपनी शक्ति रूप कालवाची 'ओम्' रश्मि के द्वारा मनस् वा अहंकार तत्त्व में प्राण व छन्द रश्मियों रूपी लहरें निरन्तर उत्पन्न करता रहता है। ध्यातव्य है कि किसी भी पदार्थ से अग्रिम पदार्थ बनते समय बड़ी मात्रा में पदार्थ मूल रूप में ही सुरक्षित रहता है, जो अग्रिम पीढ़ी के पदार्थों को सम्पीडित करके उससे अग्रिम पीढ़ी के पदार्थों का निर्माण ईश्वर, काल तत्त्व एवं ओम् रश्मि से प्रेरित होकर करता है। जब इनकी उत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, तब वह प्रक्रिया अकस्मात् अत्यन्त तीव्र गति से होती

है। ये लहरें (रश्मियाँ) मुख्यत: चार प्रकार की होती हैं—

(अ) मूल छन्द रश्मियाँ
(ब) प्राथमिक प्राण रश्मियाँ
(स) मास व ऋतु रश्मियाँ
(द) अन्य छन्द व मरुद् रश्मियाँ

सभी प्रकार की रश्मियाँ अक्षर रूप सूक्ष्म अवयवों से निर्मित होती हैं। इस कारण हम सर्वप्रथम अक्षर रूप पदार्थ पर विचार करते हैं। इस विषय में ऋषियों का कथन है—

अक्षरं वाङ्नाम (निघं.१.११), तद् यदक्षरत्तस्मादक्षरम् (श.ब्रा.६.१.३.६),
अक्षरं न क्षरति, न क्षीयते वा वाक् क्षयो भवति, वाचोऽक्ष इति वा (निरु.१३.१२),
यद्वेवाक्षरं नाक्षीयत तस्मादक्षरयम् अक्षयं ह वै नामैतत् तदक्षरमिति परोक्षमाचक्षते
(जै.उ.१.७.२.२), महत्तत्वाख्यम् (म.द.ऋ.भा.३.५५.१)

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि महत्तत्त्व ही अक्षर रूप होता है। हम पूर्व में लिख चुके हैं कि प्रकृति में 'ओम्' छन्द रश्मि परा रूप में उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् महत्तत्त्व अक्षर रूप में प्रकट होता है तथा मूल प्रकृति में अक्षर रूप रश्मियाँ नितान्त अव्यक्तावस्था में विद्यमान होती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि काल की उत्पत्ति के समय ही साम्यावस्था में ही अक्षर रश्मियों का बीज रूप अव्यक्त रूप में प्रकट होता है, जो 'ओम्' रश्मि के परा रूप में संचरित होते ही व्यक्त हो जाता है। ये रश्मियाँ पूर्णतया कभी भी अविद्यमान नहीं होतीं, भले ही वह महाप्रलयावस्था क्यों न होवे। ये रश्मियाँ छन्द रूप तभी धारण करती हैं, जब वे शब्द रूप धारण कर लेती हैं। ये अक्षर रश्मियाँ दो प्रकार की होती हैं—

अक्षर रश्मियाँ

१. स्वर— इस विषय में कहा है—

स्वयं राजन्त इति स्वरा:
(महाभाष्य अ.१, पा.२, सू.२९, आ.१ —वर्णोच्चारण शिक्षा से उद्धृत)

ये लघु रश्मियाँ स्वयं प्रकाशित होती हैं, परन्तु ये निरन्तर लम्बी दूरी तक गतिमान नहीं रह पातीं। प्रशान्त मनस्तत्त्व वा महत्तत्त्व के अन्दर ये अत्यन्त लघु कम्पन, जो सर्वाधिक सूक्ष्म

होते हैं, विद्यमान रहते हैं। ये अक्षर छन्द रश्मियों की भाँति बल, गति वा प्रकाश का स्रोत नहीं होते, किन्तु अन्य अक्षरों, विशेषकर व्यंजन रश्मि के साथ मिलकर ही छन्द रूप धारण कर पाते हैं। ये व्यंजनों का वहन करने में समर्थ होते हैं। वस्तुतः महत्तत्त्व में स्वर रश्मियों को किसी भी प्रकार से पृथक्-२ नहीं जाना जा सकता। स्वर के विषय में ऋषियों ने कहा है—

स्वर वाङ्नाम (निघं.१.११), प्रजापतिः स्वरः (ष.ब्रा.३.७),
अनन्तो वै स्वरः (तां.ब्रा.१७.१२.३)

अर्थात् स्वर वाक् तत्त्व का ही अति सूक्ष्म अंशरूप है, जो परिमाण में अनन्त होता है और यही सभी प्रकार के रश्मि आदि पदार्थों का जनक व रक्षक होता है। वस्तुतः यह रश्मि स्वरूप व्यवहार को प्रकट नहीं करता। रश्मि रूप व्यवहार सर्वप्रथम 'ओम्' छन्द रश्मि से प्रकट हो पाता है। स्वर रश्मियाँ ह्रस्व, दीर्घ व प्लुत तीन प्रकार की होती हैं। ये क्रमशः उत्तरोत्तर दीर्घाकार होती जाती हैं। ये तीनों पुनः उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित तीन प्रकार की होती हैं अर्थात् ये क्रमशः तीव्र, मन्द एवं मध्यम शक्ति वाली होती हैं। इस प्रकार एक स्वर नौ प्रकार के रूपों में पाया जा सकता है। ये नौ स्वर भी सानुनासिक एवं निरनुनासिक भेद से क्रमशः बँधी हुई अपेक्षाकृत दुर्बल शक्ति व अधिक शक्ति वाले होते हैं। इस प्रकार एक स्वर रश्मि कुल अठारह भेद वाली हो सकती है।

२. व्यञ्जन— इसके विषय में कहा गया है—

अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति
(महाभाष्य अ.१, पा.२, सू.२९, आ.१ —वर्णोच्चारण शिक्षा म.द.भाष्य से उद्धृत)

अर्थात् वे अव्यक्त सूक्ष्मतम अवयव भी प्रकृति रूप, पुनः प्रायः महत्तत्व का ही रूप होते हैं, जो सदैव स्वरों पर आश्रित अर्थात् उन्हीं के साथ संयुक्त होकर गतिशील हो पाते हैं। महत् में अकस्मात् सूक्ष्मतम स्फोट रूप में प्रकट व्यंजन, जो एक स्थान पर उत्पन्न होकर रह जाता है, वह किसी स्वररूपी सूक्ष्म कम्पन के साथ मिलने पर गति, बल व प्रकाश के अव्यक्त रूप से युक्त हो उठता है। यह स्वर के साथ मिलकर सूक्ष्म छन्द का रूप धारण कर लेता है। 'भूः' आदि छन्द रश्मियाँ इसके उदाहरण हैं।

अब हम विभिन्न अक्षरों के विषय में कुछ और तथ्यों को प्रकाशित करना चाहते हैं।

सभी वैदिक पद सार्थक होते हैं तथा प्रत्येक पद का उसके अर्थरूप पदार्थ से नित्य सम्बन्ध रहता है। जब प्रत्येक पद वा शब्द का उसके वाच्य किसी पदार्थ से नित्य सम्बन्ध है, तब उस पद के अवयवरूप अक्षर भी निरर्थक नहीं होते। इस कारण प्रत्येक अक्षर का भी अपने अर्थरूप पदार्थ के साथ नित्य सम्बन्ध सिद्ध होता है। इस अक्षर विज्ञान को विस्तार से जानने हेतु पाठक आर्य विद्वान् पण्डित रघुनन्दन शर्मा कृत 'वैदिक सम्पत्ति' नामक ग्रन्थ का स्वाध्याय करें, विस्तारभय से हम यहाँ उस विषय पर विस्तृत नहीं लिख सकते। इस ग्रन्थ से संस्कृत भाषा एवं देवनागरी लिपि का गम्भीर विज्ञान प्रकाशित हो सकेगा। हम पाठकों की जानकारी के लिए उसी ग्रन्थ से विभिन्न अक्षरों का अर्थ सार रूप में उद्धृत करते हैं—

अ— सब, पूर्ण, व्यापक, अव्यय, एक, अखण्ड, अभाव, शून्य।

इ— वाला (जैसे मकानवाला) गति, निकट।

ए— नहीं गति, गतिहीन, निश्चल, पूर्ण, अव्यय।

उ— ऊपर, दूर, वह, तथा, और, आदि।

ओ— अन्य नहीं, वही, दूसरा नहीं।

ऋ— सत्य, गति, बाहर।

लृ— सत्य, गति, भीतर।

ण, ञ, न, ङ, ॐ— नहीं, अभाव, शून्य।

:, ह— निश्चय, अन्त, अभाव, संकोच, निषेध।

क— बाँधना, बलवान्, बड़ा, प्रभावशाली, सुख।

ख— आकाश, पोल, खुला, छिद्र।

ग— गमन, हटना, स्थान छोड़ना, पृथक् होना।

घ— रुकावट, ठहराव, एकाग्रता।

च— फिर, पुनः, बाद, दूसरा, अन्य, भिन्न, अपूर्ण, अङ्गहीन, खण्ड।

छ— छाया, आच्छादन, छत्र, परिच्छद, अखण्ड आदि।

ज— पैदा होना, जन्म लेना, उत्पन्न होना, नूतनत्व, गति।

झ— नाश होना।

ट— मध्यम, साधारण, निर्बल, संकोच, इच्छाविरुद्ध।

ठ— निश्चय, प्रगल्भता, पूर्णता।

ड— क्रिया, प्रकृति, अचेतन, जड़।

ढ— निश्चित, निश्चल, धारित, चेतन।

त— तलभाग, नीचे, इधर, आधार, इस पार, किनारा, अन्तिम स्थान।

थ— ठहरना, आधेय, ऊपर, उधर, उस पार।

द— गति, देना, कम करना।

ध— न देना, धारण करना, रख लेना।

प— रक्षा।

फ— खोलना, खुलना।

ब— घुसना, समाना, छिपना।

भ— प्रकट, जाहिर, बाहर, प्रकाश।

य— पूर्ण गति, भिन्न वस्तु।

र— देना, रमण करना।

ल— लेना, रमण करना।

व— अन्य, पूर्ण भिन्न, अथवा, गति, गन्ध।

ष— ज्ञान, श— प्रकाश, स— साथ, शब्द, वह।

क्ष— बन्ध, ज्ञान, अज्ञान, निर्जीव, नाश, मृत्यु।

त्र— नीचे तक जाना, कुल देना, सब देना, कुल, सब, सर्व, समग्र।

ज्ञ— अजन्मा, नित्य, कर्म, ज्ञान।

ळ— वाणी।

३. ओम्— इसमें 'अ', 'उ' दो स्वर तथा 'म्' व्यंजन का योग होता है। यद्यपि 'म्' व्यंजन 'अ' एवं 'उ' इन दो स्वरों के साथ पृथक्-२ संयुक्त होकर 'म' तथा 'अम्' एवं 'मु' तथा 'उम्' छन्द का निर्माण कर सकता है, परन्तु 'अ+उ'='ओ' के साथ 'म्' संगत होकर जो 'ओम्' छन्द रश्मि उत्पन्न होती है, वह सर्वाधिक व्यापक बल व गति से सम्पन्न होती है। इसका प्रभाव 'म्+अ+उ'='मो' से भिन्न होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि महत्=अहंकार वा मनस्तत्त्व में जब कोई स्वररूप कम्पन उत्पन्न होता है, उसके तुरन्त पश्चात् व्यंजनरूपी कम्पन उत्पन्न होकर उस स्वर से संयुक्त होकर छन्द बनाता है, वह छन्द उस छन्द से अधिक शक्तिशाली एवं व्यापक होता है, जो छन्द पहले व्यंजन एवं उसके तुरन्त पश्चात् उत्पन्न स्वर व व्यंजन के साथ संयुक्त होने पर बनता है। इस कारण 'अम्', 'उम्' छन्द एवं 'ओम्' क्रमशः 'म', 'मु' तथा 'मो' की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि पश्यन्ती 'ओम्' छन्द रश्मि में परा 'ओम्' रश्मियों की मात्रा अन्य किसी भी दैवी गायत्री छन्द की अपेक्षा अधिक होने से इसकी व्यापकता सर्वाधिक होती है। यद्यपि दीर्घ छन्दों में मनस्तत्त्व की मात्रा और भी अधिक होती है, परन्तु वे कई सूक्ष्म छन्द रश्मियों का योग होते हैं, जबकि 'ओम्' तीन अक्षरों का युग्म होकर भी और एक दैवी गायत्री छन्द रश्मि का रूप होकर भी अक्षर रूप होती है। इस छन्द रश्मि का 'ओम्' वाची ईश्वर तत्त्व से सर्वप्रथम एवं साक्षात् सम्बन्ध होने से भी यह सदैव ईश्वर तत्त्व द्वारा प्रेरित होती रहकर अन्य रश्मियों को प्रेरित करती रहती है।

इस छन्द के विषय में जैमिनि ऋषि का कथन है—

एतद् (ओमिति) एवाक्षरं त्रयी विद्या (जै.उ.१.४.४.१०),
एतद्ध (ओमिति) वा इदं सर्वमक्षरम् (जै.ब्रा.२.१०),
ओमिति मनः (जै.उ.१.२.२.२), रस ओङ्कारः (जै.ब्रा.२.७८)

इन वचनों से प्रमाणित होता है कि यह छन्द रश्मि सर्वाधिक सूक्ष्म, परन्तु व्यापक होने से सम्पूर्ण मनस्तत्त्व में विद्यमान होती है। यह अन्य सभी रश्मियों का रस अर्थात् बीज रूप है। सभी प्राण एवं छन्द रश्मियाँ इसी से उत्पन्न व प्रेरित होती हैं। यह रश्मि मनस्तत्त्व को

स्पन्दित करके सभी प्रकार के रश्मि आदि पदार्थों को उत्पन्न करती है। यही रश्मि सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न भी करती है, साथ ही बाँधे भी रखती है। यह दैवी छन्द रश्मि होते हुए भी अक्षर रूप है, यह इसका वैशिष्ट्य है।
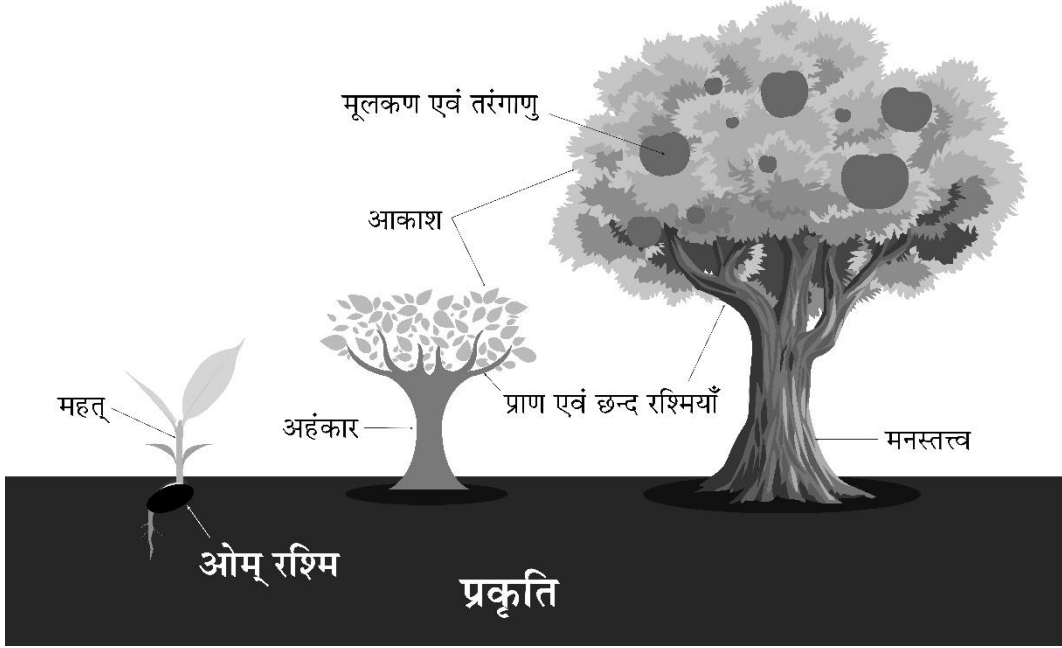
इसके विषय में एक अन्य ऋषि ने बहुत सुन्दर लिखा है—

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति।
सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥ (माण्डू.उ.१)

इसका आशय यह है कि यह रश्मि विशेष सक्रिय अवस्थारूप काल की उत्पत्ति के पूर्व से ही ईश्वर तत्त्व में नितान्त अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है। सम्पूर्ण सृष्टि उसी का ही विस्तार वा रूप है। मानो यह सृष्टि उसी की महिमा को दर्शा रही है। यही वाक् तत्त्व का मूल रूप है। मनस्तत्त्व में इसकी पश्यन्ती अवस्था विद्यमान रहती है, जबकि महत् वा काल में परा अवस्था होती है, यह भेद अवश्य है। यद्यपि वाक् तत्त्व योषा रूप होता है तथा मन वृषा रूप होता है, परन्तु हमारे मत में 'ओम्' रश्मि रूप वाक् तत्त्व का परारूप मनस्तत्त्व के सापेक्ष वृषा रूप है, जो मनस्तत्त्व को बल प्रदान करके उसे सक्रिय रूप प्रदान करता है। इसके पश्चात् 'ओम्' का पश्यन्ती रूप मनस्तत्त्व के सापेक्ष योषा रूप हो जाता है।

अब हम अक्षर विज्ञान की दृष्टि से यह जानने का प्रयास करते हैं कि 'ओम्' रश्मि सर्वाधिक व्यापक व मूल रूप में बलवती क्यों होती है? इस रश्मि में 'अ', 'उ' एवं 'म्' ये तीन अक्षर होते हैं। 'अ' अक्षर के उपर्युक्तानुसार 'सब, पूर्ण, व्यापक, अव्यय, एक, अखण्ड, अभाव एवं शून्य अर्थ हैं। 'उ' अक्षर के अर्थ हैं— दूर, ऊपर आदि। आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश में 'उ' का अर्थ ब्रह्मा दिया है तथा इसे अव्यय कहा है। 'मा' को मापने अर्थ में व्याकरणवित् जानते ही हैं। 'म' के उच्चारण में मुख बन्द हो जाता है, मानो 'म्' से सम्पूर्ण पद को बाँध दिया जाता है। इस प्रकार सारांशत: 'अ+उ+म्=ओम्' का निम्न अर्थ प्रकट होता है—

महत् वा मनस्तत्त्व में उत्पन्न यह एक ऐसा स्पन्दन है, जो इतना सूक्ष्म होता है, मानो वह स्पन्दन ही न हो किंवा इसे ऐसी तरंग कह सकते हैं, जिसकी तरंगदैर्घ्य लगभग अनन्त हो, तब आवृत्ति लगभग शून्य हो। हमने यह बात वर्तमान विज्ञान की शैली में कही है, वास्तविकता यह है कि इसे अभिव्यक्त करना ही असम्भव है, पुनरपि स्थूलरूपेण हमें ऐसा ही समझना चाहिए। इस प्रकार विज्ञान की भाषा में इसे अत्यन्त क्षीण शक्ति सम्पन्न, अव्यक्त, सूक्ष्मतम एवं सर्वप्रथम प्रकट ऊर्जा का रूप कह सकते हैं। इतना प्रभाव केवल 'अ' अक्षर का है। 'उ' के प्रभाव से यह रश्मि दूर-२ तक अकस्मात् प्रकट होती तथा सभी बलों व ऊर्जाओं के ऊपर सूक्ष्मतम रूप में अधिष्ठित होती है। इससे सूक्ष्म कोई शक्ति नहीं होती, क्योंकि इसका प्राकट्य स्वयं सर्वोच्च चेतन सत्ता ईश्वर तत्त्व, जिसे हम ऊर्जा आदि शब्दों के रूप में व्यक्त नहीं कर सकते, से होता है तथा यह निरन्तर उसी से सर्वत्र प्रकट होती रहती है, इस कारण यह भी ईश्वर की भाँति सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त एवं सर्वोच्च नियन्त्रक होती है।

ध्यातव्य है कि सूक्ष्मतम ऊर्जा ही स्थूल ऊर्जा को नियन्त्रित कर सकती है। वस्तुत: यह सूक्ष्मतम ऊर्जा अपने अनन्त शक्तिसम्पन्न ईश्वर तत्त्व रूपी चेतन ऊर्जा से सर्वत्र निरन्तर प्रेरित होती रहती है। 'म' के प्रभाव से यह रश्मि अन्य सभी रश्मियों को अपने साथ बाँधने में सक्षम होकर सम्पूर्ण सृष्टि को बाँधे वा मापे रखती है। इसके अभाव में सभी रश्मि वा कण आदि पदार्थ तत्काल ही बिखरकर महाप्रलय में परिणत हो जाएँगे। पण्डित रघुनन्दन शर्मा ने 'ओ' के अर्थ 'अन्य नहीं, वही, दूसरा नहीं' किये हैं, जो यहाँ भी पूर्णत: संगत हो रहे हैं। इसी कारण 'ओम्' ऐसी रश्मि है, जो सर्वदा अनुपमेय वा अद्वितीय ही बनी रहती

है। यही ब्रह्म का अद्वैतपन कहाता है कि उसके समकक्ष इस सृष्टि वा प्रलय में कोई पदार्थ विद्यमान नहीं होता। 'ओम्' यह वाचक रश्मि जिस पदार्थ को कहती है, वह अर्थ रूप अर्थात् वाच्य रूप ईश्वर पदार्थ मुख्यतः 'ओम्' ही कहाता है, इसी कारण ईश्वर का यही नाम मुख्य है, शेष नाम गौण हैं। इसकी चर्चा ऋषि दयानन्द सरस्वती कृत सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में विस्तार से की गई है। हाँ, वहाँ 'ओम्' रश्मि की चर्चा नहीं है।

विदित रहे कि 'ओम्' रश्मियों को ऊर्जारूप कहने तथा उनकी आवृत्ति लगभग शून्य कहने से कोई पाठक यह कल्पना न कर ले कि 'ओम्' रश्मियाँ वर्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित ऊर्जा के समान ही हैं। वस्तुतः उस समय प्रचलित ऊर्जा के ज्ञात गुणों का सर्वथा अभाव होता है। हमने ऊर्जा से तुलना करके केवल यह समझाने का प्रयास किया है कि ये रश्मियाँ सर्वोच्च नियन्त्रक व सबकी उत्पादिका के रूप में विद्यमान होती हैं। ध्यातव्य है कि 'ओम्' रश्मियों की तीव्रता व आवृत्ति सदैव समान नहीं रहती। सर्वोच्च सत्ता ईश्वर तत्त्व सृष्टि के विभिन्न चरणों में प्रयोजनानुसार इन रश्मियों की तीव्रता का निर्धारण करता रहता है। यहाँ लगभग शून्य आवृत्ति कहने का आशय यही है कि ये रश्मियाँ ही सर्वोपरि व्याप्तिसम्पन्न होती हैं, पुनरपि तीव्रता में स्पन्दन बहुधा होता रहता है।

मूल छन्द रश्मियाँ

इन अक्षर रश्मियों की उत्पत्ति के उपरान्त निम्नलिखित प्राथमिक छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है—

(अ) व्याहृति रश्मियाँ

१. भूः — 'ओम्' छन्द रश्मि के पश्यन्ती रूप की उत्पत्ति के तुरन्त पश्चात् इस व्याहृति रश्मि की उत्पत्ति होती है। इसके विषय में ऋषियों ने कहा है—

भूरिति वा ऋचः (तै.आ.७.५.२; तै.उ.१.५.३),
भूरिति वै प्रजापतिः आत्मानमजनयत् (श.ब्रा.२.१.४.१३),
प्रजापतिर्यदग्रे व्याहरत् स भूरित्येव व्याहरत् स इमाम् (पृथिवीं) असृजत (जै.ब्रा.१.१०१)

इन वचनों से स्पष्ट है कि मनस्तत्त्व में सर्वप्रथम इसी व्याहृति रश्मि की उत्पत्ति होती है। सक्रिय मनस्तत्त्व में 'ओम्' रश्मि के द्वारा स्पन्दन होने पर इस 'भूः' रूप स्पन्दन (रश्मि)

का प्राकट्य होता है। यह रश्मि प्रजापति रूप ही होती है, क्योंकि इसी के पश्चात् अन्य रश्मियाँ प्रकट होने लगती हैं। व्याहृति संज्ञक होने से यह रश्मि सम्पूर्ण मनस्तत्त्व में व्यापक रूप से सब ओर प्रकट होती है। जब कभी पृथिवी तत्त्व वा अप्रकाशित कणों की उत्पत्ति होती है, तो उनमें इस रश्मि की प्रधानता होती है। 'ऋक्' संज्ञक छन्द रश्मियों, जिनकी चर्चा 'वेदविज्ञान-आलोक:' ग्रन्थ में अनेकत्र की गई है तथा हम आगे इस अध्याय में भी करेंगे, के अन्दर भी इसकी प्रधानता होती है किंवा 'ऋक्' संज्ञक छन्द रश्मियों की उत्पत्ति में इस व्याहृति रूप रश्मि की विशेष भूमिका होती है। यह रश्मि पदार्थ के संघनन की प्रक्रिया को समृद्ध करने के गुण के कारण ही सूक्ष्म कणों को उत्पन्न करने में अपनी विशेष भूमिका निभा पाती है।

अब हम अक्षर विज्ञान की दृष्टि से इस रश्मि पर और विचार करते हैं—

यह रश्मि 'भूस्' = भ्+ऊ+स्, 'भूर्' = भ्+ऊ+र् तथा 'भू:' = भ्+ऊ+:, इन तीनों रूपों में पृथक्-२ परिस्थितियों में पाई जा सकती है। पूर्वोक्त अक्षर विज्ञान के प्रकाश में इनका प्रभाव क्रमश: निम्नानुसार होता है—

(क) भूस् — यह दूर तक प्रकट व प्रकाशित होकर नाना रश्मियों को अपने साथ संगत करने में सक्षम होती है। यह उन रश्मियों के बाहर स्थित रहकर उन्हें अपने साथ संगत व प्रकाशित वा सक्रिय करने हेतु शक्ति प्रदान करती है। यह एतदर्थ उन्हें स्पन्दित करती रहती है।

(ख) भूर् — यह दूर तक प्रकट व प्रकाशित होकर नाना रश्मियों के साथ बाहर से संगत होकर व उन्हें प्रकाशित करके सर्वत्र रमण कराने में सहायक है। इस हेतु यह नाना रश्मियों को स्पन्दित करती है।

(ग) भू: — यह पूर्वोक्त प्रभाव दर्शाते हुए सूक्ष्म बाधक रश्मियों को निषिद्ध करके क्रियाओं को निर्बाध बनाती है।

इन तीनों ही रूपों के स्पन्दन न्यूनाधिक समान प्रभाव दर्शाते हैं। वैदिक छन्दों में नाना सन्धियों का भी अपना विशिष्ट वैज्ञानिक प्रभाव इस सृष्टि प्रक्रिया पर होता है, जिसे हमने यहाँ दर्शाया है।

२. भुवः — 'भूः' के पश्चात् 'ओम्' रश्मि की प्रेरणा से मनस्तत्त्व में 'भुवः' छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

भुवर् इति यजूंषि (काठ.संक.४७.५ —ब्रा.उ.को. से उद्धृत),
भुव इत्यन्तरिक्षम् (तै.आ.७.५.१; तै.उ.१.५.१)
भुव इति प्रजाम् (प्रजापतिरजनयत) (श.ब्रा.२.१.४.१३)

इन वचनों से सिद्ध होता है कि ये रश्मियाँ 'भूः' रश्मियों की प्रजारूप हैं अर्थात् 'ओम्' रश्मियाँ मनस्तत्त्व में 'भूः' रूप स्पन्दनों को विकृत करके 'भुवः' रश्मियों को प्रकट करती हैं। कालान्तर में ये रश्मियाँ आकाश (स्पेस) तथा यजुः संज्ञक रश्मियों को उत्पन्न करने में सर्वोपरि भूमिका निभाती हैं। हम स्पेस एवं यजुः संज्ञक रश्मियों की चर्चा आगे करेंगे। आकाश तत्त्व (स्पेस) नामक पदार्थ विशेष के निर्माण के साथ-२ ये रश्मियाँ पदार्थ को बिखेरने में सहायक होती हैं, जिससे अवकाश रूप आकाश में महाभूत आकाश तत्त्व प्रकट होने लगता है।

अब इस रश्मि पर पूर्वोक्त अक्षर विज्ञान की दृष्टि से विचार करते हैं—

यह 'भुवः' रश्मि भ्+उ+व्+अ+स्, भ्+उ+व्+अ+र् एवं भ्+उ+व्+अ+:, इन तीनों रूपों में विद्यमान हो सकती है। इनका स्वरूप क्रमशः निम्नानुसार है—

(क) भुवस् = भ्+उ+व्+अ+स्। यह भी दूर-२ तक प्रकट व प्रकाशित होकर अन्य रश्मियों के साथ बाहर से संगत होकर उन्हें सक्रिय करती है। यह पूर्व रश्मि 'भूस्' से भिन्न किंवा विपरीत गतियुक्त होती है। कदाचित् इसकी गति 'भूस्' की अपेक्षा कुछ अधिक होती है। यह भी सर्वत्र व्याप्त होती है।

(ख) भुवर् = भ्+उ+व्+अ+र्। इसका प्रभाव 'भुवस्' के लगभग समान, परन्तु कुछ अधिक रमणशील होता है।

(ग) भुवः = भ्+उ+व्+अ+:। इसका प्रभाव लगभग उपर्युक्तवत् है, परन्तु बाधक सूक्ष्म रश्मियों को निषिद्ध करना इसका अतिरिक्त गुण है।

सारांशतः ये तीनों नाना परिस्थितियों में प्रकट होती हैं, परन्तु इनका मूल प्रभाव समान ही होता है।

३. स्वः — अन्त में तीसरी व्याहृति 'स्वः' छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

स्वरिति सामानि (काठ.संक.४७.६ —ब्रा.उ.को. से उद्धृत),
स्वः स्वर्गोलोकोऽभवत् (ष.ब्रा.१.५), अन्तो वै स्वः (ऐ.ब्रा.५.२०),
सुवरित्यसौ (द्यु) लोकः (तै.आ.७.५.१; तै.उ.१.५.१)

इन वचनों से स्पष्ट है कि तीनों व्याहृति रश्मियों में ये अन्त में उत्पन्न होती हैं। 'ओम्' रश्मि के द्वारा मनस्तत्त्व में 'स्वः' रश्मि रूप स्पन्दन उत्पन्न होते हैं। कालान्तर में तरंगाणुओं (क्वाण्टा) के निर्माण में इन रश्मियों की महती भूमिका होती है। इसके साथ ही 'साम' संज्ञक छन्द रश्मियों की उत्पत्ति में भी इनकी विशेष भूमिका होती है। 'साम' रश्मियों एवं तरंगाणुओं के विषय में चर्चा आगे की जाएगी।

अब पूर्वोक्त अक्षर विज्ञान की दृष्टि से इस पर विचार करते हैं। यह स्वः रश्मि स्+व्+अ+स्, स्+व्+अ+र् एवं स्+व्+अ+:, इन तीनों रूपों में विद्यमान हो सकती है। इनका स्वरूप क्रमशः निम्नानुसार है—

(क) स्वस् = स्+व्+अ+स्। यह पूर्वोक्त दोनों 'भूः' एवं 'भुवः' रश्मियों को अपने साथ एक साथ संगत करती हुई उनमें गतिशील रहती है और ऐसा करके तीनों रश्मियाँ 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' विभिन्न छन्दादि रश्मियों के साथ संगत होकर उन्हें संगत व शक्तिशाली बनाती हैं।

(ख) स्वर् = स्+व्+अ+र्। इसका प्रभाव भी उपर्युक्तवत् है, परन्तु गति में कुछ वृद्धि होती है।

(ग) स्वः = स्+व्+अ+:। इसका प्रभाव पूर्ववत् समझें, परन्तु इसमें बाधक सूक्ष्म रश्मियों के निषेध का सामर्थ्य विशिष्ट है।

सारांशतः इन तीनों का प्रभाव एक ही होता है। नाना परिस्थितियों वा सन्धियों में इनके ये रूप एक-दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं। यह वैदिक भाषा का एक आश्चर्यतम विशिष्ट विज्ञान है। इन तीनों व्याहृति रश्मियों को देवपत्नी भी कहा जाता है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में अनेकत्र देव पदार्थों एवं विभिन्न छन्दादि रश्मियों की रक्षिका शक्तियों के रूप में

इनका व्यवहार पाठक जान सकते हैं। महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है—

'एतानि ह वै वेदानामन्तःश्लेषणानि यदेता व्याहृतयः ...' (ऐ.ब्रा.५.३२)

अर्थात् ये रश्मियाँ विभिन्न वेद-ऋचाओं रूपी छन्द रश्मियों को परस्पर जोड़ने व सुरक्षित रूप प्रदान करने में सहायक होती हैं। ये तीनों व्याहृति रश्मियाँ सक्रिय मनस्तत्त्व द्वारा प्रेरित होकर सभी छन्द रश्मियों के बल, गति और तेज आदि गुणों को सम्यक् रूप से नियन्त्रित करती रहती हैं। इनके बिना विभिन्न छन्द रश्मियाँ और उनसे निर्मित विभिन्न कण, तरंग वा स्पेस आदि सभी निर्बल वा नष्ट हो जाएँगे।

यद्यपि इन तीन रश्मियों को ही मुख्य व्याहृतियों के रूप में जाना जाता है, पुनरपि प्रसंगतः हम चार अन्य व्याहृतियों की भी चर्चा करते हैं। हम पूर्व में काल तत्त्व के विवेचन में इनकी चर्चा काल के सप्तरश्मि विशेषण की व्याख्या में कर चुके हैं, इस कारण शेष चार व्याहृतियों की विवेचना आवश्यक प्रतीत होती है। वे रश्मियाँ निम्न प्रकार हैं—

४. महः — इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

मह इति। तद् ब्रह्म। स आत्मा... मह इत्यन्नम् (तै.उ.१.५.१-३),
यज्ञो वै देवानां महः (श.ब्रा.१.९.१.११)

इन वचनों से स्पष्ट है कि यह सूक्ष्म रश्मि अन्य व्याहृति रश्मियों में व्याप्त होकर विचरती रहती है। इसके साथ ही यह अन्य व्याहृति रश्मियों को परस्पर संयुक्त करने में अपनी भूमिका निभाती है। अब अक्षर विज्ञान की दृष्टि से इस पर विचार करते हैं—

यह 'महः' रश्मि म्+अ+ह्+अ+स्, म्+अ+ह्+अ+र् एवं म्+अ+ह्+अ+:, इन तीन रूपों में विद्यमान हो सकती है। इनका स्वरूप वा प्रभाव निम्नानुसार है—

(क) महस् = म्+अ+ह्+अ+स्। यह रश्मि अन्य व्याहृति रश्मियों को सर्वतः पूर्ण रूप से मापती हुई उन्हें साथ-२ संगत व संकुचित करती हुई उनमें विचरण करती है।

(ख) महर् = म्+अ+ह्+अ+र्। यह अन्य व्याहृति रश्मियों को व्यापक रूप से मापती एवं सम्पीडित करती हुई दूर-२ रमण करती है।

(ग) महः = म्+अ+ह्+अ+:। यह उपर्युक्त प्रभाव के साथ-२ बाधक रश्मियों को प्रतिबन्धित

करने में सहयोग करती है।

इस प्रकार इस व्याहृति के तीनों रूप लगभग समान प्रभाव दर्शाते हुए अन्य रश्मियों को समृद्ध वा व्यापक बनाते हैं।

५. जनः — इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

अन्तो वा एषा ऋद्धीनां यज्जनः (मै.सं.२.२.९),
जनः३ वा एतद्यज्ञस्य गच्छति यत् स्कन्दति (मै.सं.१.४.९)

इन वचनों से स्पष्ट है कि ये रश्मियाँ अन्य व्याहृति रश्मियों की समृद्धि को पूर्णता प्रदान करके सम्पूर्ण संगमनीय पदार्थ किंवा व्याहृति तथा अन्य रश्मियों में व्याप्त होकर गमन करती हुई उनका अवशोषण करती रहती हैं। अब अक्षर विज्ञान की दृष्टि से इस पर विचार करते हैं—

यह 'जनः' रश्मि ज्+अ+न्+अ+स्, ज्+अ+न्+अ+र् एवं ज्+अ+न्+अ+:, इन तीनों रूपों में प्राप्त होती है। इनका प्रभाव निम्नानुसार है—

(क) जनस् = ज्+अ+न्+अ+स्। यह रश्मि अन्य रश्मियों में सर्वतः प्रकट होकर उन्हें संगत करके अन्य छन्द रश्मियों को उत्पन्न करती है।

(ख) जनर् = ज्+अ+न्+अ+र्। यह रश्मि लगभग पूर्वोक्तवत् प्रभाव दर्शाती, परन्तु विशेष रमणशील होती है। इसके साथ ही यह अन्य रश्मियों में विशेष उत्पादकता का गुण प्रदान करती है।

(ग) जनः = ज्+अ+न्+अ+:। यह रश्मि लगभग पूर्वोक्तवत् प्रभाव दर्शाती हुई बाधक रश्मियों को प्रतिबन्धित करने में विशेष समर्थ होती है।

इस प्रकार इन तीनों रश्मियों का प्रभाव लगभग समान होता है। इनसे छन्द रश्मियों की उत्पत्ति प्रक्रिया विशेष समृद्ध होती है।

६. तपः — इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

तपः स्विष्टकृत् (श.ब्रा.११.२.७.१८), मनो वाव तपः (जै.ब्रा.३.३३४),
ब्रह्म तपसि (प्रतिष्ठितम्)(गो.उ.३.२)

इन वचनों से प्रकट होता है कि ये रश्मियाँ मनस्तत्त्व से विशेष समृद्ध होती हैं तथा विभिन्न संगमन कर्मों को अच्छी प्रकार सम्पादित करने में समर्थ होती हैं। इन रश्मियों के अन्दर 'महः' रश्मियाँ प्रतिष्ठित होकर अधिक क्रियाशील होती हैं।

अब हम अक्षर विज्ञान की दृष्टि से इसके तीनों रूपों पर निम्नानुसार विचार करते हैं—

(क) तपस् = त्+अ+प्+अ+स्। यह रश्मि अन्य व्याहृति रश्मियों के पृष्ठ भाग किंवा किनारों पर स्थित होकर उनके बहिर्भागों में व्याप्त वा संगत होकर उनकी रक्षा करती है।

(ख) तपर् = त्+अ+प्+अ+र्। यह पूर्वोक्त प्रभाव से युक्त होकर विशेष सक्रिय होती है।

(ग) तपः = त्+अ+प्+अ+:। यह भी पूर्वोक्त प्रभाव के साथ-२ बाधक रश्मियों को विशेष रूप से प्रतिबन्धित करती है।

इस प्रकार ये तीनों रश्मियाँ लगभग समान प्रभाव दर्शाती हुई अन्य रश्मियों को अधिक सक्रिय एवं समर्थ बनाती हैं।

७. सत्यम् — यह सातवीं तथा अन्तिम व्याहृति रश्मि है। इसके विषय में ऋषियों का मत है—

आपः सत्ये (प्रतिष्ठिताः) (ऐ.ब्रा.३.६; गो.उ.३.२),
सत्येनैव जयति (मै.सं.४.३.८),
सत्यं वै सुकृतस्य लोकः (तै.ब्रा.३.३.६.११)

इन वचनों से सिद्ध होता है कि यह रश्मि अन्य रश्मियों को सुगमता व सुष्ठुरीत्या धारण करने एवं उन्हें नियन्त्रित करने में सहायक होती है। इस रश्मि के द्वारा ही प्राणापानादि रश्मियों को धारण किया जाता है।

इसका अक्षर विज्ञान इस प्रकार प्रकट होता है—

सत्यम् = स्+अ+त्+य्+अ+म्। यह रश्मि सभी रश्मियों के साथ संगत व पूर्ण व्याप्त होकर उन्हें आधार प्रदान करती हुई उनके बहिर्भागों में स्थित होती है। इसके साथ ही उन्हें पूर्ण गति प्रदान करती हुई मापती है।

अन्य दो सूक्ष्म रश्मियाँ

इन व्याहृति रश्मियों के पश्चात् लगभग उसी स्तर की दो अन्य छन्द रश्मियाँ और उत्पन्न होती हैं—

१. हिम् — ये सूक्ष्म रश्मियाँ दैवी गायत्री रूप ही होती हैं, इस कारण इनका प्रभाव व्याहृति रश्मियों की भाँति सूक्ष्म तेज व बल से युक्त ही होता है। ये रश्मियाँ प्रायः विभिन्न छन्द रश्मियों को परस्पर जोड़े रखने में सहायक होती हैं। इनके विषय में ऋषियों का कथन है—

वृषा हिङ्कारः (गो.पू.३.२३), वज्रो वै हिङ्कारः (कौ.ब्रा.३.२),
एष वै स्तोमस्य योगो यद्धिङ्कारः (तां.ब्रा.६.८.६), रश्मय एव हिङ्कारः (जै.उ.१.११.१.९),
स (प्रजापतिः) मन एव हिङ्कारमकरोत् (जै.उ.१.३.३.५)

इन वचनों से सिद्ध होता है कि 'हिम्' रश्मियाँ वृषा रूप होकर विभिन्न छन्द रश्मियों के मध्य स्थित होकर उन्हें बल प्रदान करके संगत रखने में सहायक होती हैं। ये रश्मियाँ प्रजापति रूप मनस्तत्त्व से 'ओम्' रश्मि की प्रेरणा द्वारा उत्पन्न होती हैं। ये रश्मियाँ वज्र रूप होकर दो छन्द रश्मियों के मध्य किसी अनिष्ट रश्मि का प्रवेश होने से रोकती हैं, जिससे उन संयोज्य छन्द रश्मियों के बन्धन दृढ़ होते वा बने रहते हैं।

अब इसके अक्षरों के वैज्ञानिक स्वरूप पर विचार करते हैं—

यह हिम् रश्मि 'ह्+इ+म्' का रूप है। यह रश्मि विभिन्न छन्द रश्मियों के मध्य अति निकटता से स्थित होकर कम्पन करती हुई किसी भी बाधक रश्मि को वहाँ आने से प्रतिबन्धित करती है। इस कारण वे छन्द रश्मियाँ परस्पर निर्बाध रूप से संगत व सुदृढ़ बनी रहती हैं।

२. घृम् — ये सूक्ष्म रश्मियाँ भी उपर्युक्तवत् दैवी गायत्री छन्द का ही रूप होती हैं। ये सूक्ष्म रश्मियाँ इस सृष्टि में नाना पदार्थों को सींचती हुई घृत रूप को उत्पन्न करती हैं। 'घृतम्' के विषय में ऋषियों का कथन है—

तेजो वा एतत् पशूनां यद् घृतम् (ऐ.ब्रा.८.२०),
घृतमन्तरिक्षस्य (रूपम्) (श.ब्रा.७.५.१.३),
तेजो वै घृतम् (तै.सं.२.२.९.४; मै.सं.१.६.८), वज्रो घृतम् (काठ.सं.२०.५),

यदध्रियत (घ्रियत्-मै.सं.) तद् घृतम् (तै.सं.२.३.१०.१; मै.सं.२.३.४),
घृङ्ङ्करोत् तद् घृतस्य घृतत्वम् (काठ.सं.२४.७)

ध्यातव्य है कि यहाँ 'पशुः' का अर्थ छन्द व मरुद् रश्मियाँ ग्रहण करना चाहिए। ये 'घृम्' रश्मियाँ 'हिम्' रश्मियों की भाँति वज्ररूप तेजस्विनी होकर विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों को अपनी तेजस्विता से तेजयुक्त करके बाधक रश्मि आदि पदार्थों को नष्ट वा नियन्त्रित करती हैं। कालान्तर में उत्पन्न आकाश तत्त्व (स्पेस) में इन रश्मियों की प्रचुरता रहती है, जिसके कारण स्पेस में विद्यमान विभिन्न छन्दादि रश्मियाँ अधिक तेजयुक्त होकर स्पेस को भी अव्यक्त तेज से युक्त करती हैं। नाना प्रकार के पदार्थ इन रश्मियों को धारण करके अपेक्षाकृत अधिक तेज व बल से युक्त होने लगते हैं अर्थात् ये रश्मियाँ उनके तेज व बलों की समृद्धि करती हैं। ये रश्मियाँ सभी रश्मि आदि पदार्थों को सींचती रहती हैं।

अब इस पर पूर्वोक्त अक्षर विज्ञान की दृष्टि से विचार करते हैं—

यह 'घृम्' रश्मि 'घ्+ऋ+म्' का रूप है। यह रश्मि विभिन्न रश्मि वा कण आदि पदार्थों के ऊपर बाहरी भाग में एकाग्रता से अपनी वृष्टि करके उनमें सत्य [सत्यम् = सत्यं ब्रह्म (श.ब्रा.१४.८.५.१), प्राणा वै सत्यम् (श.ब्रा.१४.५.१.२३), सत्यं वै हिरण्यम् (गो.उ.३.१७)] का निरन्तर संचरण होने में सहायक होती है अर्थात् वे रश्मि व कण आदि पदार्थ नाना प्राण रश्मियों से युक्त होकर व्यापक रूप से तेजस्वी होने लगते हैं। यह रश्मि होने वाली क्रियाओं को विशेष रूप से उत्प्रेरित करने का कार्य करती है। इनका स्वरूप भी वज्रतुल्य होने से यह संकेत मिलता है कि ये रश्मियाँ भी सूक्ष्म स्तर पर बाधक पदार्थों को नष्ट व नियन्त्रित करने का कार्य करती हैं। इनकी सघनता से आकाश तत्त्व भी सघन होने लगता है और आकाश की सघनता में बाधक असुर पदार्थ निःशक्त हो जाते हैं अथवा पलायन कर जाते हैं। आकाश तत्त्व जिन पदार्थों को धारण करता है, उस धारण कर्म में इन रश्मियों की भी भूमिका होती है।

(ब) प्राथमिक प्राण रश्मियाँ

उपर्युक्त सूक्ष्म रश्मियों के पश्चात् प्राथमिक प्राण रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इनके विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है—

अध्रुवं वै तद्यत्प्राणः (श.ब्रा.१०.२.६.१९)

अर्थात् सभी प्राण रश्मियाँ कभी स्थिर नहीं रहतीं अर्थात् सतत गमन करती रहती हैं। सभी प्राण रश्मियाँ छन्द रश्मियों के सापेक्ष वृषा रूप होकर उनके साथ संगत होकर उन्हें प्रेरित करती हैं। सभी प्राण रश्मियाँ अक्षरों का ही समुदाय होती हैं। प्राण तत्त्व, जिसमें सभी प्राथमिक प्राण रश्मियाँ समाहित हैं, के विषय में ऋषियों का कथन है—

मनसा हि प्राणो धृतः (काठ.सं.२७.१; क.सं.४२.१),
मनो वा अनु प्राणाः (जै.ब्रा.१.१६),
मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः (श.ब्रा.१४.३.२.३),
एषा हीदं देवता सर्वं प्राणयत। तद् यत् प्राणयत तस्मात्प्राणः (जै.ब्रा.३.३७७),
तस्मात् सर्वे प्राणा वाचि प्रतिष्ठिताः (श.ब्रा.१२.८.२.२५),
प्राण एव रज्जुः प्राणेन हि मनश्च वाक् चाभिहिते (का.श.ब्रा.३.१.४.२),
प्राणा रश्मयः (तै.ब्रा.३.२.५.२), वाक् प्राणेन संहिता (ऐ.आ.३.१.६),
वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम् (श.ब्रा.१.४.१.२)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि प्राण तत्त्व, जो रश्मि रूप होता है, मनस्तत्त्व एवं 'ओम्' रश्मियों के मेल से ही प्रकट होता है। यह मनस्तत्त्व का ही विकार है और उसी के द्वारा धारण किया जाता तथा उसी का अनुगमन करता है। 'ओम्' रश्मियों का पश्यन्ती रूप सदैव विचरण करता हुआ इस प्राण तत्त्व को अपने में प्रतिष्ठित किये रहता है। ये प्राण रश्मियाँ रश्मिरूप होती हैं तथा वाक् एवं मनस्तत्त्व दोनों को धारण किए रहती हैं तथा वाक् तत्त्व ('ओम्' रश्मि एवं अन्य मरुद् वा छन्द रश्मियाँ) के साथ सदैव मिथुन बनाए रखती हैं। 'ओम्' रश्मियों के अतिरिक्त अन्य छन्दादि रश्मियाँ योषा तथा प्राण रश्मियाँ वृषा का कार्य करती हैं। प्राण तत्त्व के विषय में महर्षि व्यास कहते हैं—

सप्त गतेर्विशेषितत्त्वाच्च (ब्र.सू.२.४.५), ज्योतिराद्यधिष्ठानम् (ब्र.सू.२.४.१४)

अर्थात् सात प्रकार की गतियों के कारण प्राण सात प्रकार के होते हैं। हमारे मत में यहाँ प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, सूत्रात्मा वायु एवं धनञ्जय की ही चर्चा की गई है। ये मुख्य प्राण हैं। इससे हम यह सिद्ध करना चाहते हैं कि प्राण तत्त्व एक ही है, परन्तु उसकी नाना प्रकार की गतियों के कारण नाना भेद हो जाते हैं। ये सभी प्राण रश्मियाँ प्रकाश, बल आदि गुणों का अधिष्ठान होती हैं। शास्त्रों में अनेकत्र प्राण, अपान एवं व्यान को तीन मुख्य प्राण

माना गया है। वस्तुतः ये रश्मियाँ ग्यारह प्रकार की होती हैं। मनस्तत्त्व वा अहंकार में 'ओम्' रश्मि द्वारा उत्पन्न स्पन्दनों की तीव्रता, गति एवं स्वभाव आदि के भेद से एक प्राण तत्त्व के ही ये ग्यारह रूप हैं। यहाँ हम इन तीन प्राणों की उत्पत्ति के विषय में कुछ चर्चा करते हैं—

ऋतु संज्ञक प्राण ऐसे सूक्ष्म प्राण हैं, जो सृष्टि उत्पत्ति के प्रथम चरण में अहंकार वा मनस्तत्त्व रूप अति सूक्ष्म पदार्थ में सर्वप्रथम स्पन्दन के रूप में उत्पन्न होते हैं। शतपथ ब्राह्मण[7] के अनुसार 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' के एक-२ अक्षर की ऋतु संज्ञा होती है। इनकी ऋतु संज्ञा इस कारण होती है, क्योंकि वे इस सृष्टि में बार-२ उत्पन्न होकर सबको व्याप्त करते रहते हैं। इन ऐसी सूक्ष्म ऋतु संज्ञक प्राण रश्मियों, जो एकाक्षरा वाक् के रूप में होती हैं, के यजन से प्राण, अपान एवं व्यान आदि प्राथमिक प्राणों की उत्पत्ति होती है। जब ऐसी सूक्ष्म ऋतु रश्मियों की संगति होकर वे प्रवाह रूप में मनस् वा अहंकार तत्त्व में विचरण करती हैं, तब वे प्राणापान आदि के रूप में व्यवहार करती हैं।

प्राण नामक प्राथमिक प्राण ६ सूक्ष्म ऋतु रश्मियों से मिलकर बनता है। इन ६ सूक्ष्म ऋतु रश्मियों की पृथक्-२ एक-२ करके आवृत्ति होती है। पुनः वे सभी ६ रश्मियाँ परस्पर संगत होकर किसी भी संयोज्य पदार्थ में प्राण नामक प्राथमिक प्राण को धारण कराती हैं अर्थात् इन ६ रश्मियों के क्रमशः संगत होने से कोई भी पदार्थ प्राण को धारण करता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि प्राण रूपी प्राथमिक प्राण इन ऋतु रश्मियों की अपेक्षा स्थूल होता है। प्राण तत्त्व को ६ ऋतु रश्मियों के समान मानना चाहिए। 'षड्ऋतुना' यह दैवी पंक्ति छन्द रश्मि उत्पन्न होकर ऋतु रश्मियों को संगत करके प्राण तत्त्व को उत्पन्न करती है।

'चत्वार ऋतुभिः' यह दैवी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि उत्पन्न होकर चार-२ सूक्ष्म ऋतु रश्मियों के चार संयुक्त रूपों को संगत करके अपान तत्त्व की उत्पत्ति करती है किंवा इन चार-२ ऋतु रश्मियों के चार संयुक्त रूप ही परस्पर संगत होकर किसी भी पदार्थ में अपान तत्त्व को उत्पन्न करके धारण कराते हैं। एक साथ चार-२ ऋतु रश्मियों की उत्पत्ति होकर चार आवृत्ति हुआ करती हैं, जिससे कुल १६ ऋतु रश्मियों के योग से अपान तत्त्व की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रश्न यह उठ सकता है कि यहाँ कौनसी चार ऋतु रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं?

[7] द्वौ हि मासावृतुः (श.ब्रा.७.४.२.२९)

इस विषय में हमारा मत यह है कि 'ओम्', 'भूः', 'भुवः' और 'सुवः' में से एक 'ओम्' अक्षर को साथ लेकर अन्य से एक-२ अक्षर लेकर चतुरक्षरा वाग् रश्मि चार ऋतु संज्ञक रश्मियों का संयुक्त रूप ले सकती है। दूसरा विकल्प यह भी सम्भव है कि व्याहृतियों को एक-२ ऋतु रश्मि ही माना जाए, तब ओंकार सहित इनका संयुक्त रूप चार ऋतु रश्मियों का रूप ले सकता है।

एक ऋतु संज्ञक रश्मि दो बार आवृत्त और फिर परस्पर संयुक्त होकर व्यान प्राण को उत्पन्न करती है। दो बार आवृत्त यह ऋतु रश्मि 'द्विर्ऋतुना' इस दैवी बृहती छन्द रश्मि के उत्पन्न होकर प्रेरणा करने से परस्पर संगत होकर व्यान प्राण को उत्पन्न करती है। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह ऋतु रश्मि कौनसी होती है? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि 'ओम्' रूपी ऋतु रश्मि ही दो बार संगत होकर व्यान प्राण का रूप धारण कर प्राण और अपान आदि में विचरण करते हुए उनको परस्पर संगत रखती है।

'ऋतुना', 'ऋतुभिः' एवं पुनः 'ऋतुना' पदों से प्राण, अपान और व्यान की परस्पर संगति बनी रहती है। इस विषय में हमारा मत यह है कि सर्वप्रथम 'ओम्' अक्षर से ऋतु रश्मियों की उत्पत्ति एक-२ करके प्रारम्भ होने, पुनः चार ऋतु रश्मियों का संयोग भी 'ओम्' से ही प्रत्येक बार प्रारम्भ होने और अन्त में 'ओम्' की ही दो बार आवृत्ति होने से यह 'ओम्' अक्षर रश्मि ही सबको परस्पर बाँधे रखने में समर्थ होती है। यह 'ओम्' अक्षर ही सर्वत्र व्याप्त है। इसलिए कहा गया है— एतद्ध (ओमिति) वा इदं सर्वमक्षरम् (जै.ब्रा.२.१०), ओमिति ब्रह्म, ओमितीदꣳ सर्वम् (तै.आ.७.८.१)। सम्पूर्ण सृष्टि 'ओम्' का ही विस्तार और प्रकाश है। इसलिए माण्डूक्योपनिषत्कार महर्षि अति सुन्दर लिखते हैं—

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति
सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव॥ (माण्डू.उ.१)

१. सूत्रात्मा वायु — ऋषि दयानन्द ने अपने यजुर्वेद १७.३२ के भाष्य में 'गन्धर्व' शब्द से सूत्रात्मा वायु का ग्रहण किया है तथा उसकी उत्पत्ति सभी अन्य दस प्राण रश्मियों से पूर्व होती है, ऐसा लिखा है। इसे उन्होंने अपने ऋग्वेद भा.६.२१.९ तथा यजु.भा.२७.२५ के भावार्थ में 'सर्वधरम्' तथा ऋग्वेद भा.५.४६.३ में 'पालकम्' विशेषणों से युक्त माना है। हमारे मत में अनेक आर्ष ग्रन्थों में 'आत्मा' पद से सूत्रात्मा वायु का भी ग्रहण करना योग्य

है, क्योंकि यह वायु अन्य सभी प्राण वा छन्दादि रश्मियों में निरन्तर गमन करता रहता है। इसके विषय में कहा गया है—

आत्मा वै देवयजनम् (मै.सं.३.८.४; क.सं.३८.६),
आत्मा यजमानः (कौ.ब्रा.१७.७; तै.आ.१०.६४.१)

इन वचनों से संकेत मिलता है कि सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ विभिन्न प्राण रश्मियों रूपी देवों को परस्पर संगत करने के विशेष गुण से युक्त होती हैं। 'ओम्' रश्मि के पश्चात् सम्पूर्ण सृष्टि को बाँधने में सर्वोच्च भूमिका सूत्रात्मा वायु रश्मियों की ही होती है। हाँ, 'हिम्' रश्मि अवश्य दो छन्द रश्मियों को परस्पर संगत करने में भूमिका निभाती है। 'ओम्' रश्मि सूत्रात्मा वायु रश्मियों में व्याप्त होकर ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को बाँधती व नियन्त्रित करती है। 'ओम्' रश्मियों के पश्चात् सर्वाधिक व्यापकता व संयोजकता इन्हीं की होती है।

इसके नाम से ही स्पष्ट होता है कि ये रश्मियाँ सूत्रवत् सभी पदार्थों में विचरण करती हुई उन्हें बाँधती व संगत करती हैं। मनस्तत्त्व के अन्दर 'ओम्' रश्मि के द्वारा ये ऐसे अव्यक्त स्पन्दनों के रूप में प्रकट होती हैं, जो परस्पर एक-दूसरे के साथ जाल के समान बुने रहते हैं। इसीलिए ग्रन्थकार का कथन है—

'आत्मा वै समस्तः' (ऐ.ब्रा.२.४०)

अर्थात् सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ परस्पर मिश्रित के समान प्रकट होकर विभिन्न पदार्थों में व्याप्त होती हुई उन्हें परस्पर मिश्रित करती हैं। विभिन्न कणों और लोकों की परिधियों के निर्माण में सूत्रात्मा वायु रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है। ये रश्मियाँ न केवल लोकों व कणों की परिधि के निर्माण में सहायक होती हैं, अपितु बड़ी छन्द रश्मियों को भी बाँधने में सहायक होती हैं। जब दो या दो से अधिक कणों का परस्पर संयोग होता है, तब सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ उस संयुक्त कण को एक साथ बाँध लेती हैं। संयोग-वियोग की प्रक्रियाओं को सम्पन्न करने के लिए आकाशतत्त्व को सक्रिय करने में भी इनकी अनिवार्य भूमिका होती है।

जब इन सूत्रात्मा वायु रश्मियों से धनञ्जय रश्मियों का मेल हो जाता है, तब धनञ्जय रश्मियों की गति कुछ कम हो जाती है। 'वाक्' इस पदरूपी छन्द रश्मि का नाम ही सूत्रात्मा है। यह भी 'ओम्' रश्मि की भाँति दैवी गायत्री छन्द है। विभिन्न रश्मियों के सम्पीडन में भी

इसकी भूमिका होती है। 'तन्तु तन्वन्' (ऋग्वेद १०.५३.६) में सूत्रात्मा वायु की एक धागे से उपमा की गई है, जो सभी कणों वा रश्मियों को एक-दूसरे के साथ बुने हुए रहता है। सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ जब धनञ्जय रश्मियों के साथ मिश्रित हो जाती हैं, तब उनकी तीव्रता बढ़ जाती है, जबकि धनञ्जय रश्मियों की गति कुछ कम हो जाती है। पदार्थ की तरलावस्था में सूत्रात्मा वायु के कारण घूमती हुई छन्द रश्मियाँ प्रेरक का काम करती हैं अर्थात् किसी भी पदार्थ की तरलावस्था ऐसी ही घूमती हुई छन्द रश्मियों के कारण होती है। सूत्रात्मा एवं धनञ्जय रश्मियों का संयुक्त रूप विभिन्न पदार्थों की परिधि वा मर्यादा बनाने में बृहती छन्द रश्मियों के साथ कार्य करता है, इस कारण किसी भी पदार्थ की परिधि में इनकी सघनता होती है। आकाशतत्त्व जो अपने से स्थूल सभी पदार्थों में सदा व्याप्त होता है, उस व्याप्ति का कारण भी सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ ही होती हैं। विभिन्न कणों के संयोग और तरंगों के सुपरपोजिशन के लिए सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ भी प्रमुखता से उत्तरदायिनी होती हैं। ये सूक्ष्म रश्मियाँ विभिन्न छन्द रश्मियों से लेकर आकाशतत्त्व तक सभी सूक्ष्म कणों और विशालतम लोकों में गुप्त रूप से व्याप्त रहती हैं।

इस ब्रह्माण्ड में जब सूत्रात्मा वायु रश्मियों का उत्कर्ष काल होता है, तब सभी रश्मि आदि पदार्थों की ऊर्जा में भारी वृद्धि होने लगती है और संयोग-वियोग की प्रक्रियाएँ तेजी से होने लगती हैं। इस समय विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ अनुष्टुप् छन्द रश्मियों का संयोग विशेष रूप से होने लगता है, जिससे सभी छन्द रश्मियाँ विशेष सक्रिय होने लगती हैं।
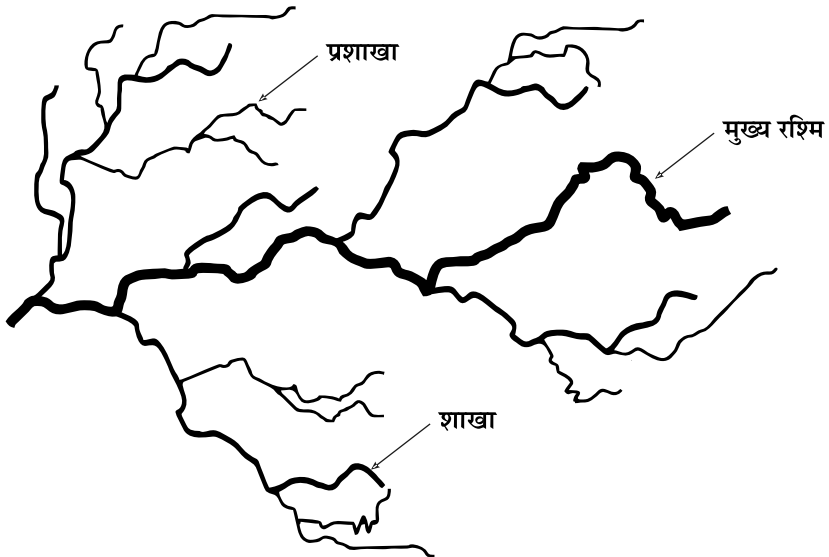
ये रश्मियाँ इस प्रकार उत्पन्न होती हैं कि हर रश्मि में से और भी सूक्ष्म रश्मियाँ उत्सर्जित होकर एक जाल बनाती हैं, इसी कारण सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ अपनी सूक्ष्म शाखा-प्रशाखा रूप सूक्ष्म रश्मि=स्पन्दनों के द्वारा ही अन्य सभी रश्मि आदि पदार्थों को अपने साथ तथा परस्पर बाँधे रखती हैं। इनका सम्बन्ध स्पेस के साथ अनिवार्य एवं अति निकट होता है। ये किसी पदार्थ को आकार प्रदान करने में भी अनिवार्य भूमिका निभाती हैं।

२. धनञ्जय — मनस्तत्त्व में 'ओम्' रश्मियों के द्वारा सूक्ष्म स्पन्दन के रूप में उत्पन्न यह रश्मि सूत्रात्मा वायु के पश्चात् प्रथम स्थान रखती है अर्थात् इसकी उत्पत्ति सूत्रात्मा वायु के तुरन्त पश्चात् होती है। ये रश्मियाँ मनस्तत्त्व में सर्वाधिक तीव्र गति वाले स्पन्दनों के रूप में उत्पन्न होती हैं तथा ये सूत्रात्मा वायु रश्मियों को भी स्पन्दित करके प्रायः उनमें मिश्रित सी हो जाती हैं, किन्तु कहीं-२ ये कुछ पृथक्पन के साथ ही अति तीव्रता से गमन करती हैं।

इन प्राण रश्मियों की गति प्रकाश की गति की अपेक्षा चार गुनी अर्थात् लगभग बारह लाख किमी प्रति सेकण्ड होती है। इस समूचे ब्रह्माण्ड में इससे अधिक गति किसी भी पदार्थ की नहीं होती। इन रश्मियों के संयोग वा आच्छादन से किसी भी रश्मि वा कण आदि पदार्थ की गति तीव्र हो जाती है। प्रकाश वा कोई भी विद्युत् चुम्बकीय तरंगें इन धनञ्जय रश्मियों के द्वारा ही खींच कर लाई जाती हैं, इसी कारण उनकी गति व शक्ति तीव्र होती है। तारों के निर्माण की प्रक्रिया में कॉस्मिक मेघों में केन्द्रों के निर्माण की प्रक्रिया धनञ्जय, व्यान और सूत्रात्मा वायु रश्मियों के योग से आकाश के संकुचन से प्रारम्भ होती है। सूत्रात्मा एवं धनञ्जय रश्मियों के साथ कुछ मरुद् रश्मियों के मेल से मध्यस्थ कण (मीडियेटर पार्टिकल) उत्पन्न होते हैं।

धनञ्जय रश्मियाँ जब सूत्रात्मा वायु रश्मियों के साथ मिश्रित हो जाती हैं, तब सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ अधिक बलवती हो उठती हैं। सूत्रात्मा एवं धनञ्जय का संयुक्त रूप बृहती छन्द रश्मियों के साथ मिलकर पदार्थों को आकार प्रदान करता है। विद्युत् की विभिन्न क्रियाओं को तीव्रता प्रदान करने में इनका विशेष योगदान होता है। ये रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु रश्मियों के साथ मिश्रित होकर विभिन्न कण वा तरंगों के मध्य कार्यरत बलों की तीव्रता बढ़ाती हैं, परन्तु सूत्रात्मा वायु के योग से धनञ्जय रश्मियों की गति में कुछ न्यूनता आ जाती है। ये रश्मियाँ जहाँ विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं तीव्रगामी सूक्ष्म कणों की गति का कारण होती हैं, वहीं सूत्रात्मा वायु के साथ मिलकर कणों के अक्ष पर घूर्णन का भी कारण होती

हैं।

इन रश्मियों का 'धनञ्जय' नाम इस बात का सूचक है कि ये रश्मियाँ नाना प्रकार के धन रूपी कणों को नियन्त्रित करने में अपनी भूमिका निभाती हैं। 'धनम्' के विषय में महर्षि ऐतरेय महीदास का कथन है—

राष्ट्राणि वै धनानि (ऐ.ब्रा.८.२६)

अर्थात् इस प्रकरण में तारों के केन्द्रीय भाग में संलयनीय कणों को ही 'धन' कहते हैं। इन कणों के नियन्त्रण में धनञ्जय रश्मियों की भी भूमिका होती है। 'धन' के विषय में अन्य ऋषियों का कथन है—

धनं धिनोतीति सतः (निरु.३.९), वस्तुमात्रम् (म.द.य.भा.४०.१)

यहाँ ऋषि दयानन्द ने वस्तुमात्र को धन कहा है। महर्षि यास्क के निर्वचन में 'धिनोति' पद 'धिवि प्रीणनार्थ' धातु से निष्पन्न है। इसके अर्थ हैं— सन्तुष्ट होना वा करना, समीप जाना वा आना (सं.धा.को. —पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक)। इसका तात्पर्य है कि 'धन' उन कणों वा रश्मियों को कह सकते हैं, जो सभी प्रकार के कणों वा तरंगों के निकट जाकर किंवा उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करके उन्हें तृप्त करने में सहायक होती हैं अर्थात् उन कणों वा तरंगों को उनके अभीष्ट कार्य में समुचित बल प्रदान करके सहयोग करती हैं। हमारे मत में प्राण रश्मियों के स्तर पर व्यान रश्मियाँ ही धनवाची मानी जा सकती हैं। धनञ्जय रश्मियों को इन व्यान रश्मियों की उपप्राण माना जाता है, इस कारण यह स्पष्ट है कि ये व्यान रश्मियों के निकट रहकर उन्हें प्रत्येक क्रिया में सहयोग-बल प्रदान करती हैं। यहाँ 'धन' शब्द से 'ओम्' रश्मियों का भी ग्रहण कर सकते हैं, जिससे संकेत मिलता है कि जब 'ओम्' रश्मियाँ निकटता से मन को स्पन्दित करती हैं, तब धनञ्जय रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। इससे स्पष्ट है कि इस सृष्टि में सर्वत्र इन रश्मियों की भूमिका रहती है।

३. प्राण — सभी प्राथमिक प्राणों में इन प्राण रश्मियों का सर्वोच्च स्थान माना जाता है। यह बात इसके नाम से भी सिद्ध होती है कि इसके नाम से ही सभी प्रकार की प्राण रश्मियों का ग्रहण किया जाता है। जब मनस्तत्त्व में 'ओम्' छन्द रश्मियाँ प्रकृष्ट वेग व बल से गमन करती हैं, तब इससे मनस्तत्त्व में स्पन्दन के रूप में उत्पन्न रश्मियाँ 'प्राण' कहलाती हैं। इसमें 'प्र' उपसर्ग विद्यमान है, इस उपसर्ग के विषय में ऋषियों का कथन है—

आ इत्यर्वागर्थे, प्र परेत्येतस्य प्रातिलोम्यम् (निरु.१.३),
अन्तरिक्षं वै प्र (ऐ.ब्रा.२.४१), प्राणो वै प्र (ऐ.ब्रा.२.४०)

इन वचनों से यह स्पष्ट होता है कि 'आ' उपसर्ग के निकट अर्थ के विपरीत, जब मनस्तत्त्व में 'ओम्' रश्मियाँ दूर-२ स्पन्दन उत्पन्न करती हैं, तब प्राण नामक प्राथमिक प्राण रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इन प्राण रश्मियों से आकाश तत्त्व सामर्थ्यवान् होता है अर्थात् ये रश्मियाँ किसी कण वा रश्मि को प्राण तत्त्व किंवा बल प्रदान करके आकाश तत्त्व में आवागमन की प्रक्रिया को समृद्ध करती हैं। इनके लिए ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में निम्नलिखित विशेषणों का प्रयोग किया है—

प्रियम् (ऋ.६.५०.१), बहुभ्यः कारणेभ्य उत्पन्नः (ऋ.१.२.९),
सर्वमित्रोबाह्यगतिः (ऋ.१.१५.६)

इन विशेषणों से प्राण रश्मियों के निम्नलिखित गुणों का संकेत मिलता है—

इनमें आकर्षण बल की प्रधानता होती है। यह अनेक कारणभूत पदार्थों कदाचित् मन, 'ओम्' रश्मि, सूत्रात्मा वायु एवं धनञ्जय रश्मियों के योग से उत्पन्न होता है। यह सबका आकर्षक बनकर सबको आकर्षण बल से युक्त करता हुआ उन कणों वा तरंगों में भीतर से बाहर निरन्तर संचरित होता रहता है।

अन्य ऋषियों ने भी प्राण रश्मियों के विषय में लिखा है—

न वै प्राणात् प्रेयः किंचनास्ति (जै.ब्रा.१.२७२),
प्राण एव सविता (गो.पू.१.३३; श.ब्रा.१२.९.१.१६), प्राणो वै सविता (ऐ.ब्रा.१.१९),
भूरिति वै प्राणः (तै.आ.७.५.३; तै.उ.१.५.३)

इन वचनों का आशय है कि प्राण नामक प्राण रश्मियों से बढ़कर आकर्षक बलों से युक्त अन्य कोई भी रश्मियाँ इस स्तर की नहीं होती। ये ही नाना कणों वा तरंगों की प्रेरक एवं उत्पादिका होती हैं। इस सृष्टि में जहाँ कहीं भी आकर्षण बल की सत्ता है, वहाँ इस बल के मूल कारण रूप इस तत्त्व की सत्ता अवश्य विद्यमान है। ये रश्मियाँ 'भूः' व्याहृति रश्मियों के साथ भी साम्यता रखती हैं, इस कारण उनके गुणों के तुल्य गुणों से भी युक्त होती हैं। विभिन्न रासायनिक संयोग एवं नाभिकीय संलयन की प्रक्रियाओं में प्राण रश्मियों

की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इनकी उत्पत्ति ओम् एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियों से होती है। विभिन्न कणों वा विकिरणों के मार्ग को निरापद बनाने में अपान रश्मियों के साथ इनकी भी संयुक्त भूमिका होती है। गुरुत्वाकर्षण बल में अन्य प्राण रश्मियों की अपेक्षा इनकी प्रधानता होती है।

४. अपान — यह रश्मि मनस्तत्त्व के अन्दर 'ओम्' रश्मि के द्वारा उत्पन्न ऐसा स्पन्दन है, जिसकी गति प्राण नामक प्राथमिक प्राण की अपेक्षा ठीक विपरीत होती है। प्राण व अपान दोनों रश्मियाँ साथ-२ रहते हुए भी परस्पर विपरीत दिशा में स्पन्दित होती रहती हैं। इनका सर्वत्र सदैव यही स्वभाव रहता है। अपान शब्द 'अप' उपसर्गपूर्वक 'अन्' धातु से निष्पन्न होता है। इस उपसर्ग के विषय में महर्षि यास्क का कथन है—

'समित्येकीभावम् अपेत्येतस्य प्रातिलोम्यम्' (निरु.१.३)

इससे प्रतीत होता है कि मनस्तत्त्व के अन्दर 'ओम्' रश्मियाँ ऐसे स्पन्दन उत्पन्न करती हैं, जो विभिन्न स्पन्दनों को पृथक्-२ करने के स्वभाव से युक्त होते हैं। इस कारण अपान रश्मियाँ प्रतिकर्षण बलों को उत्पन्न करने का मूल कारण होती हैं। इन रश्मियों के विषय में भी ऋषि दयानन्द ने अपने ऋग्वेद भाष्य १.२.९ में प्राण रश्मियों की भाँति 'बहुभ्यः कारणेभ्यः उत्पन्नः' कहा है, इससे इन दोनों रश्मियों में कुछ समानता प्रतीत होती है। इसी कारण ये दोनों साथ-२ रहती व गमन करती हैं। इन रश्मियों के विषय में ऋषियों का कथन है—

अपानेन वै प्राणो धृतः (मै.सं.४.५.६),
अपानो वै यन्ताऽपानेन ह्ययं यतः प्राणो न पराङ् भवति (ऐ.ब्रा.२.४०),
प्राणो वै दक्षोऽपानः क्रतुः (तै.सं.२.५.२.४),
बहिर्वै सन्तं प्राणमुपजीवन्त्यन्तः सन्तमपानम् (जै.ब्रा.१.३७ – ब्रा.उ.को. से उद्धृत)

इन वचनों से निम्न निष्कर्ष प्राप्त होता है—

ये रश्मियाँ प्राण रश्मियों के साथ सदैव ही जुड़ी रहती हैं, मानो ये प्राण रश्मियों को धारण किये रहती हैं। यहाँ यह विशेषता है कि ये रश्मियाँ विभिन्न रश्मियों को पृथक्-२ करने के स्वभाव से युक्त होती हैं और इसी कारण ये प्रतिकर्षण बल की जननी होती हैं, परन्तु ये रश्मियाँ प्राण रश्मियों को अपने साथ संगत किये रहती हैं अर्थात् उनके प्रति अपान रश्मियों में आकर्षण का भाव होता है। प्राण रश्मियाँ इनको त्यागकर कहीं नहीं जा सकतीं।

प्राण रश्मियाँ बलप्रधान तथा अपान रश्मियाँ क्रियाप्रधान होती हैं। प्राण रश्मियाँ किसी कण वा तरंग के अन्दर से बाहर की ओर तथा अपान रश्मियाँ बाहर से अन्दर संचरित होती हैं।

प्रश्न— आपने प्राण रश्मियों को बलप्रधान तथा अपान रश्मियों को क्रियाप्रधान कहा, इसका क्या कारण वा आशय है? उधर आपने प्राण को आकर्षण तथा अपान को प्रतिकर्षण बल का कारण कहा, इस कारण ये दो परस्पर असंगत विचार प्रतीत होते हैं।

उत्तर— प्राण रश्मियाँ सत्त्वप्रधान एवं अपान रश्मियाँ रजस् प्रधान होती हैं। इसी कारण प्राण व अपान रश्मियाँ क्रमशः बल व क्रिया प्रधान होती हैं। वस्तुतः ये दोनों प्रकार की रश्मियाँ परस्पर संयुक्त रहती हैं। कहीं भी इनका पृथक्पन नहीं देखा जाता। इनके संयुक्त प्रभाव से प्रत्येक पदार्थ बल एवं क्रिया दोनों से ही सम्पन्न होता है। जब किसी पदार्थ में प्राण की प्रधानता तथा अपान गौण रूप में विद्यमान होता है, तब उस पदार्थ में आकर्षण बल की प्रधानता, परन्तु क्रियाशीलता गौण होती है। जब किसी पदार्थ में अपान की प्रधानता एवं प्राण गौण होता है, तब उस पदार्थ में क्रियाशीलता प्रधान तथा बल की न्यूनता होती है। इस सृष्टि में सभी बल आकर्षण एवं प्रतिकर्षण दोनों ही रूपों में विद्यमान होते हैं, परन्तु गुरुत्वाकर्षण बल केवल आकर्षण का ही प्रभाव रखता है। इस स्थिति में इस बल में प्राण रश्मियों की प्रधानता तथा अपान की अप्रधानता माननी होगी। गुरुत्व बल में बृहती एवं पंक्ति छन्द रश्मियों की विद्यमानता होती है तथा प्राण रश्मियों के विषय में ऋषियों ने कहा है—

अथ वै हविष्पङ्क्तिः प्राण एव (कौ.ब्रा.१३.२), प्राणा वै बृहत्यः (ऐ.ब्रा.३.१४), अथ बृहती योऽयं प्राङ्प्राणः (जै.ब्रा.१.२५४), भुव इत्यपानः (तै.आ.७.५.३; तै.उ.१.५.३)

इन वचनों से सिद्ध होता है कि बृहती व पंक्ति छन्द रश्मियाँ प्राण प्रधान वा प्राण रश्मियों के समान ही व्यवहार करती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि गुरुत्व बल में प्राण रश्मियाँ ही प्रधान होती हैं। वहाँ अपान रश्मियाँ अत्यन्त न्यून मात्रा में होती हैं, जिनका प्रायः कोई प्रभाव नहीं होता, इसी कारण गुरुत्व बल केवल आकर्षण का ही व्यवहार दर्शाता है। इधर क्रियाशीलता की दृष्टि से विचारें, तो जिस पदार्थ में जितना अधिक गुरुत्वाकर्षण बल किंवा द्रव्यमान होगा, वह उतना ही कम सक्रिय होगा। इस दृष्टि से यहाँ अपान प्राण की न्यूनता वा अविद्यमानता सिद्ध होती है। उधर गुरुत्व बल रश्मियों में केवल आकर्षण बल की विद्यमानता होती है, परन्तु उन रश्मियों की क्रियाशीलता बहुत कम होती है, इसी कारण ये

अत्यन्त कम आवृत्ति की होती हैं अर्थात् निर्बल होती हैं। ध्यातव्य है कि बल में प्राण तथा क्रिया में अपान की प्रधानता होती है। यहाँ अप्रधानता का तात्पर्य अत्यन्ताभाव नहीं है। वस्तुतः किंचित् मात्रा में ही सही अप्रधान पदार्थ की विद्यमानता होती ही है। ये रश्मियाँ 'भुवः' व्याहृति रश्मि के साथ भी साम्यता रखने से उनके गुणों के तुल्य गुणों से भी युक्त होती हैं। विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में इन रश्मियों की प्राण रश्मियों की अपेक्षा अधिकता होने के कारण ये तरंगें निरन्तर प्रबल वेग से गमन करती रहती हैं।

५. व्यान — ये रश्मियाँ मनस्तत्त्व के अन्दर 'ओम्' रश्मियों द्वारा इस प्रकार उत्पन्न होती हैं कि वे प्राण व अपान के मध्य सन्धि का कार्य कर सकें। इसी बात का संकेत करते हुए उपनिषत्कार ने कहा—

'अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक्' (छां.उ.१.३.३)

इससे स्पष्ट है कि बिना व्यान रश्मि के प्राण एवं अपान साथ-२ संगत नहीं रह सकते। इन रश्मियों का स्पन्दन ही प्राण-अपान रश्मियों को संगत बनाए रखता है। ये रश्मियाँ मनस्तत्त्व में 'ओम्' रश्मि के विशेष व विचित्र प्रकार के स्पन्दनों से निर्मित होती हैं। इनकी गति भी विविध व विचित्र प्रकार की होने से इन्हें व्यान कहा जाता है। इन रश्मियों के विषय में ऋषियों का कथन है—

व्यानो वरुणः (श.ब्रा.१२.९.१.१६), व्यानस्त्रिष्टुप् (मै.सं.३.४.४; काठ.सं.२१.१२),
निक्रीडित इव ह्यं व्यानः (ष.ब्रा.२.२), व्यानो बृहती (तां.ब्रा.७.३.८),
सुवरिति व्यानः (तै.आ.७.५.३; तै.उ.१.५.३), व्यानादपानꣳ सन्तनु (काठ.सं.३९.८)

इन वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

व्यान रश्मियाँ वरुण रूप होने से न केवल प्राण व अपान का वरण करके उन्हें बाँधे रखती हैं, अपितु अन्य रश्मि व कण आदि पदार्थों को बाँधने में प्राण व अपान रश्मियों के साथ विशेष भूमिका निभाती हैं। ये रश्मियाँ त्रिष्टुप् की भाँति व्यवहार करते हुए प्राण व अपान को तीन प्रकार से थामे वा बाँधे रखती हैं तथा उन्हें तीव्र तेज व बल से भी सम्पन्न करने में सहायक होती हैं। ये रश्मियाँ प्राण व अपान के मध्य निरन्तर नितराम् क्रीड़ा करती हुई सी संचरित होती रहती हैं। ये बृहती रश्मियों की भाँति व्यवहार करके प्राण व अपान रश्मियों को बाँधकर उनकी मर्यादा सुनिश्चित करती हैं। ये रश्मियाँ 'स्वः' व्याहृति रश्मियों से

साम्यता रखती हैं, इस कारण उनके गुणों के तुल्य गुणों से युक्त भी होती हैं। तरंगाणुओं के निर्माण में व्यान रश्मियाँ अपान रश्मियों को फैलाकर तरंगाणुओं को कणों की अपेक्षा अति न्यून सघनता प्रदान करती हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राय: सर्वत्र छन्दादि रश्मियों को सघनता प्रदान करने वाली व्यान रश्मियाँ तरंगाणुओं को मूल कणों की भाँति अति सघन नहीं बनाती, क्योंकि इनमें वे अपान प्राण को फैलाकर उनके पृथक्करण गुण को प्राण रश्मियों के संयोजी गुण की अपेक्षा कुछ बढ़ा देती हैं। ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में व्यान प्राण के लिए कई विशेषणों का प्रयोग किया है, यथा—

व्यापकम् (ऋ.६.२१.९), पुष्टिकरम् (ऋ.५.४६.३),
विविधेषु शरीरसंधिष्वनिति तत् (यजु.१४.८), विविधोत्तमव्यवहर्त्ता (यजु.१३.१९)

इन विशेषणों से हमें निम्नलिखित संकेत मिलते हैं—

व्यान रश्मियों का क्षेत्र सूत्रात्मा वायु के पश्चात् सबसे व्यापक होता है। ये रश्मियाँ अन्य प्राण रश्मियों के नाना बलों व क्रियाओं का पोषण करती हैं। ये रश्मियाँ न केवल प्राण व अपान की सन्धियों, अपितु अन्य प्राण रश्मियों की सन्धियों में भी विचरण करती हैं। इससे वे रश्मियाँ भी अपने बल व क्रियाओं की दृष्टि से पुष्ट होती रहती हैं। ये रश्मियाँ नाना प्रकार के उत्तम व्यवहारों से युक्त होकर सभी प्राण रश्मियों, विशेषकर प्राण व अपान को भी नाना व्यवहारों से युक्त करती हैं।

व्यान रश्मियों का सम्बन्ध सूत्रात्मा वायु के साथ-२ बृहती छन्द रश्मियों से विशेष होता है, जिससे पदार्थ के संघनन की प्रक्रिया तीव्र होती है। गुरुत्व बल में भी इसकी भूमिका होती है। व्यान प्राण के उत्कर्ष के समय सभी प्रकार की संयोजन और सम्पीडन क्रियाएँ अपेक्षाकृत तीव्र होती हैं। सूत्रात्मा वायु एवं व्यान रश्मियों के कारण ही विद्युत् विभिन्न प्रकार की संयोग क्रियाओं के लिए उत्तरदायिनी होती है। सूत्रात्मा वायु एवं व्यान रश्मियों के मिश्रण से समृद्ध गुरुत्व बल उस समय और प्रबल हो जाता है, जब उसमें ऋतु रश्मियाँ भी मिश्रित हो जाती हैं।

६. समान — जब 'ओम्' रश्मियाँ मनस्तत्त्व के अन्दर सम गति व बल के साथ स्पन्दन उत्पन्न करती हैं, तब उस समय समान नामक प्राण रश्मियाँ प्रकट होती हैं। ये प्राण रश्मियाँ

विभिन्न प्राण रश्मियों के बल व गति को संतुलित बनाए रखती हैं, विशेषकर प्राण व अपान नामक प्राण रश्मियों के सन्तुलन को बनाए रखने में ये विशेष भूमिका निभाती हैं। ये रश्मियाँ समान लय से निरन्तर गमन करती रहती हैं। इनके विषय में ऋषियों का कथन है—

स्वव्याप्त्यैकरसम् (म.द.ऋ.भा.१.१३१.२), समानयति रसं येन सः (म.द.य.भा.२२.३३),
समानं सम्मानमात्रं भवति (निरु.४.२५),
निरुक्तानिरुक्त इव ह्ययं समानः (ष.ब्रा.१.२ —वै.को. से उद्धृत)

इन वचनों से निम्न संकेत प्राप्त होते हैं—

ये प्राण रश्मियाँ भी विभिन्न प्राण रश्मियों में एकरस होकर व्याप्त होती हैं, विशेषकर प्राण व अपान रश्मियों के अन्दर। [समानयति = (समा + नी= मिलाना, एकता में आबद्ध करना —आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश)] यहाँ स्पष्ट किया है कि ये रश्मियाँ न केवल स्वयं लयबद्ध होकर गमन करती हैं, अपितु अन्य प्राण रश्मियों, विशेषतः प्राण व अपान रश्मियों में एकता व लयबद्धता बनाए रखती हैं। यह प्रक्रिया कैसे होती है, यहाँ इसका भी संकेत किया गया है कि ये रश्मियाँ इन प्राण रश्मियों के अन्दर रसरूप 'ओम्' रश्मियों की लयबद्धता बनाए रखने में सहायक होती हैं, जिससे वे प्राण रश्मियाँ सर्वत्र समान गुण दर्शाती हैं। ये रश्मियाँ विभिन्न प्राण रश्मियों की मर्यादा में ही संचरित होती हुई उसे बनाए रखने में सहायक होती हैं। ये रश्मियाँ निरुक्त व अनिरुक्त दोनों ही गुणों से युक्त होती हैं। निरुक्त के विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा है—

परिमितं वै निरुक्तम् (श.ब्रा.५.४.४.१३)

इससे संकेत मिलता है कि समान नामक प्राण रश्मियाँ परिमित तथा अपरिमित दोनों ही व्यवहारों से युक्त होती हैं। हमारे मत में इसका भाव यह है कि ये रश्मियाँ विभिन्न प्राण रश्मियों वा उनके कारण रूप मनस्तत्त्व की अपेक्षा परिमित तथा इनके कार्य रूप वर्तमान विज्ञान द्वारा ज्ञात अथवा ज्ञेय कणों वा तरंगों की अपेक्षा अपरिमित होती हैं। इनकी प्रधानता के प्रभाव से विभिन्न विद्युत् बलों की तीक्ष्णता बढ़ने लगती है।

७. उदान — जब मनस्तत्त्व में 'ओम्' रश्मियों का स्पन्दन इस प्रकार होता है कि मनस्तत्त्व में उत्क्षेपण गुण का प्रादुर्भाव होने लगता है, उस समय उत्पन्न स्पन्दन ऊर्ध्वगमन वाले होते हैं। इन स्पन्दनों में 'ओम्' रश्मियाँ ऊर्ध्वगामिनी होती हुई उत्पन्न होती हैं। इसके साथ ही

उनकी गति उत्कृष्ट होती है अर्थात् इनमें 'ओम्' रश्मियों की गति बहुत तीव्र होती है। ये रश्मियाँ मनस्तत्त्व में एक खिंचाव उत्पन्न करती हुई गति करती हैं। इससे उत्पन्न उदान नामक स्पन्दन ऊर्ध्वगमन से युक्त होते हैं। ये रश्मियाँ विभिन्न रश्मियों में उत्क्षेपण गुण उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। इन रश्मियों के विषय में ऋषियों का कथन है—

उदस्त इव ह्ययमुदानः (ष.ब्रा.२.२), उदानो वै नियुतः (श.ब्रा.६.२.२.६),
उदानो वै बृहच्छोचाः (श.ब्रा.१.४.३.३),
उदानो बृहत् (जै.ब्रा.१.२२९), उदानो यजमानः (ष.ब्रा.२.७)

इन वचनों से निम्नलिखित तथ्य प्रकाशित होते हैं—

ये उदान रश्मियाँ मनस्तत्त्व के अन्दर ऊपर की ओर प्रक्षिप्त हुई सी प्रकट होती हैं अर्थात् इन स्पन्दनों के अन्दर 'ओम्' रश्मियाँ ऊर्ध्वगमन करती हुई संचरित होती हैं। ये रश्मियाँ नियुत रूप में प्रकट होती हैं। 'नियुतः' पद का निर्वचन करते हुए महर्षि यास्क का कथन है—

नियुतो नियमनाद्वा नियोजनाद्वा (निरु.५.२८)

इससे संकेत मिलता है कि ये रश्मियाँ नियमित व नियन्त्रित लय के साथ गति करती हैं। ये रश्मियाँ व्यापक स्तर पर एक प्रकार की दीप्ति को उत्पन्न करती हैं। यद्यपि यह दीप्ति दृश्य नहीं होती, परन्तु इससे यह अवश्य सिद्ध होता है कि जहाँ भी ब्रह्माण्ड में दीप्ति विद्यमान है, वहाँ उदान रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है। ये रश्मियाँ विभिन्न प्राण रश्मियों के बल आदि गुणों को समृद्ध करती हैं। ये रश्मियाँ विभिन्न प्राणादि रश्मियों की यजनशीलता (संयोग-वियोग) प्रक्रिया को समृद्ध करती हैं।

ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में उदान रश्मियों के निम्नलिखित गुण दर्शाए हैं—

उत्कृष्टम् (ऋ.भा.६.५०.१), आभ्यन्तरगतिर्बलसाधकः (ऋ.भा.१.१५.६),
ऊर्ध्वबलगमनहेतुः (ऋ.भा.१.२३.४), उत्कृष्टं बलम् (यजु.भा.१३.१९)

इससे भी स्पष्ट होता है कि उदान रश्मियाँ उत्कृष्ट रूप से प्रकट होकर विभिन्न प्राणादि रश्मियों की आभ्यन्तर गति व बल को सिद्ध व समृद्ध करती हैं। ये विभिन्न प्राण रश्मियों के बलों को ऊर्ध्वगामी बनाने में विशेष सहयोग करती हैं। यहाँ ऊर्ध्वबल का आशय यह है कि

किसी कार्यरत बल के विरुद्ध बल उत्पन्न करना। उदान प्राण की प्रधानता वा सक्रियता में त्रिष्टुप् रश्मियाँ विशेष प्रभावी होती हैं। अन्य छन्द रश्मियों के भी इस प्रकार समायोजन होने की सम्भावना बढ़ जाती है कि वे त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ उत्पन्न कर सकें। इस कारण तीव्र गर्जना युक्त इन्द्रतत्त्व की उत्पत्ति होती है। इन उदान रश्मियों के कारण सभी पदार्थों की ऊर्जा बढ़ने लगती है। इनकी प्रधानता में ही विभिन्न कणों और विकिरणों की उत्पत्ति होती है। इसी काल में खगोलीय मेघों की सम्पीडन प्रक्रिया भी तेज होती है। इन रश्मियों की प्रधानता में ही सूक्ष्म कणों के उत्सर्जन और अवशोषण की प्रक्रिया तीव्र होने लगती है।

८. नाग — यह प्राण नामक प्राण तत्त्व का उपप्राण है, जो प्राण नामक रश्मियों के क्षुब्ध व अव्यवस्थित होने पर उन्हें नियन्त्रित व व्यवस्थित रूप प्रदान करने में सहायक होता है। 'नागः' पद का अर्थ है—

न गच्छतीति नगः नगे भव इति नागः (वाचस्पत्यम् कोशः)

अर्थात् जो स्थिर पदार्थ में निवास करता है किंवा उससे ही उत्पन्न होता है, वह नाग कहलाता है। हम जानते हैं कि इस सृष्टि में ईश्वर व प्रकृति के अतिरिक्त कोई भी पदार्थ पूर्ण निश्चल नहीं है, किन्तु इन दोनों ही पदार्थों में नाग प्राण रश्मियों का निवास किंवा उनसे उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। ऐसी स्थिति में यही सिद्ध होता है कि नाग प्राण रश्मियों की उत्पत्ति 'ओम्' छन्द रश्मियों द्वारा मनस्तत्त्व, जो सभी प्रकार की प्राण रश्मियों के सापेक्ष स्थिर होता है, से होती है तथा ये नाग प्राण रश्मियाँ स्वयं भी अत्यन्त मन्दगामिनी होती हैं, इसी कारण इन्हें 'नाग' कहते हैं। क्योंकि सभी प्रकार की प्राण रश्मियों के सापेक्ष मनस्तत्त्व स्थिर ही होता है और सभी प्राण रश्मियाँ मनस्तत्त्व में ही प्रतिष्ठित रहती हैं, इस कारण केवल 'नगे भवः' से 'नागः' शब्द की व्युत्पत्ति मानना उचित नहीं है, अपितु 'न गच्छतीति नागः' मानना भी अनिवार्य है, जहाँ स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय हुआ है। यहाँ 'न' का अर्थ अत्यन्ताभाव न ग्रहण करके अति मन्दगति मानना समीचीन है।

उधर ऋषि दयानन्द ने उ.को.५.६१ के भाष्य में लिखा है— 'दहति दह्यते वा स नगः [ग प्रत्ययो हकारस्य लोपो दकारस्य च नकारादेशः।] बाहुलकान्नकारस्य नाकारः —नागः' अर्थात् जो दहन करता है किंवा जो दहन किया जाता है, वह नाग कहलाता है। इससे संकेत मिलता है कि नाग प्राण रश्मियों की प्रधानता में ही ऊष्मा की उत्पत्ति व वृद्धि होती है। इनके

स्पन्दन अति सूक्ष्म व मन्द होते हैं, जो अन्य प्राण रश्मियों के सापेक्ष स्थिर जैसे माने जा सकते हैं, पुनरपि ये प्राण नामक रश्मियों को निर्बाध गति व मार्ग प्रदान करने की क्षमता रखते हैं, यह इनकी अद्भुत विशेषता है। ये रश्मियाँ सदैव प्राण नामक प्राण रश्मियों के निकट ही विद्यमान रहती हैं।

प्रश्न— आपका कथन है कि नाग रश्मियाँ अन्य प्राण रश्मियों के सापेक्ष अत्यन्त मन्दगामिनी होती हैं, तब ये प्राण नामक प्राण रश्मियों के समीप कैसे बनी रहती हैं? क्या इससे इन्हें प्राण नामक प्राण रश्मियों के समान गति वाली नहीं माना जाये?

उत्तर— यह शंका स्वाभाविक है, परन्तु इस विषय में हमारा मत यह है कि नाग रश्मियाँ प्राण रश्मियों के साथ समानान्तर गमन नहीं करतीं, किन्तु उनके साथ सदैव विद्यमान 'ओम्' रश्मियों के द्वारा मनस्तत्त्व में सदैव स्पन्दन के रूप में उत्पन्न होती रहती हैं, इससे उनका प्राण नामक प्राण रश्मियों के साथ सामीप्य बना रहता है। किसी कारणवश ज्यों ही प्राण रश्मियों की गति वा मार्ग में कोई बाधा आती है वा अनिष्ट विक्षोभ उत्पन्न होता है, ये उसे व्यवस्थित करने में अपनी भूमिका निभाती हैं। इस कार्य में 'ओम्' रश्मियाँ व ईश्वर तत्त्व सहायक होते हैं।

इन रश्मियों की प्रधानता के प्रारम्भिक काल में गायत्री छन्द रश्मियाँ विशेष रूप से उत्पन्न होती हैं। उत्पन्न मन्द ऊर्जा वाली विद्युत् चुम्बकीय तरंगों (रेडियो तरंगों) की उत्पत्ति भी होने लगती है। धीरे-२ प्रकाश तरंगों की भी उत्पत्ति होनी प्रारम्भ हो जाती है। गायत्री के पश्चात् अन्य छन्द रश्मियाँ भी धीरे-२ उत्पन्न होने लगती हैं और खगोलीय मेघों के बनने की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हो जाती है।

९. कूर्म — इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

रसो वै कूर्मः (श.ब्रा.७.५.१.१),
स यत्कूर्मो नामः एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा ऽअसृजत
यदसृजताकरोत्तद्यदकरोत्तस्मात्कूर्मः कश्यपो कूर्मः (श.ब्रा.७.५.१.५),
शिरः कूर्मः (श.ब्रा.७.५.१.३५),
मेधो वा एष पशूनां यत् कूर्मः (तै.सं.५.२.८.५; काठ.सं.२०.७; क.सं.३१.९),
सुवर्गाय वा एष लोकायोपधीयते यत् कूर्मः (तै.सं.५.७.८.२)

इन वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

ये प्राण रश्मियाँ रस रूप होकर अपान रश्मियों को बल व प्रेरण प्रदान करती हैं। हमारे मत में ये रश्मियाँ अपान प्राण की उपप्राण हैं। एक प्रख्यात आर्य संन्यासी स्वामी सर्वदानन्द सरस्वती ने अपनी पुस्तक 'सन्मार्ग दर्शन' में 'शरीरगतिः' नामक अध्याय में कूर्म प्राण के विषय में लिखा है—

'स्त्री-पुरुष के संयोग से सन्तान की उत्पत्ति होती है। ...संयोगज धर्म में कूर्म के समान जो प्रत्येक वृत्ति और गति का निरोध होता है, इतना विशेष कार्य कूर्म प्राण का है।' (पृ.११४)

यह सर्वविदित है कि इस क्रिया में मुख्य भूमिका अपान प्राण की होती है, क्योंकि नाभि से नीचे अपान प्राण का ही स्थान है, इस कारण कूर्म प्राण का भी स्थान यहीं मानना उचित है। इससे कूर्म प्राण अपान प्राण का उपप्राण सिद्ध होता है। यह अपान प्राण की बिखरी हुई क्रियाओं को निरुद्ध वा प्रयोजनानुसार केन्द्रीभूत करने में अपनी भूमिका निभाता है।

प्रजापति अर्थात् मनस्तत्त्व प्राण-अपान के विविध कर्मों के द्वारा नाना प्रजारूप रश्मि आदि पदार्थों को उत्पन्न करता है। हम जानते हैं कि अपान प्राण रश्मियाँ प्रतिकर्षण बल प्रधान होती हैं, पुनरपि व्यान रश्मियों के माध्यम से प्राण रश्मियों के साथ बँधी रहती हैं। यह कूर्म उपप्राण संयोग प्रक्रिया में कच्छप की भाँति अर्थात् कछुए की भाँति अपान रश्मियों को केन्द्रीभूत करने में सक्षम होता है।

यह प्राण व अपान के मध्य सम्बन्ध को बनाए रखने में शिर के समान श्रेष्ठ स्थान रखता है अर्थात् जिस प्रकार सिर सम्पूर्ण शरीर को नियन्त्रित करता है, उसी प्रकार कूर्म रश्मियाँ इस सम्बन्ध को बनाए रखने में अपनी भूमिका निभाती हैं।

ये रश्मियाँ मेघरूप होकर पशुरूप विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों के संगठन में उपयोगी होती हैं। इससे इनकी सूत्रात्मा वायु रश्मियों से कुछ साम्यता सिद्ध होती है। इनकी इस प्रक्रिया को अगले बिन्दु में समझाया गया है।

कूर्म प्राण रश्मियाँ कैसे अपान प्राण रश्मियों को नियन्त्रित वा व्यवस्थित करती हैं, इसका संकेत यहाँ किया गया है। वह इस प्रकार है कि सुवर्ग लोकों को ये रश्मियाँ निकटता से धारण करती हैं। यह विदित ही है कि व्यान रश्मियों को ही स्वर्गलोक कहते हैं। इसका

संकेत स्वयं महर्षि तित्तिर ने किया है—

सुवरिति व्यानः (तै.आ.७.५.३; तै.उ.१.५.३)

उधर महर्षि जैमिनि ने कहा है—

स्वर्गोलोक स्वर् (जै.ब्रा.३.६९)।

इस प्रकार कूर्म रश्मियाँ व्यान रश्मियों को प्राण व अपान को संयुक्त रखने में सहयोग प्रदान करती हैं। इस प्रक्रिया को और स्पष्ट करते हुए पुनः कहा—

एनं कूर्मः सुवर्गं लोकमञ्जसा नयति (तै.सं.५.२.८.५)

अर्थात् कूर्म रश्मियाँ व्यान रूप रश्मियों को उचित रीति से शीघ्रतापूर्वक अपने साथ युक्त करके व्यवस्थित कर लेती हैं। इससे अपान रश्मियों का व्यान रश्मियों के साथ बन्धन होकर प्राण रश्मियों के साथ उचित सामंजस्य बना रहता है। जब मनस्तत्त्व में 'ओम्' रश्मियों का स्पन्दन इस प्रकार होता है कि वे अपान व व्यान रश्मियों के साथ सम्बद्ध होकर उपर्युक्त प्रभाव दर्शा सकें, तब वे स्पन्दन ही कूर्म प्राण का रूप होते हैं। कूर्म रश्मियों की प्रधानता में वे ही क्रियाएँ पुनः उत्कर्ष को प्राप्त होती हैं, जो उदान रश्मियों के समय उत्पन्न हुई थीं। इनके कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विभिन्न कणों व विकिरणों की ऊर्जा में वृद्धि होती है। इनकी प्रधानता में त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ विशेष रूप से उत्पन्न होकर पदार्थ की ऊर्जा में भारी वृद्धि करती हैं। खगोलीय मेघों के छिन्न-भिन्न होते समय भी इनकी प्रधानता रहती है।

१०. कृकल — यह प्राण तत्त्व उदान प्राण का उपप्राण है। 'कृकलः' शब्द का अर्थ है— 'कृकं लातीति' अर्थात् यह कृक को प्राप्त कराने वाला होता है। ऋग्वेद १.२९.७ में 'कृकदाश्वम्' पद के भाष्य में ऋषि दयानन्द एवं सायणाचार्य दोनों ने ही 'कृकम्' का अर्थ 'हिंसनम्' किया है। इस प्रकार हिंसा वा तीक्ष्णता को प्रदान वा प्राप्त करने वाला प्राण तत्त्व ही कृकल कहलाता है। इससे स्पष्ट होता है कि जब मनस्तत्त्व में 'ओम्' रश्मियाँ इस प्रकार स्पन्दित होती हैं कि वे उदान प्राण रश्मि रूप स्पन्दनों को आवश्यक होने पर तीक्ष्ण वा हिंसक रूप प्रदान कर सकें, वे स्पन्दन कृकल प्राण रश्मियों का रूप होते हैं। हम अवगत हैं कि उदान प्राण रश्मियाँ उत्क्षेपण बलयुक्त होती हैं।

जब कभी उदान रश्मियों के उत्क्षेपण बल में कुछ रुकावट आती है, तब मनस्तत्त्व में

'ओम्' रश्मियों के द्वारा कृकल प्राण रश्मि रूप स्पन्दन अकस्मात् उत्पन्न होकर उदान रश्मियों को धक्के के साथ बल प्रदान करके उसके उत्क्षेपण बल को सक्रिय वा निर्बाध कर देते हैं। इससे उदान रश्मियाँ अपने कार्य को समुचितरीत्या सम्पादित करने लगती हैं। इनके उत्कर्ष काल में आकाश तत्त्व भी विशेष सक्रिय होने लगता है और ब्रह्माण्ड में विद्यमान पदार्थ तीव्रता से कम्पन करने लगता है। इस समय पदार्थ की ऊष्मा में भी विशेष वृद्धि होती है और खगोलीय मेघ अनेक रंगों के प्रकाश से युक्त होने लगता है। इस समय उन मेघों में होने वाली क्रियाएँ भी तीव्र से तीव्रतर होने लगती हैं। इस समय अनेक प्रकार की छन्द रश्मियों की उत्पत्ति भी अधिक मात्रा में होती है।

११. देवदत्त — यह समान प्राण का उपप्राण है। यह विदित ही है कि समान प्राण रश्मियाँ प्राण तथा अपान रश्मियों में सन्तुलन बनाए रखने में सहायक होती हैं। इसके कारण समान के साथ-२ प्राण व अपान रश्मियों के पूर्वोक्त कार्य समुचित रीति से सम्पादित होने में सहयोग मिलता है। कहीं किसी का कार्य किसी कारणवश अवरुद्ध हो रहा हो, तो देवदत्त प्राण रश्मियाँ समान रश्मियों के निकट प्रकट होकर उन्हें समुचित सक्रियता प्रदान करती हैं, जिससे प्राण व अपान रश्मियों में आयी रुकावट धक्के के साथ दूर हो जाती है। सारांशत: ये रश्मियाँ समान प्राण के साथ समलय से स्पन्दित होती हुई प्राण व अपान की लय बनाए रखती हैं।

इन प्राण रश्मियों का देवदत्त नाम यह संकेत करता है कि ये रश्मियाँ अन्य प्राण रश्मियों से कुछ वैशिष्ट्य रखती हैं। यदि यहाँ 'देव' का अर्थ मन एवं वाक् तत्त्व ('ओम्' रश्मि) ग्रहण किया जाये और उनके द्वारा प्रदत्त वा निर्मित स्पन्दनों को देवदत्त कहा जाये, तब प्रश्न यह उठ सकता है कि मनस्तत्त्व के अन्दर 'ओम्' रश्मियों के द्वारा उत्पन्न स्पन्दनों के रूप में तो सभी प्राण व छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती ही हैं, तब क्यों न सभी को देवदत्त कहा जाये? किन्तु सबको 'देवदत्त' नहीं कहा जाता। इस कारण हमारे मत में विभिन्न देव अर्थात् प्राथमिक प्राण रश्मियाँ 'ओम्' रश्मियों के द्वारा स्पन्दित होकर अति सूक्ष्म स्पन्दनों को उत्पन्न करती रहती हैं। ये स्पन्दन समान प्राण रूप स्पन्दनों के निकट व्याप्त होकर उपर्युक्त कार्यों में उनका सहयोग करते हैं। इस प्रकार देवदत्त रश्मियों के निर्माण में सभी प्राण रश्मियों का सहयोग होता है, इसी कारण ये देवदत्त कहलाती हैं।

यद्यपि इन रश्मियों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध समान रश्मियों से है, किन्तु समान के माध्यम से

इनका सम्बन्ध प्राण, अपान, व्यान एवं इनके उपप्राणों से लेकर अन्य छः प्राण रश्मियों से भी हो जाता है अर्थात् ये देवदत्त रश्मियाँ इन सभी को प्रभावित करती हैं। इस कारण 'देवदत्तः' शब्द 'देवेभ्यो दत्तः' तथा 'देवैर्दत्तः' अर्थात् देवों = प्राणों के लिए तथा देवों (प्राणों) के द्वारा प्रदान किया हुआ, इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। इसी कारण विभिन्न प्राण रश्मियों की प्रधानता के प्रभाव को दर्शाने वाले प्रकरणों में देवदत्त की प्रधानता वाला प्रकरण सबसे अधिक लम्बा है। खगोलीय मेघ के विखण्डन से ग्रहों के पृथक्करण के समय देवदत्त रश्मियों की प्रधानता होती है। इन रश्मियों के प्रभाव से विभिन्न छन्द रश्मियाँ शृंखलाबद्ध होकर एक-दूसरे से जुड़ने लगती हैं।

इन रश्मियों की प्रधानता में तीव्र एवं व्यापक बल उत्पन्न करने वाली अष्टि छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं, जिसके कारण प्रकाश और ऊष्मा की मात्रा तीव्र से तीव्रतर होने लगती है। लोकों के संघनन और सम्पीडन की क्रियाएँ तीव्रतर होती हैं और असुर ऊर्जा का प्रभाव क्षीण होने लगता है। तारों के केन्द्र में इनके प्रभाव से सभी क्रियाएँ तीव्रतम होने लगती हैं और केन्द्रीय भागों की सीमा का निर्धारण भी होने लगता है। तारों के अन्दर विभिन्न प्रकार के विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्रों और सौर नदियों के निर्माण में भी इनकी भूमिका होती है। सौर कूपों के निर्माण में भी इनकी भूमिका होती है। इन रश्मियों के प्रधानत्व में विविध प्रकार के बल समृद्ध होते हैं। तारों के अन्दर होने वाली विभिन्न क्रियाओं में इनकी विशेष भूमिका होती है।

ज्ञातव्य— विभिन्न उपप्राण रश्मियों वा स्पन्दनों की गति की दिशा अपनी-२ प्राण रश्मियों की गति की दिशा से विपरीत होती है, साथ ही इनके स्पन्दन सम्बन्धित प्राण रश्मियों के स्पन्दनों से सूक्ष्म होते हैं, जो उनके पास निरन्तर प्रकट होते रहते हैं।

(स) अहोरात्र, मास व ऋतु रश्मियाँ

इस वर्ग की रश्मियाँ कालमापक के रूप में भी मानी जाती हैं।

(क) अहोरात्र — अहोरात्र वस्तुतः प्राण-अपान किंवा प्राण-उदान का वाचक है। इस विषय में ऋषियों का कथन है—

अहोरात्र वै मित्रावरुणौ (तै.सं.२.४.१०.१; मै.सं.१.५.१४; काठ.सं.११.१०;

तां.ब्रा.२५.१०.१०)

अब मित्रावरुण के विषय में कहा है—

तौ मित्रावरुणौ प्राणापानौ (जै.ब्रा.१.१०९),
प्राणापानौ मित्रावरुणौ (तां.ब्रा.६.१०.१; तै.ब्रा.३.३.६.९),
प्राणापानौ वै मित्रावरुणौ (काठ.सं.२९.१; ३०.३),
प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ (श.ब्रा.३.६.१.१६)

इन वचनों से सिद्ध है कि 'अहन्' से प्राण तथा 'रात्रि वा रात्र' से अपान व उदान रश्मियों का ग्रहण होता है। इन प्राणापानोदान रश्मियों के विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं।

कालमापी रश्मियाँ

प्रश्न— इस सृष्टि में अनेक प्रकार की प्राण व छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। उन्हें कहीं कालमापक के रूप में नहीं माना जाता। तब क्यों प्राण, अपान, उदान, मास एवं ऋतु रश्मियों को कालमापक के रूप में लोक में प्रयुक्त किया जाता है? इन रश्मियों का काल तत्त्व से क्या सम्बन्ध है?

उत्तर— इस विषय में हम कुछ चर्चा काल तत्त्व की चर्चा के समय कर चुके हैं। हम लिख चुके हैं कि काल तत्त्व एक ऐसा पदार्थ है, जिसमें तमोगुण का सर्वथा अभाव होता है। काल तत्त्व के पश्चात् कालमापक प्राण, अपान, उदान, मास एवं ऋतु रश्मियाँ ही ऐसी रश्मियाँ हैं, जिनमें तमोगुण की मात्रा का सर्वथा अभाव तो नहीं होता, परन्तु इसकी मात्रा इतनी न्यून होती है कि ये रश्मियाँ अन्य सभी रश्मियों की अपेक्षा सतत व निर्बाध गमन करने वाली होती हैं। ये काल तत्त्व के समान तो सतत व निरपेक्ष गमनकर्त्री नहीं होतीं, परन्तु अन्य रश्मियों की अपेक्षा इनका यही स्वभाव होता है। अब हम यह विचारते हैं कि ये कालमापक कैसे मानी गई हैं? इस विषय में हमारा मत इस प्रकार है—

१. अहन् (प्राण) — जितने समय में एक प्राण नामक प्राण रश्मि का स्पन्दन होता है, वह समय एक अहन् वा प्राण कहलाता है। यह रश्मि अक्षरों से निर्मित होती है। इनमें से प्रत्येक अक्षर एक-२ करके स्पन्दित होता है। सभी छः स्पन्दनों का एक संयुक्त स्पन्दन प्राण रश्मि

(अहन्) कहा जाता है। जिस प्रकार वर्तमान भौतिकविद् सीजियम-१३३ एटम के ट्रांजिशन की ९,१९,२६,३१,७७० आवृत्तियों के समय को एक सेकण्ड कहते हैं।
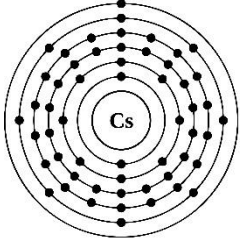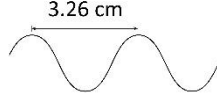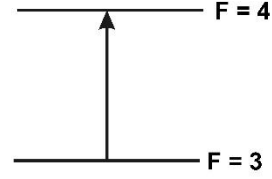
6s इलेक्ट्रॉन स्तर का हाइपरफाईन विभाजन

Cs परमाणु

इससे कोई यह नहीं कह सकता कि सेकण्ड ही काल है अथवा काल का एक खण्ड है। वस्तुतः यह काल को मापने की एक विधि है। आकाश को मापने के साधन मीटर, किलोमीटर आदि होते हैं। इसी प्रकार प्राण, अपान आदि जहाँ पदार्थ (रश्मि) विशेष हैं, वहीं ये पद काल के मापक भी हैं। वर्तमान भौतिकविद् प्लेटीनियम-इरीडियम की छड़ विशेष की लम्बाई को एक मीटर मानते हैं। वस्तुतः न तो वह छड़ स्पेस है और न ही उसकी लम्बाई स्पेस है, इसी प्रकार काल के विषय में प्राण वा मासादि रश्मियों का मापन कर्म समझें।

२. रात्रि = रात्र (अपान) — जितने समय में एक अपान रश्मि एक बार स्पन्दित होती है, वह समय अपान (रात्रि) कहा जाता है। यह रश्मि चार-चार अक्षरों की चार आवृत्तियों अर्थात् कुल सोलह अक्षरों से मिलकर बनती है।

लोक प्रचलित अहोरात्र = दिन-रात्रि, मास = महीने, ऋतु आदि की इन रश्मियों से तुलना करना इस ग्रन्थ का विषय नहीं है, पुनरपि इतना अवश्य प्रतीत होता है कि प्रचलित दिन, रात, माह व ऋतुओं से इन रश्मियों का अनिवार्य सम्बन्ध अवश्य है। दिन के समय प्राण और रात्रि के समय अपान की प्रधानता होती है। इसी प्रकार मास व ऋतुओं में उन-उन रश्मियों की प्रधानता समझनी चाहिए।

(ख) मास रश्मियाँ — प्रत्येक मास रश्मि प्राण व अपान के संयुक्त रूप के तीस बार स्पन्दित होने से निर्मित होती है। 'मास' के विषय में ऋषियों का कथन है—

१. त्रिंशन्मासो रात्रयः (काठ.सं.३४.९)

२. त्रिंशिनो मासा: (तै.सं.७.५.२०.१)
३. मासा (संवत्सरस्य) कर्म्मकारा: (तै.ब्रा.३.११.१०.३)
४. मासा रश्मय: (जै.ब्रा.१.१३७)
५. मासा वै वाजा: (तै.सं.२.५.७.४)
६. मासा वै यावा: (तै.सं.५.३.४.५)
७. मासा: सन्धानानि (तै.सं.७.५.२५.१)
८. मासा हवींषि (श.ब्रा.११.२.७.३ —ब्रा.उ.को. से उद्धृत)

इन वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलता है—

१. एक मास रश्मि में तीस रात्रि अर्थात् अपान रश्मियाँ होती हैं।
२. एक मास में तीस प्राण-अपान युग्म होते हैं।
३. ये मास रश्मियाँ सृष्टि रूपी संवत्सर की कार्यकर्त्री होती हैं अर्थात् इनके बिना सृष्टि वा सूर्यादि लोकों का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता।
४. मास विशेष प्रकार की रश्मियों का नाम है।
५. मास रश्मियाँ वाजरूप अर्थात् अन्न व बल रूप होती हैं।
६. मास रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों के मिश्रण-अमिश्रण कर्मों को सम्पन्न करने वाली होती हैं।
७. ये रश्मियाँ विभिन्न रश्मियों के मध्य सन्धानक का कार्य करती हैं।
८. ये रश्मियाँ हवि रूप होती हैं अर्थात् सृष्टि यज्ञ में निरन्तर अपनी आहुति देकर नाना पदार्थों के निर्माण में उपादान कारण रूप होती हैं। इनके विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात कही गई है—

उदाना मासा: (तां.ब्रा.५.१०.३)

इससे यह संकेत मिलता है कि इन रश्मियों में उदान रश्मियों की भाँति उत्क्षेपण बल विद्यमान होता है। इससे प्रतीत होता है कि ये रश्मियाँ विभिन्न रश्मियों, जो योषा व वृषा रूप में व्यवहार करती हैं, के निश्चित बिन्दु रूप भागों को उत्तेजित वा उत्क्षिप्त करके परस्पर संयोग कराने में सहायक होती हैं।

अक्षर संयोजन वा प्राण-अपान युग्मों के संयोजन भेद से ये रश्मियाँ बारह रूपों में उत्पन्न

होती हैं। ये बारह रूप वा प्रकार निम्नानुसार सर्वविदित हैं—

१. मधु	७. ईष
२. माधव	८. ऊर्ज
३. शुक्र	९. सहस्
४. शुचि	१०. सहस्य
५. नभस्	११. तपस्
६. नभस्य	१२. तपस्य

अब हम प्रत्येक मास रश्मि के विषय में संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास करते हैं—

१. मधु मास — यह प्रथम मास रश्मि है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

१. प्राणो वै मधु (श.ब्रा.१४.१.३.३०)
२. मिथुनं वै मधु (ऐ.आ.१.३.४)
३. विज्ञातं मार्गम् (तु.म.द.ऋ.भा.४.४५.३)
४. परमं वा एतदन्नाद्यं यन् मधु (तां.ब्रा.१३.११.१७)
५. मधु धमतेर्विपरीतस्य (निरु.१०.३१), धमति गतिकर्मा (निघं.२.१४), वधकर्मा (निघं.२.१९)
६. सर्वे वै कामा मधु (ऐ.आ.१.१.३)

इन वचनों से मधु नामक रश्मियों के निम्नलिखित गुण प्रकट होते हैं—

१. मधु मास प्राण रश्मियों का ही रूप है। इसका तात्पर्य है कि इसमें प्राण नामक प्राण रश्मियों की प्रधानता होती है।
२. ये रश्मियाँ संयोग प्रक्रिया को समृद्ध वा उत्पन्न करती हैं।
३. ये मास रश्मियाँ विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों को पारस्परिक संगति हेतु प्रकाशित वा सरलतम मार्गों पर लाने में सहायक होती हैं।
४. ये रश्मियाँ अन्य सभी मास रश्मियों की अपेक्षा अधिक संयोगधर्मिणी, प्रकाशवती तथा 'ओम्' रश्मियों से विशेष समृद्ध होती हैं।
५. ये रश्मियाँ संयोजनीय अन्य आवश्यक रश्मियों के सहयोग से रश्मि वा कणों के मार्ग

वा संयोग कार्य में आने वाली बाधक रश्मियों का वध करके उन्हें अनुकूल गति प्रदान करती हैं।

६. सभी प्रकार के आकर्षण बलों में इन रश्मियों की भी भूमिका होती है।

इन उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न रश्मियाँ 'मधु' कहलाती हैं। प्रश्न यह है कि ये रश्मियाँ मनस्तत्त्व के अन्दर 'ओम्' रश्मियों द्वारा किस प्रकार के स्पन्दनों का रूप होती हैं? हमने पूर्व में प्राण, अपान व व्यान में अक्षर संख्या को दर्शाया था। इन मास रश्मियों का स्वरूप एवं अक्षर संख्या क्या है? अब हम इस विषय पर विचार करते हैं।

हमने 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ के खण्ड २.३४ में बारह निविद् रश्मियों का वर्णन किया है। हमने उन निविद् रश्मियों को ही मास रश्मियाँ माना है। इस कारण प्रथम निविद् रश्मि 'अग्निर्देवेद्धः' ही प्रथम मास रश्मि अर्थात् मधु मास रश्मि सिद्ध होती है।

प्रश्न— आपने एक मास रश्मि में तीस प्राण व तीस अपान रश्मियों का होना लिखा है तथा प्राण में कुल छः अक्षर तथा अपान में कुल सोलह अक्षरों का होना लिखा है। यदि वहाँ एक-२ अक्षर की आवृत्ति मानें, तब भी प्राण में एक व अपान में चार अक्षर होते हैं। ऐसी स्थिति में इनके तीस युग्मों से 'अग्निर्देवेद्धः' यह पञ्चाक्षरा मधु मास रश्मि कैसे उत्पन्न होती है?

उत्तर— यह प्रश्न स्वाभाविक है, परन्तु हमें यह नहीं विचारना चाहिए कि किसी छन्द रश्मि में अक्षरों की संख्या उसकी अवयवरूप लघु छन्द रश्मियों के अक्षरों की कुल संख्या के बराबर ही होती है। हमारी दृष्टि में छन्द रश्मियों में अक्षर सदैव संरक्षित नहीं रहते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि अक्षर भी नश्वर व जन्म लेने वाले होते हैं। ऐसा कदापि नहीं है। प्रकृति में कुल अक्षर संरक्षित ही रहते हैं, परन्तु कुछ अक्षरों का प्रकट अर्थात् व्यक्त हो जाना और कुछ अक्षरों के अव्यक्त रूप में चले जाने जैसी क्रियाएँ होती रहती हैं। इस प्रकार प्रकट अक्षर सदैव संरक्षित नहीं रहते हैं, यहाँ यही अर्थ समझना चाहिए।

जब 'ओम्' रश्मियाँ मनस्तत्त्व को स्पन्दित करके कुछ रश्मियों को उत्पन्न करती हैं, तब वे उत्पन्न छन्द रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों से संयोग करके सर्वथा नवीन छन्द रश्मियों के रूप में प्रकट हो सकती हैं, जिनमें अक्षर संख्या न्यून वा अधिक भी हो सकती है। इस कारण प्राण-अपान के तीस युग्मों से उपर्युक्त मधु मास रश्मि की उत्पत्ति होना सर्वथा सम्भव है। इसमें भी विशेष वक्तव्य यह है कि तीस प्राण-अपान युग्मों से बारह मास रश्मियों के

निर्माण होने में इन युग्मों का बारह प्रकार से विशेष संयोग ही कारण होता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो एक ही प्रकार की मास रश्मियाँ उत्पन्न हो पातीं।

प्रश्न— यदि 'अग्निर्देवेद्धः' ही मधु मास रश्मि है, तब इसके पूर्वोक्त गुणों की संगति इस छन्द रश्मि के साथ कैसे हो सकेगी?

उत्तर— इस छन्द रश्मि (मधु मास) में निम्न पद विद्यमान हैं— 'अग्निः + देव + इद्धः'। इनका प्रभाव हम क्रमशः दर्शाते हैं—

अग्निः — इस पद के प्रभाव हेतु हम मात्र कुछ शास्त्रीय वचनों को उद्धृत करते हैं—

१. अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः (निरु.७.१४)
२. अग्निर्वै रक्षसामपहन्ता (कौ.ब्रा.८.४; १०.३)
३. अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः (श.ब्रा.१.१.१.२)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि 'अग्निः' पद के प्रभाव से मधु मास रश्मि निम्न गुणों से युक्त होती है—

१. ये अन्य मास रश्मियों में अग्रगामिनी तथा उनको अपने साथ वहन करने वाली होती हैं। संयोग प्रक्रिया के समय सर्वप्रथम इन्हीं का प्रादुर्भाव होता है। इनके अभाव में अन्य मास रश्मियाँ संयोग प्रक्रिया को सम्पन्न नहीं करा सकतीं।
२. किसी संयोग प्रक्रिया के प्रारम्भ में किन्हीं बाधक रश्मियों (डार्क एनर्जी) का प्रहार होने पर उन्हें नष्ट कर देने की क्षमता इनमें विद्यमान होती है।
३. ये रश्मियाँ विभिन्न कणों वा रश्मियों के व्रतों अर्थात् बन्धन बलों की रक्षिका होती हैं।

देव — इस पद के प्रभाव के विषय में जानने हेतु हम कुछ आर्ष वचनों को उद्धृत करते हैं—

१. देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा (निरु.७.१५)
२. देवा यज्ञियाः (श.ब्रा.१.५.२.३)
३. अपहतपाप्मानो देवाः (श.ब्रा.२.१.३.४)

इन वचनों से निम्न प्रभाव उत्पन्न होता है—

१. ये मधु मास रश्मियाँ संयोग-वियोग प्रक्रिया हेतु प्रकाशित वा शुद्ध मार्गों को प्रकट करती हैं।
२. ये यजनशील अर्थात् संयोगशील होती हैं।
३. इन पर बाधक रश्मियाँ (डार्क एनर्जी) प्रभाव नहीं डाल सकतीं।

इद्धः — इसके प्रभाव से 'अग्निः' एवं 'देवः' पद अधिक सक्रिय होकर मधु मास रश्मियों को अन्य रश्मियों की अपेक्षा अधिक सक्रिय करने में सहायक होता है।

यदि पाठक 'अग्निर्देवेद्धः' के प्रभाव पर विचार करें, तो स्पष्ट हो जायेगा कि मधु मास रश्मियों के जो गुण हमने पूर्व में दर्शाए हैं, वे 'अग्निर्देवेद्धः' निविद् रश्मियों के गुणों से साम्यता रखते हैं। इस कारण इस निविद् रश्मि को मधु मास रश्मि मानना हमारी दृष्टि में सर्वथा उचित है।

२. माधव मास — यह पद 'मधु' पद से तद्धित करने से सिद्ध होता है। ये रश्मियाँ मधु मास रश्मियों से मिलती-जुलती होती हैं। निविद् रश्मि 'अग्निर्मन्विद्धः' ही माधव मास रश्मि कहाती है। इस छन्द रश्मि में भी 'अग्निः' एवं 'इद्धः' पदों का अर्थ व प्रभाव पूर्ववत् समझें। यहाँ 'देवः' के स्थान पर 'मनुः' शब्द है, जो 'मन्यते अर्चतिकर्मा' (निघं.३.१४) तथा 'मन्यते कान्तिकर्मा' (निघं.२.६) से निष्पन्न होता है। तब निश्चित ही 'मनुः' पद का प्रभाव 'देवः' पद के प्रभाव से मेल खाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि 'देवः' पद का प्रभाव कुछ अधिक व्यापक है। इस प्रकार माधव मास रश्मियाँ मधु मास रश्मियों के साथ व्यापक स्तर पर समानता रखने से ही माधव कहलाती हैं।

३. शुक्रः — यह तृतीय प्रकार की मास रश्मि है। शुक्र के विषय में ऋषियों का कथन है—

१. अत्ता वै शुक्रः (ग्रहः) (श.ब्रा.५.४.४.२०)
२. अस्य (अग्निः) एवैतानि (घर्मः, अर्कः, शुक्रः, ज्योतिः, सूर्यः) नामानि (श.ब्रा.९.४.२.२५)
३. यजमानदेवत्यो वै शुक्रः (काठ.सं.२७.८)
४. शुक्र हिरण्यम् (तै.ब्रा.१.७.६.३)
५. यज्ञो वै शुक्रः (जै.ब्रा.१.९३)

इन प्रमाणों से इन मास रश्मियों की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं—

१. ये रश्मियाँ विभिन्न पदार्थों से उत्सर्जित सूक्ष्म रश्मियों का भक्षण करके उन्हें (पदार्थों को) अपनी ओर आकृष्ट करती हैं।
२. इन रश्मियों का 'अग्निः' शब्द से साक्षात् सम्बन्ध है।
३. ये रश्मियाँ संगमनीय कणों में विद्यमान होती हैं।
४. ये दूसरी रश्मियों का हरण करने वाली होती हैं।
५. ये रश्मियाँ यजनशील होती हैं।

इन पाँच गुणों के अतिरिक्त ये अन्य रश्मियों की अपेक्षा शीघ्रकारी होती हैं। उधर बारह निविद् रश्मियों में 'अग्निः सुषमित्' तृतीय रश्मि होने से यही शुक्र मास रश्मि है। इसके प्रभाव से पूर्व मास रश्मियों में दर्शाए गए 'अग्नि' शब्द के प्रभाव का प्रखर रूप प्रकट होता है, जो इस शुक्र मास रश्मि के उपर्युक्त प्रभावों से मेल खाता है, इस कारण 'अग्निः सुषमित्' ही शुक्र मास रश्मि है।

४. शुचिः — यह चतुर्थ प्रकार की मास रश्मि है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

१. वीर्यं वै शुचिः (श.ब्रा.२.२.१.८)
२. या ते अग्ने शुचिस्तनूर्दिवमन्वाविवेश (काठ.सं.७.१४; क.सं.६.३)

इन वचनों से इस मास रश्मि के निम्न प्रभाव स्पष्ट होते हैं—

१. ये रश्मियाँ शुक्र मास रश्मियों को तीक्ष्ण बनाती हैं तथा नवीन पदार्थ की उत्पत्ति में सहायक होती हैं।
२. यह पूर्वोक्त शुक्र रश्मि का शरीर रूप होती है किंवा इसमें पूर्व मास रश्मि व्याप्त होती है तथा संयोग प्रक्रिया के समय इसमें विभिन्न प्राण रश्मियाँ प्रविष्ट होने लगती हैं। ये ऊष्मा को समृद्ध करती हैं।

उधर चतुर्थ निविद् रश्मि 'होता देववृतः' ही चतुर्थ मास रश्मि के रूप में मानी गयी है। इस छन्द (निविद्) रश्मि के प्रभाव से होतारूप विभिन्न मास रश्मियाँ विभिन्न देव अर्थात् संयोजनीय रश्मि आदि पदार्थों को आच्छादित करने लगती हैं। इससे अन्य रश्मियाँ तीक्ष्ण अर्थात् संयोजक बलों से अधिक युक्त हो जाती हैं। इन गुणों की शुचि मास रश्मियों के

उपर्युक्त गुणों से समानता है। इनमें विद्यमान 'देव' शब्द इन्हें मधु रश्मियों से संगत करने में सहायक होता है।

५. नभस् — यह पाँचवीं मास रश्मि है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

१. नभो लोकानां जयति (जै.ब्रा.१.२९)
२. न हि तत्प्राप्य कस्माच्चन बिभेति, तस्मात्तन्नभः (जै.ब्रा.१.३०)

इन वचनों से इस मास रश्मि के निम्न लक्षण प्रकट होते हैं—

१. ये रश्मियाँ विभिन्न व्याहृति रूप लोकों को नियन्त्रित करके किंवा उनके साथ संगत होकर अन्य रश्मियों को नियन्त्रित करके संयोगों को सुदृढ़ करती हैं।
२. इनके बन्धन में आने के पश्चात् संयोजनीय रश्मि वा कण कम्पित वा विचलित नहीं हो पाते।

'नभः' शब्द 'णह् बन्धने' धातु से निष्पन्न होने से इसका प्रभाव दृढ़ बन्धन उत्पन्न करने में सहायक होता है।

उधर पाँचवीं निविद् रश्मि 'होता मनुवृतः' है। यहाँ होता के विषय में ऋषियों का मत है—

नाभिर्वा एषा यज्ञस्य यद्धोता (काठ.सं.२६.१; क.सं.४०.४),
मध्यं वा एतद्यज्ञस्य यद्धोता (तै.ब्रा.३.३.८.१०)

इस कारण ये रश्मियाँ संयोग प्रक्रिया में बन्धन को सुदृढ़ करने हेतु विभिन्न मास रश्मियों के मध्य में व्याप्त हो जाती हैं। यहाँ होता को नाभि कहने से इस निविद् रश्मि का 'नभस्' मास रश्मियों से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। यहाँ 'मनु' शब्द इसे माधव रश्मियों के साथ संगत करने में सहयोग करता है।

६. नभस्य — यह छठी मास रश्मि है। ये रश्मियाँ भी 'नभस्' के समान प्रभावकारी होती हैं। उधर छठी निविद् रश्मि 'प्रणीर्यज्ञानाम्' मानी गई है। इसके प्रभाव से ये रश्मियाँ अन्य विभिन्न मास रश्मियों के द्वारा किये जा रहे संगमन-संयोजन कार्यों को प्रकृष्टता से वहन करने में सहायक होती हैं। इनमें विद्यमान 'यज्ञानाम्' पद पूर्व 'नभस्' एवं 'शुचि' मास रश्मियों में विद्यमान 'होता' पद के साथ सामंजस्य बनाए रखने में सहायक होता है।

७. ईष — यह सातवीं मास रश्मि है। यह पद 'ईष्' धातु से निष्पन्न होता है। यह धातु 'ईषति गतिकर्मा' (निघं.२.१४) तथा 'ईष गतिहिंसादर्शनेषु' से निष्पन्न होता है। इस कारण यह रश्मि अन्य मास रश्मियों में व्याप्त होती हुई बाधक रश्मियों (डार्क एनर्जी) को नष्ट व नियन्त्रित करके संयोगादि क्रियाओं को गति प्रदान करती है। उधर सातवीं निविद् रश्मि 'रथीरध्वराणाम्' है। इसके पद 'रथी:' तथा 'अध्वराणाम्' भी यही संकेत दे रहे हैं कि यह निविद् रश्मि अन्य मास रश्मियों को हिंसावर्जित रूप प्रदान करके उन्हें नियन्त्रित वा वहन करने में समर्थ होती है, जो 'ईष' रश्मि का ही परिचायक है।

८. ऊर्ज — यह आठवीं मास रश्मि है। 'ऊर्ज' शब्द के विषय में ऋषियों ने कहा है—

अन्नमूर्जम् (कौ.ब्रा.२८.५),
ऊर्जन्ति सर्वे पदार्था यस्मिन् (म.द.य.भा.१४.१६)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि यह रश्मि अन्नरूप होती है, जो अन्य मास रश्मियों के साथ संयुक्त होकर किंवा उनके द्वारा अवशोषित होकर उन सभी रश्मियों को बल व ऊर्जा प्रदान करने में सहायक होती है। उधर 'अतूर्तो होता' आठवीं निविद् रश्मि है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

अतूर्तो होतेत्याह न ह्येतं (अग्निम्) कश्चन तरति (तै.सं.२.५.९.२-३),
अयं वा अग्निरतूर्तो होतेमं ह न कश्चन तिर्यञ्चं तरति (ऐ.ब्रा.२.३४),
न ह्येतꣳ (अग्निम्) रक्षाꣳसि तरन्ति तस्मादाहातूर्तो होतेति (श.ब्रा.१.४.२.१२)

यहाँ अग्नि को अतूर्त कहा गया है और वही होता भी है। इस प्रभाव के कारण इस मास रश्मि की न केवल पूर्व की मास रश्मियों के साथ सुसंगति होती है, अपितु अग्रवर्णित मास रश्मियों के साथ संगति होकर उन सबको बल व ऊर्जा प्रदान की जाती है। इस रश्मि को किसी भी प्रकार की बाधक रश्मियाँ (डार्क एनर्जी आदि) पार नहीं कर सकतीं अर्थात् उनका इस मास रश्मि पर कोई प्रभाव नहीं होता, जिसके कारण ही यह सबके साथ संगत होकर उन्हें अधिक सक्रिय करती है। इस कारण यह निविद् रश्मि 'ऊर्ज' मास रश्मि के नाम से जानी जाती है।

९. सहस् — यह नवीं मास रश्मि है। 'सहस्' के विषय में ऋषियों का कथन है—

सहसः स्वजः (ऐ.ब्रा.३.२६), सहस् बलनाम (निघं.२.९),
बलं वै सहः (श.ब्रा.६.६.२.१४)

इन वचनों से सिद्ध होता है कि ये रश्मियाँ अच्छी प्रकार गतिशील बलों से युक्त होती हैं, जो डार्क एनर्जी आदि बाधक तत्त्वों का प्रतिरोध करने एवं उन्हें दूर फेंकने में समर्थ होती हैं। उधर नवीं निविद् रश्मि 'तूर्णिर्हव्यवाट्' है। 'तूर्णिः' के विषय में कहा गया है—

तूर्णि क्षिप्रनाम (निघं.२.१५), तूर्णिः कर्म (निरु.७.२७),
सर्वं ह्येष पाप्मानं तरति तस्मादाह तूर्णिर्हव्यवाडिति (श.ब्रा.१.४.२.१२)

इससे भी यही प्रभाव उत्पन्न होता है कि यह निविद् रश्मि सभी बाधक रश्मि आदि पदार्थों को दूर करके विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों को शीघ्रतापूर्वक परस्पर संगत करके क्रियाशील बनाती है। इससे इस निविद् रश्मि का 'सहस्' नामक मास रश्मि होना सिद्ध है। यहाँ 'हव्यवाट्' पद अग्नि व होता से भी सम्बन्धित है, इस कारण इस मास रश्मि के साथ पूर्व मास रश्मियाँ सम्यग् रूपेण संगत हो जाती हैं।

१०. सहस्य — यह दसवीं मास रश्मि है, जो सहस् मास रश्मि के तुल्य प्रभावकारिणी है। उधर 'आ देवो देवान् वक्षत्' को दसवीं निविद् रश्मि माना गया है। इसके प्रभाव से विभिन्न देव अर्थात् प्राणादि रश्मियों का सर्वतः वहन होकर उन्हें और अधिक सक्रिय व संगमनीय बनाने में सहयोग मिलता है। इसमें विद्यमान 'वक्षत्' पद पूर्व 'तूर्णिर्हव्यवाट्' रश्मि के साथ सुसंगत होने में समर्थ होता है, जिससे यह रश्मि पूर्वोक्त 'सहस्' मास रश्मि के साथ संगत होकर नाना पदार्थों को संगत करने में अधिक सहयोग करती है।

११. तपस् — यह ग्यारहवीं मास रश्मि है। तपस् के विषय में ऋषियों का कथन है—

१. तपो वा अग्निः (श.ब्रा.३.४.३.२)
२. तपो वा एष उपैति यो वाचꣳ यच्छति (मै.सं.१.८.४)
३. एतत् खलु वाव तप इत्याहुर्यः स्वं ददातीति (तै.सं.६.१.६.३)
४. एतत् वाव तपो यत्स्वं ददाति (क.३७.१)

इन वचनों से निम्न संकेत मिलते हैं—

१. इन मास रश्मियों के क्रियाशील होने पर अग्नि तत्त्व समृद्ध होता है।

२. जब दो संयोज्य पदार्थ प्राणापान व मरुद् रश्मि रूपी वाक् को उत्सर्जित करते हैं, उस समय ये मास रश्मियाँ उन प्राणादि रश्मियों के निकट प्रकट होती हैं।
३. इन मास रश्मियों के प्रकट व क्रियाशील होने पर 'स्वः' अर्थात् व्यान रश्मियाँ भी क्रियाशील होकर संयोज्य पदार्थों को संयुक्त करने में सहयोग करती हैं।
४. उपर्युक्तवत्।

इन बिन्दुओं पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि आधुनिक विज्ञान द्वारा परिकल्पित मध्यस्थ कणों (मीडिएटर पार्टिकल्स) के निर्माण में इन रश्मियों की भी भूमिका, विशेषकर पूर्वोक्त अन्य मास रश्मियों की अपेक्षा विशेष होती है। उधर ''यज्ञदग्निर्देवो देवान्'' को ग्यारहवीं निविद् रश्मि माना गया है। इस रश्मि में विद्यमान 'अग्निः', 'देवः' एवं 'देवान्' पद पूर्वोक्त मास रश्मियों के साथ इस रश्मि को संगत करने में सहायक होते हैं। इस कार्य में 'यज्ञत्' शब्द और भी सक्रियता बढ़ाने में सहायक होता है। इस प्रकार यह रश्मि विभिन्न पदार्थों के संयोजन की प्रक्रिया में अन्तिम स्तर की भूमिका निभाती है। इस कारण इस निविद् रश्मि का 'तपस्' का रूप होना स्पष्ट होता है।

१२. तपस्य — यह बारहवीं तथा अन्तिम मास रश्मि है। यह पूर्व मास रश्मि 'तपस्' के लगभग समान ही होती है। उधर 'सो अध्वरा करति जातवेदाः' को अन्तिम बारहवीं निविद् रश्मि कहा गया है। इसके प्रभाव से सर्वतोव्याप्त विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मियाँ [प्राणो वै जातवेदाः (ऐ.ब्रा.२.३९), वायुर्वै जातवेदाः (ऐ.ब्रा.२.३४)] विभिन्न पदार्थों के संयोजन कर्मों को निर्बाध रूप से सम्पन्न करने में अन्तिम रूप में सहायक होती हैं।

विशेष ज्ञातव्य—

इन बारह रश्मियों के अतिरिक्त एक तेरहवीं मास रश्मि भी होती है, जो सभी मास रश्मियों में व्याप्त होती है। इसके विषय में महर्षि तित्तिर का कथन है—

त्रयोदशो मासो विष्टपम् (तै.ब्रा.३.८.३.३)

इस रश्मि के विषय में विस्तार से कहीं वर्णन नहीं मिलता। ऐतरेय ब्राह्मण १.१२ में इसके विषय में कुछ वर्णन है।

(ग) ऋतु रश्मियाँ — ऋतु के विषय में ऋषियों का कथन है—

१. रश्मयः ऋतवः (मै.सं.४.८.८; क.सं.४५.१)
२. द्वौ द्वौ हि मासावृतुः (तां.ब्रा.१०.१२.८), द्वौ हि मासावृतुः (श.ब्रा.७.४.२.२९)
३. ऋतवो वै मरुतः (मै.सं.४.६.८)
४. ऋतवो वै दिशः प्रजननः (गो.उ.६.१२)
५. तानि वाऽएतानि (भूर्भुवस्स्वरिति) पञ्चाक्षराणि। तान् पञ्चऽर्तूनकुरुत (प्रजापतिः), ते इमे पञ्चर्तवः (श.ब्रा.११.१.६.५)
६. पञ्चर्तवो हेमन्तशिशिरयोः समानेन (ऐ.ब्रा.१.१)
७. धाता षडक्षरेण षड् ऋतूनुदजयत् (तै.सं.१.७.११.१)
८. तद्यानि तानि भूतानि ऋतवस्ते (श.ब्रा.६.१.३.८)

इन वचनों से निम्न तथ्य प्रकाशित होते हैं—

१. ऋतु एक पदार्थ है, जो रश्मियों के रूप में होता है।
२. दो-२ मास रश्मियों का युग्म ऋतु कहलाता है।
३. उपर्युक्त ऋतु रश्मियाँ सूक्ष्म छन्द (मरुत्) रूप ही होती हैं।
४. ऋतु रश्मियाँ दिशाओं को उत्पन्न करती हैं अर्थात् इनके कारण विभिन्न लोक वा कणों के घूर्णन की दिशाएँ निर्धारित होने में सहयोग मिलता है।
५. 'भूः', 'भुवः' एवं 'सुवः', इन तीन महाव्याहृतियों के कुल पाँच अक्षर पाँच ऋतु रश्मियाँ हैं।
६. हेमन्त व शिशिर को एक मानकर ऋतुएँ पाँच होती हैं।
७. 'ओम्' रश्मि सहित उपर्युक्त पाँच अक्षर मिलाकर छः ऋतु रश्मियों के रूप में होते हैं।
८. सभी उत्पन्न पदार्थ भी 'ऋतु' कहाते हैं, क्योंकि वे सभी निरन्तर गमन करते रहते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि सतत गमन करने वाले पदार्थों की ऋतु संज्ञा होने के उपरान्त भी 'ऋतु' नामक एक विशिष्ट पदार्थ भी है। वह पदार्थ एकाक्षरा वाग् रश्मियों के रूप के अतिरिक्त दो-२ मास रश्मियों के युग्म के रूप में भी होता है। अब हम ऋतुओं का क्रमशः वर्णन करते हैं—

१. वसन्त — यह प्रथम ऋतु रश्मि है। इसके विषय में ऋषियों ने लिखा है—

१. मधुश्च माधवश्च वासन्तिका ऋतू (मै.सं.२.८.१२)

२. मुखं वा एतद् ऋतूनां यद् वसन्तः (तै.ब्रा.१.१.२.६-७)
३. तस्य (संवत्सरस्य) वसन्त एव द्वारं हेमन्तो द्वारम् (श.ब्रा.१.६.१.१९)
४. वसन्तो वै समित् (श.ब्रा.१.५.३.९)
५. वसन्त आग्नीध्रः (श.ब्रा.११.२.७.३२)
६. वसन्त एव भर्गः (गो.पू.५.१५)

इन वचनों से निम्न संकेत प्राप्त होते हैं—

१. पूर्वोक्त मधु व माधव मास रश्मियों का युग्म वसन्त ऋतु रश्मि कहलाता है।
२. वसन्त एवं हेमन्त रश्मियाँ सम्पूर्ण ऋतु रश्मि समूह का मुखरूप हैं अर्थात् ये रश्मियाँ विभिन्न रश्मियों को ग्रहण करके अन्य ऋतु रश्मियों को प्रेषित करने में विशेष रूप से प्रवृत्त होती हैं।
३. इन ऋतु रश्मियों के प्रकाशित होते ही अन्य ऋतु रश्मियाँ प्रकाशित अर्थात् सक्रिय हो उठती हैं। इसके साथ ही ये अन्य मास रश्मियों को मार्ग प्रदान करती हैं।
४. वसन्त रश्मियाँ ही ईंधन रूप होकर सभी ऋतु रश्मियों को सक्रिय वा प्रकाशित करती हैं।
५. वसन्त ऋतु रश्मियाँ अग्नि अर्थात् ऊष्मा व विद्युत् को धारण करने में विशेष सहायक होती हैं।
६. वसन्त रश्मियाँ तेजस्विता की उत्पत्ति में सहायक होती हैं।

पाठकगण पूर्वोक्त मधु एवं माधव रश्मियों के युग्म पर विचार करके उस युग्म की वसन्त ऋतु रश्मियों से स्वयं तुलना करने का प्रयास करें। इसके साथ ही पाठकों को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि कोई भी पदार्थ अपने अवयवों के पृथक्-२ गुणों का संग्रह मात्र नहीं होता, अपितु उसमें अनेक नवीन गुण भी उत्पन्न हो सकते हैं तथा पुराने गुण तिरोहित भी हो सकते हैं। इन रश्मियों को ब्रह्म रूप बताते हुए कहा है—

ब्रह्म हि वसन्तः (श.ब्रा.२.१.३.५)

इससे सिद्ध है कि ये रश्मियाँ अन्य ऋतु रश्मियों को बल व प्रेरण प्रदान करती हैं। इन रश्मियों की प्रधानता में सूक्ष्म अग्नि तत्त्व की प्रधानता होती है, इसी कारण कहा है—

आग्नेयीं वसन्ते (आलभेत) (काठ.सं.१३.१)

२. ग्रीष्म — इन ऋतु रश्मियों के विषय में ऋषियों ने कहा है—

एतावेव (शुक्रश्च शुचिश्च) ग्रैष्मौ (मासौ)।
स यदेतयोर्बलिष्ठं तपति ते नो हेतौ शुक्रश्च शुचिश्च (श.ब्रा.४.३.१.१५)

ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन्नसाः (निरु.४.२७)

इन वचनों से स्पष्ट है कि ये ऋतु रश्मियाँ शुक्र एवं शुचि नामक मास रश्मियों के युग्म के रूप में होती हैं। ये रश्मियाँ विभिन्न रसों अर्थात् प्राणादि रश्मियों को तीव्रता से अवशोषित करती हैं, इसलिए किसी भी पदार्थ के साथ इनके मेल से वह पदार्थ ऊष्मा को तीव्रता से अवशोषित करता है। इस कारण किसी भी पदार्थ के साथ इनके मेल से ऊष्मा की तीव्रता बढ़ती है। इससे इनकी 'शुक्र' एवं 'शुचि' मास रश्मियों के साथ समता प्रदर्शित होती है। इनको क्षत्र रूप बताते हुए कहा है—

क्षत्रं हि ग्रीष्मः (श.ब्रा.२.१.३.५)

अर्थात् ये रश्मियाँ भेदक गुणों से युक्त होती हैं। इन रश्मियों की प्रचुरता में इन्द्र तत्त्व (विद्युत्) की अधिकता होती है, इसी कारण कहा गया है—

ग्रीष्मे माध्यन्दिने सꣳ हितामैन्द्रीम् (आलभेत) (तै.ब्रा.२.१.२.५)

३. वर्षा — इस ऋतु रश्मि के विषय में ऋषियों ने कहा है—

१. एताव् (नभश्च नभस्यश्च) एव वार्षिकौ (मासौ) (श.ब्रा.४.३.१.१६)
२. विड्ढि वर्षाः (श.ब्रा.२.१.३.५)
३. मरुतो वै वृष्ट्या ईशते (मै.सं.४.१.१८)

इन वचनों से सिद्ध होता है—

१. नभस् एवं नभस्य नामक मास रश्मियों का युग्म रूप वर्षा ऋतु रश्मि कहलाता है।
२. ये ऋतु रश्मियाँ विड् रूप होकर अन्य रश्मियों में प्रविष्ट होकर उन्हें अधिक समृद्ध बनाने में सहायक होती हैं।
३. इन रश्मियों के द्वारा विभिन्न मरुद् रश्मियाँ नियन्त्रण सामर्थ्य से युक्त होती हैं। इससे

नाना संयोगादि क्रियाएँ समृद्ध होती हैं।

इन रश्मियों की प्रचुरता में पर्जन्य अर्थात् सूक्ष्म मेघरूप पदार्थों का निर्माण होने लगता है, इसी कारण कहा—

षड्भिः पार्जन्यैर्वा मारुतैर्वा (पशुभिः) वर्षासु (यजते) (श.ब्रा.१३.५.४.२८)

ये गुण नभस् एवं नभस्य मास रश्मियों के संयुक्त रूप से उत्पन्न होते हैं, यह वर्षा ऋतु रश्मियों का सूचक है।

४. शरद् — इस ऋतु रश्मि के विषय में ऋषियों ने लिखा है—

१. यद्विद्योतते तच्छरदः (रूपम्) (श.ब्रा.२.२.३.८)
२. स्वधा वै शरद् (श.ब्रा.१३.८.१.४)
३. एतावेव शारदौ (मासौ) स यच्छरद्यूर्ग्रसः ओषधयः पच्यन्ते तेनो हैताविशश्चोर्जश्च (श.ब्रा.४.३.१.१७)
४. अन्नं वै शरद् (मै.सं.१.६.९)

इन वचनों से सिद्ध होता है—

१. ये ऋतु रश्मियाँ प्रकाश उत्पन्न करने में अपनी विशेष भूमिका निभाती हैं।
२. ये रश्मियाँ स्वधा रूप होती हैं, इसका आशय है कि [स्वधा = द्यावापृथिव्योर्नाम (निघं.३.३०)] ये रश्मियाँ प्रकाशित तथा अप्रकाशित दोनों प्रकार के कणों अथवा कणों व तरंगाणुओं (क्वाण्टा) के परस्पर संयोजन-वियोजन में विशेष भूमिका निभाती हैं।
३. ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों द्वारा संगत होने किंवा उनके द्वारा अवशोषित होने वाली होती हैं।
४. षड्भिर्मैत्रावरुणैः (पशुभिः) शरदि (यजते) (श.ब्रा.१३.५.४.२८) से संकेत मिलता है कि इन रश्मियों की प्रधानता में [द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम। (तां.ब्रा. १४.२.४)] प्रकाशित व अप्रकाशित पदार्थों अर्थात् कणों व तरंगाणुओं दोनों की विद्यमानता व संगति भी प्रचुरता से होती है।

इस विषय में पाठक ईष एवं ऊर्ज मास रश्मियों के प्रभावों को भी अवश्य पढ़ें।

५. हेमन्त — इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

१. हेमन्तो हि वरुण: (मै.सं.१.१०.१२)
२. एतौ (सहश्च सहस्यश्च) एव हैमन्तिकौ (मासौ) स यद्धेमन्त इमा: प्रजा: सहसेव स्वं वशमुपनयते तेनो हेतौ सहश्च सहस्यश्च (श.ब्रा.४.३.१.१८)
३. हेमन्तो हिमवान्। हिमं पुनर्हन्तेर्वा। हिनोतेर्वा (निरु.४.२७), (हि गतौ वृद्धौ परितापे च = भेजना, उकसाना, फेंकना, उन्नत वा उत्तेजित करना —आप्टेकोश)

इन वचनों से हेमन्त रश्मियों के निम्न प्रभाव ज्ञात होते हैं—

१. ये रश्मियाँ वरुण रूप होने से अन्य रश्मियों को अपने साथ संगत करने किंवा उन्हें आच्छादित करने में विशेष समर्थ होती हैं।
२. ये रश्मियाँ सहस् एवं सहस्य संज्ञक मास रश्मियों का संयुक्त रूप होती हैं, जो अपने बल से अन्य मासादि रश्मियों को अपनी अनुगामिनी किंवा संगामिनी बनाती हैं।
३. ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों को बार-२ उत्तेजित वा प्रक्षिप्त करती हुई विभिन्न कणों वा रश्मियों को संगत कराने हेतु प्रेरित करती हैं। इनके विषय में कहा गया है—

षड्भिरैन्द्रावैष्णवै: (पशुभि:) हेमन्ते (यजते) (श.ब्रा.१३.५.४.२८)।

इससे संकेत मिलता है कि इन रश्मियों की प्रचुरता में विद्युत् कणों के पारस्परिक संगमन की प्रक्रिया तीव्र होती है।

इन रश्मियों का प्रभाव सहस् एवं सहस्य मास रश्मियों के संयुक्त प्रभाव के साथ संगति रखता है।

६. शिशिर — इसके विषय में ऋषियों का मत है—

१. तपश्च तपस्यश्च शैशिरा ऋतू (मै.सं.२.८.१२)
२. शिशिरं प्रतिष्ठानम् (मै.सं.४.९.१८)
३. शिशिरं वा अग्नेर्जन्म...सर्वासु दिक्ष्वग्निश्शिशिरे (काठ.सं.८.१)
४. षड्भिरैन्द्राबार्हस्पत्यै: (पशुभि:) शिशिरे (यजते) (श.ब्रा.१३.५.४.२८)

इन वचनों से निम्न संकेत मिलते हैं—

१. तपस् एवं तपस्य नामक रश्मियों का युग्म ही शिशिर नामक ऋतु रश्मि कहाता है।
२. ये रश्मियाँ अन्य ऋतु रश्मियों की आधार रूप होती हैं।
३. अग्नि का जन्म इन्हीं रश्मियों में होता है। इसका अभिप्राय हमें यह प्रतीत होता है कि तारों के केन्द्रीय भाग जैसे स्थानों में जहाँ ऊर्जा की उत्पत्ति होती है, वहाँ शिशिर ऋतु रश्मियों की प्रधानता होती है तथा इनकी प्रधानता में अन्य ऋतु रश्मियों की भी प्रतिष्ठा होती है। विशेषकर तारों के बाहरी विशाल भाग में ऋतु रश्मियों की विशेष प्रधानता होती है। उस विशाल भाग में गुरुत्वाकर्षण बल के कारण जो ताप उत्पन्न होता है, वहाँ इन्हीं ऋतु रश्मियों की प्रधानता होती है। जब तरंगाणुओं की उत्पत्ति होती है, उस समय भी इन्हीं रश्मियों की प्रधानता होती है।
४. इन रश्मियों की प्रधानता में इन्द्र एवं बृहस्पति की प्रचुरता होती है। इसका तात्पर्य है कि [इन्द्रः = स यस्स आकाश इन्द्र एव सः (जै.उ.१.९.१.२), इन्द्रो वै यजमानः (श.ब्रा.२.१.२.११), प्राण एवेन्द्रः (श.ब्रा.१२.९.१.१४), वागिन्द्रः (श.ब्रा.८.७.२.६)] इन रश्मियों की प्रचुरता में सभी प्राण, वाक् एवं आकाश रश्मियाँ एवं बृहस्पति रूप सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ भी विशेष सक्रिय होकर नाना संयोगादि प्रक्रियाएँ समृद्ध होती हैं।

पाठक इन ऋतु रश्मियों के प्रभाव से तपस् एवं तपस्य मास रश्मियों के प्रभाव की संगति लगाकर देखें।

छन्द-विज्ञान

सामान्य गुण— सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया में छन्द रश्मियों की भूमिका अहम होती है। वस्तुतः सम्पूर्ण सृष्टि छन्द रश्मियों का ही खेल है। हम पूर्व में मनस्तत्त्व में अनेक स्पन्दनों के उत्पन्न होने की चर्चा कर चुके हैं। ये स्पन्दन वाक् व प्राण कहलाते हैं। यह वाक् तत्त्व ही 'छन्द' कहलाता है अर्थात् छन्द रश्मियाँ, जो मनस्तत्त्व के अन्दर स्पन्दन रूप होती हैं, ही वाक् तत्त्व कहलाती हैं। पूर्व में हम 'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' आदि छन्द रश्मियों एवं प्राथमिक प्राण रूपी रश्मियों की चर्चा कर चुके हैं। वे सभी मनस्तत्त्व में उत्पन्न सूक्ष्म स्पन्दन हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि 'ओम्' का परारूप मनस्तत्त्व के उत्पन्न होने से पूर्व ही उत्पन्न हो चुका होता है। मन व वाक् तत्त्व के विषय में ऋषियों का कथन है—

मनो वै पूर्वमथ वाक् (जै.ब्रा.१.१२८; ३.१२), मनसो हि वाक् प्रजायते (जै.ब्रा.१.३२०)

मनसा वा अग्रे कीर्तयति, तद् वाचा वदति (शां.आ.७.२) के द्वारा मनस्तत्त्व को वाक् तत्त्व से पूर्वोत्पन्न सिद्ध किया है।

तस्यै (वाग्रूपाया गोः) मन एव वत्सः। मनसा वै वाचं पृक्तां दुह्रे (जै.ब्रा.१.१९)
मन एव वत्सः (श.ब्रा.११.३.१.१)

अर्थात् मनस्तत्त्व वाक् तत्त्व से उत्पन्न होता है। यहाँ वाक् तत्त्व से केवल 'ओम्' छन्द रश्मि की परावस्था का ग्रहण करना चाहिए, ऐसा हमारा मत है। हम पूर्व में लिख चुके हैं कि 'ओम्' छन्द रश्मि रूपी वाक् तत्त्व ही मनस्तत्त्व में नाना बलों व क्रियाओं का बीजवपन करता है। अन्य सभी वाक् (छन्द) रश्मियाँ मन के सापेक्ष योषा (स्त्री) रूप व्यवहार करती हैं, जबकि परा रूप में 'ओम्' रश्मि मन के सापेक्ष वृषा (पुरुष) रूप में व्यवहार करती है। इस प्रकार मूल पदार्थ रूप में मन व वाक् एक ही हैं, जैसे पानी की लहरें पानी से पृथक् नहीं होतीं, इसी कारण महर्षि जैमिनी का कथन है—

वागिति मनः (जै.उ.४.११.१.११)

मनस्तत्त्व में छन्द रश्मि रूपी वाक् तत्त्व उत्पन्न करना ईश्वर तत्त्व का कार्य है, जो 'ओम्' छन्द रश्मियों के परा रूप किंवा कालतत्त्व द्वारा निरन्तर उत्पन्न व नियन्त्रित भी करता रहता है। वाक् व मन के मिथुन से ही समस्त सृष्टि का निर्माण व संचालन होता है। इसीलिए कहा गया है—

वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम् (ऐ.ब्रा.५.२३)
वृषा = वाक् [वृषा हि स्रुवः (ष.ब्रा.१.४.४.३), वृषा स्रुवः (ष.ब्रा.१.३.१.९)]
योषा हि वाक् (श.ब्रा.१.४.४.४)

इससे स्पष्ट होता है कि समस्त सृष्टि में मनस्तत्त्व पुरुष रूप तथा वाग् रूप विभिन्न छन्द रश्मियाँ स्त्री रूप व्यवहार करती हैं। इनके परस्पर संयोग के बिना सृष्टि में कुछ भी निर्माण सम्भव नहीं है। 'ओम्' का परारूप इससे ठीक विपरीत व्यवहार करता है।

अब छन्द रश्मियों रूपी वाक् तथा प्राथमिक प्राण रश्मियों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में ऋषियों के निम्नलिखित वचनों पर विचार करते हैं—

वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम् (श.ब्रा.१.४.१.२),

सर्वे प्राणा वाचि प्रतिष्ठिताः (श.ब्रा.१२.८.२.२५)

इन वचनों से सिद्ध होता है कि जिस प्रकार मनस्तत्त्व एवं वाक् तत्त्व का युग्म होता है, उसी प्रकार प्राण एवं वाक् तत्त्वों का भी युग्म होता है। इनके संयोग के अभाव में सृष्टि रचना का सम्पन्न होना तो क्या, प्रारम्भ होना भी असम्भव है। सभी प्राथमिक प्राण रश्मियाँ वाग् अर्थात् छन्द रश्मियों में प्रतिष्ठित रहती हैं। इन दोनों प्रकार की रश्मियों के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए ऋषियों का कथन है—

प्राणो हि रेतसां विकर्त्ता (श.ब्रा.१३.३.८.१), प्राणो रेतः (ऐ.ब्रा.२.३८)
वाग्वाऽइदं कर्म प्राणो वाचस्पतिः (श.ब्रा.६.३.१.१९)

इन वचनों से संकेत मिलता है कि प्राण रश्मियाँ वृषा (पुरुष) रूप होकर योषा (स्त्री) रूप छन्द रश्मियों में वीर्यवपन करती रहती हैं अर्थात् उन्हें प्रेरित व गतिशील बनाए रखती हैं। प्राणों के बिना छन्द रश्मियों की कोई भी क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार छन्द रश्मियों के अभाव में प्राण रश्मियाँ भी सृष्टि रचना की प्रक्रिया को संचालित नहीं कर सकतीं।

अब हम छन्द रश्मि रूपी वाक् तत्त्व पर विशेष विचार करते हैं। 'छन्दः' पद के विषय में ऋषि दयानन्द लिखते हैं—

स्वच्छन्दता (तु.यजु.भा.१९.७४), प्रकाशनम् (यजु.भा.१५.५),
बलकारि (यजु.भा.१४.१८), बलम् (यजु.भा.१४.९), परिग्रहणम् (यजु.भा.१४.५),
संस्थापनम् (यजु.भा.१५.५), ऊर्जनम् (यजु.भा.१५.४)

इन प्रमाणों से संकेत मिलता है कि छन्द रश्मियाँ स्वच्छन्द विचरण करती हुई विभिन्न प्राण रश्मियों को सब ओर से ग्रहण करके बल व ऊर्जा एवं प्रकाश को उत्पन्न करती हुई नाना पदार्थों को धारण व सक्रिय करती हैं। इनके इन्हीं गुणों के कारण नाना कणों वा तरंगाणुओं की उत्पत्ति सम्भव होती है। इन रश्मियों के विषय में अन्य ऋषियों का कथन है—

१. छन्दः स्तोतृनाम (निघं.३.१६), छन्दति अर्चतिकर्मा (निघं.३.१४)
२. छन्दांसि च्छादनात् (निरु.७.१२), छन्दांसि छन्दयन्तीति वा (दै.ब्रा.३.१९)

३. छन्दांसि वै वाजिनः (गो.उ.१.२०)
४. प्राणा वै छन्दांसि (कौ.ब्रा.१७.२)
५. छन्दांसि वै धुरः (जै.ब्रा.३.२१०)
६. छन्दोभिर्यज्ञस्तायते (जै.ब्रा.२.४३१)
७. उपबर्हणं ददाति। एतद्वै छन्दांसि रूपम् (क.४४.४ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
८. छन्दोभिर्हीदꣳ सर्वं वयुनं नद्धम् (श.ब्रा.८.२.२.८)
[वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा (निरु.५.१५), वीयते गम्यतेऽत्रेति (उ.को.३.६१)]

इन वचनों से छन्द रश्मियों के निम्न गुणों का प्रकाशन होता है—

१. छन्द रश्मियाँ प्रकाश को उत्पन्न करने वाली होती हैं।
२. छन्द रश्मियाँ किसी परमाणु (कण वा क्वाण्टा) को सर्वतः आच्छादित करने वाली होती हैं।
३. ये रश्मियाँ बलों की संयोजिका एवं उत्पादिका होती हैं।
४. ये रश्मियाँ प्राण रश्मियों के समान भी व्यवहार करती हैं।
५. इससे संकेत मिलता है कि इन रश्मियों का व्यवहार अधिकांश में प्राण रश्मियों के समान होता है तथा विभिन्न छन्द रश्मियाँ अनेक रूपों वाली होकर उनमें से कुछ रश्मियाँ प्राण के समान वृषा रूप, तो शेष उनके सापेक्ष योषा रूप व्यवहार करती हैं। इसका तात्पर्य है कि इनका पुरुष वा स्त्री रूप होना सापेक्ष व्यवहार है, न कि सर्वथा निरपेक्ष।
६. ये रश्मियाँ विभिन्न कण वा तरंगाणु एवं सभी लोकों की आधार रूप होकर उन्हें धारण करती हैं।
७. ये ही इस सृष्टि में सभी संयोग-वियोगादि प्रक्रियाओं को सम्पादित, समृद्ध एवं विस्तृत करती हैं।
८. यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इन्हीं के द्वारा बँधा हुआ है।

छन्द रश्मियों की उत्पत्ति

इनकी उत्पत्ति के विषय में कहा है—

छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् (यज्ञात्)

(काठ.संक.१००.१८ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)

उधर 'यज्ञ' के विषय में कहा गया है—

वाग्वै यज्ञः (ऐ.ब्रा.५.२४; श.ब्रा.१.१.२.२; ३.१.३.२७),
आत्मा वै यज्ञः (श.ब्रा.६.२.१.७)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि आत्मा रूप ईश्वर तत्त्व 'ओम्' छन्द रश्मियों के द्वारा मनस्तत्त्व को स्पन्दित करके विभिन्न छन्द रश्मियों को उत्पन्न करता है। यजुर्वेद के पुरुष सूक्त के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने वेदोत्पत्ति से सम्बन्धित इस ऋचा में विद्यमान 'यज्ञः' पद का अर्थ 'परमेश्वर' किया है। इससे छन्दोत्पत्ति में ईश्वर तत्त्व की सर्वोपरि भूमिका स्वतः सिद्ध है। इस प्रक्रिया में 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' व्याहृति रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है। इसका संकेत निम्न कथन से मिलता है—

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्।
भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः॥ (छां.उ.४.१७.३)

इससे संकेत मिलता है कि छन्द रश्मियाँ तीन प्रकार की होती हैं— 'ऋक्', यजुः' एवं 'साम'। इन तीनों प्रकार की छन्द रश्मियों के निर्माण में मनस्तत्त्व एवं 'ओम्' रश्मियों की भूमिका के साथ-२ क्रमशः 'भूः', 'भुवः' एवं 'स्वः' की प्रधानता से भूमिका होती है। ये सभी छन्द रश्मियाँ ऐसे स्पन्दनों के रूप में उत्पन्न होती हैं, जो उत्पन्न होते ही विभिन्न प्राण रश्मियों को आच्छादित करके मिथुन बनाने लगते हैं। अब हम 'ऋक्', 'यजुः' एवं 'साम' छन्द रश्मियों पर क्रमशः विचार करते हैं—

१. ऋक् — इन छन्द रश्मियों के विषय में ऋषियों का कथन है—

१. ऋक् अर्चनी (निरु.१.८)
२. ऋग्भ्यो जाता॑ सर्वशो मूर्तिमाहुः (तै.ब्रा.३.१२.९.१)
३. ऋग् वा अयं (पृथिवी) लोकः (जै.ब्रा.२.३८०)
४. ज्योतिस्तद्यद् ऋक् (जै.ब्रा.१.७६)
५. कृष्णमृक् (काठ.सं.२३.३)
६. वागेवऽर्चश्च सामानि (श.ब्रा.४.६.७.५)

इन प्रमाणों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. ये रश्मियाँ सूक्ष्म दीप्तियुक्त होती हैं। ध्यातव्य है कि पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने संस्कृत-धातुकोष में वेद में 'अर्च' धातु का अर्थ 'चमकना' माना है।
२. इस सृष्टि में जो भी मूर्तिमान् पदार्थ हैं, उन सभी की उत्पत्ति में इन्हीं छन्द रश्मियों की मुख्य भूमिका होती है किंवा ये उन पदार्थों का उपादान कारण होती हैं। यहाँ आधुनिक विज्ञान द्वारा माने जाने वाले मूलकणों को मूर्तिमान् माना जा सकता है।
३. ये ऋचाएँ पार्थिव लोकों अर्थात् अप्रकाशित पदार्थों की उपादान कारणभूत होती हैं। यहाँ अप्रकाशित पदार्थों से उपर्युक्त मूलकणों का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पृथिवी से असुर तत्त्व का भी ग्रहण करना चाहिए। इसका संकेत निम्न प्रमाणों से मिलता है—

असुराणां वा इयं पृथिव्यासीत् (मै.सं.४.१.१०; काठ.सं.३१.८)
ऋचा वा असुरा आयन् साम्ना देवाः (जै.ब्रा.१.१५४)

४. इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि डार्क मैटर व डार्क एनर्जी में ऋक् रूपी छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है।
५. सभी मूर्तिमान् पदार्थ अर्थात् मूलकण वा अप्रकाशित पदार्थ प्रारम्भ में ज्योतियुक्त होते हैं, जो कालान्तर में अप्रकाशित रूप धारण कर लेते हैं। इसी प्रकार असुर तत्त्व अर्थात् डार्क मैटर एवं डार्क एनर्जी भी पहले प्राण व छन्दादि की सूक्ष्म ज्योति के कारण रूप में ही विद्यमान होते हैं, जो कार्यरूप में परिवर्तित होने पर असुर तत्त्व का रूप धारण करते हैं। यह सूक्ष्म ज्योति वाला पदार्थ ही शास्त्र में 'प्रजापति' कहा गया है।
६. इन रश्मियों से उत्पन्न पदार्थ जब अप्रकाशित वा सघन रूप धारण करता है, उस समय उसमें आकर्षण बल की भी प्रबलता हो जाती है। असुर तत्त्व (डार्क मैटर एवं डार्क एनर्जी) के विषय में हमारा मत है कि यह पदार्थ प्रबल प्रक्षेपक व प्रतिकर्षण बल से युक्त होने पर भी अति न्यून मात्रा में आकर्षण का भाव भी रखता है। यह आकर्षण का भाव स्वयं के प्रति अर्थात् आसुर परमाणुओं का एक-दूसरे के प्रति अवश्य होता है, अन्यथा यह पदार्थ रूप में कदापि विद्यमान नहीं होता, बल्कि पूर्णतः बिखर कर समाप्त हो जाता।

इन छन्द रश्मियों तथा साम रश्मियों में वाक् तत्त्व अर्थात् 'ओम्' रश्मियों की प्रधानता

(मनस्तत्त्व के सापेक्ष) होती है। इस कारण ये दोनों प्रकार की रश्मियाँ बलों से विशेष युक्त होती हैं।

इस प्रकार इन उपर्युक्त गुणों से युक्त छन्द रश्मियाँ ऋक् कहलाती हैं।

२. यजुः — इन छन्द रश्मियों के विषय में ऋषियों का कथन है—

१. यजुर्भिर्यजन्ति (काठ.संक.२७.१, ब्रा.उ.को. से उद्धृत), यजुर्यजतेः (निरु.७.१२)
२. अन्तरिक्षं वै यजुषामायतनम् (गो.पू.२.२४)
३. अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः (ष.ब्रा.१.५)
४. सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् (तै.ब्रा.३.१२.९.१)
५. मन एव यजूंषि (श.ब्रा.४.६.७.५)

इन प्रमाणों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. ये छन्द रश्मियाँ यजनशील होती हैं अर्थात् विभिन्न पदार्थों के संयोग में इनकी अहम भूमिका होती है।
२. आकाश तत्त्व (स्पेस) में इनकी प्रधानता एवं व्यापकता होती है। ध्यातव्य है कि किन्हीं कण वा रश्मि आदि के संयोग में स्पेस की अनिवार्य भूमिका वर्तमान वैज्ञानिक क्षेत्र में भी सर्वविदित है।
३. ये छन्द रश्मियाँ ही मुख्यतः आकाश तत्त्व की उपादान कारण हैं। अन्य छन्द रश्मियाँ गौण रूप में कारण होती हैं।
४. इस ब्रह्माण्ड में सभी प्रकार की गति इन्हीं छन्द रश्मियों के अन्दर निरन्तर होती है। इसके साथ ही आकाश तत्त्व की उपादानभूत ये रश्मियाँ सतत गति करती रहती हैं।
५. इन छन्द रश्मियों में पूर्वोक्त वाक् तत्त्व की अपेक्षा मनस्तत्त्व की प्रधानता होती है। इस कारण ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों को आधार प्रदान करती हैं।

३. साम — तीसरे प्रकार की छन्द रश्मियाँ 'साम' कहलाती हैं। इनके विषय में ऋषियों ने कहा है—

१. अर्चिः (आदित्यस्य) सामानि (श.ब्रा.१०.५.१.५)
२. देवलोको वै सामः (तै.सं.७.५.१.६), साम वा असौ (द्यु) लोकः (तां.ब्रा.४.३.५)

३. सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् (तै.ब्रा.३.१२.९.२)
४. क्षत्रं वै साम (श.ब्रा.१२.८.३.२३)
५. साम वाऽऋचः पतिः (श.ब्रा.८.१.३.५)
६. ऋचि साम गीयते (श.ब्रा.८.१.३.३)
७. साम देवानामन्नम् (तां.ब्रा.६.४.१३)

इन प्रमाणों से निम्नानुसार परिणाम प्राप्त होते हैं—

१. आदित्य रश्मियों में इन रश्मियों की प्रधानता होती है।
२. इस सृष्टि में सभी प्रकार के तरंगाणु (क्वाण्टा) एवं कथित मीडियेटर पार्टिकल्स में भी इन्हीं की प्रधानता होती है।
३. ब्रह्माण्डस्थ सम्पूर्ण प्रकाश निरन्तर साम रश्मियों से ओत-प्रोत रहता है।
४. इन छन्द रश्मियों में भेदन क्षमता विशेष होती है।
५. ये रश्मियाँ पूर्वोक्त ऋक् रश्मियों का रक्षण व पालन करती हैं। वर्तमान विज्ञान द्वारा परिभाषित ऊर्जा भी द्रव्य का पालन व रक्षण करती है।
६. साम रश्मियाँ ऋक् रश्मियों के अन्दर प्रकाशित होती हैं अर्थात् उन्हें प्रकाशित करती हैं। वर्तमान विज्ञान द्वारा निर्दिष्ट फोटोन्स ही विभिन्न कणों में प्रतिष्ठित होकर उन्हें प्रकाशित करते हैं, अन्यथा वे कण प्रकाशित नहीं हो सकते।
७. विभिन्न देव पदार्थ अर्थात् तरंगाणु एवं सूक्ष्म कण निरन्तर साम रश्मियों का भक्षण करते रहते हैं।

सभी प्रकार की छन्द रश्मियाँ, जो मन्त्रों के रूप में वेद संहिताओं में उपलब्ध हैं एवं उनमें से कुछ अनुपलब्ध भी हैं, इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान हैं। इनसे ही सम्पूर्ण सृष्टि बनी है। ये सभी प्रकार की मन्त्र रूप छन्द रश्मियाँ उपर्युक्त तीन प्रकार से वर्गीकृत की जाती हैं।

अब हम छन्द रश्मियों के अन्य प्रकार से वर्गीकृत होने पर विस्तार से विचार करते हैं। इस सृष्टि में छन्द रश्मियाँ अनन्त वा असंख्य मात्रा में विद्यमान हैं, परन्तु गुणों व कर्मों के आधार पर उनके प्रमुख रूप से सात विभाग होते हैं। इस विषय में ऋषियों का कथन है—

सप्त छन्दाꣳसि (तै.सं.२.४.६.२; जै.ब्रा.१.८६; श.ब्रा.९.५.२.८)
सप्त वै छन्दाꣳसि (मै.सं.१.११.८; काठ.सं.१४.८; क.सं.३५.७; कौ.ब्रा.१४.५)

ये सात छन्द हैं— गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् एवं जगती। इन सातों छन्द रश्मियों के भी दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची, आर्षी एवं ब्राह्मी, ये आठ भेद माने गये हैं।

अब हम इन सात छन्द रश्मियों के विषय में क्रमश: विचार करते हैं—

१. गायत्री — यह छन्द रश्मि सबसे प्रथम उत्पन्न होती है। इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

१. गायत्री गायते: स्तुतिकर्मण: त्रिगमना वा विपरीता गायतो मुखादुदपतदिति ब्राह्मणम् (निरु.७.१२)
२. एतद्धि (गायत्री) छन्द आशिष्ठम् (श.ब्रा.८.२.३.९)
३. गायत्रीमेव प्रात:सवनं संपद्यते (जै.ब्रा.२.१०१)
४. ज्योतिर्वै गायत्री (तां.ब्रा.१३.७.२)
५. तस्य (प्राणस्य) त्वग्गायत्री (ऐ.आ.२.१.६)
६. मुखं गायत्री (छन्दसाम्) (तां.ब्रा.७.३.७)
७. वीर्यं गायत्री (श.ब्रा.१.३.५.४)
८. सा गायत्री समिद्धान्यानि छन्दांऽसि समिन्धे (श.ब्रा.१.३.४.६)
९. वाग्वै गायत्री (काठ.सं.२३.५; क.सं.३६.२)

इन प्रमाणों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. जब मनस्तत्त्व में सूक्ष्म प्रकाश उत्पन्न होने वाला ही होता है अर्थात् 'ओम्' छन्द रश्मियाँ जब मनस्तत्त्व को प्रेरित करना प्रारम्भ करती ही हैं, उसी समय सर्वप्रथम जो रश्मियाँ (स्पन्दन) उत्पन्न होती हैं, वे गायत्री छन्द रश्मियाँ कहलाती हैं। यद्यपि 'ओम्' रश्मि भी इसी छन्द का सूक्ष्म व व्यापकतम रूप है, किन्तु यह रूप अन्य रश्मियों को उत्पन्न करने हेतु मनस्तत्त्व को प्रेरित करता है। यह 'ओम्' रश्मि का सूक्ष्मतम अर्थात् परारूप किंवा कालरूप है। इसके पश्चात् 'ओम्' का पश्यन्ती रूप मनस्तत्त्व के साथ मिलकर विविध प्रकार की छन्द रश्मियों में परिणत होता रहता है। इसकी प्रथम परिणति गायत्री छन्दों के रूप में होती है। ये रश्मियाँ तीन प्रकार की गतियों से युक्त होती हैं। परा

'ओम्' रश्मि ईश्वर तत्त्व द्वारा उत्पन्न व प्रेरित होती है।

२. यह छन्द रश्मि अन्य छन्द रश्मियों की अपेक्षा सूक्ष्मतम, परन्तु सर्वाधिक तेजस्विनी होती है। इसकी गति भी अन्य छन्दों की अपेक्षा सर्वाधिक होती है।
३. ये छन्द रश्मियाँ प्रात:सवन को सम्पादित करती हैं। इसका तात्पर्य है कि इनका प्राकट्य सर्वप्रथम अकस्मात् अति शीघ्रता से होता है। सृष्टि रचना के प्रथम चरण के समय इनकी ही सर्वाधिक प्रधानता होती है।
४. इन रश्मियों से प्रकाश की उत्पत्ति होती है। इस सृष्टि में जहाँ कहीं भी मन्द वा तीक्ष्ण प्रकाश व्यक्त वा अव्यक्त अवस्था में विद्यमान है, वहाँ इन छन्द रश्मियों की भूमिका अवश्य है। आचार्य पिङ्गल ने अपने छन्द शास्त्र में विभिन्न छन्द रश्मियों के प्रकाश के रंगों को दर्शाते हुए कहा है—

सितसारङ्गपिशङ्गकृष्णनीललोहितगौरा वर्णा: (३.६५)

इस सूत्र में गायत्री छन्द रश्मियों से उत्पन्न प्रकाश को श्वेत वर्ण वाला कहा है। यह श्वेत वर्ण चन्द्रमा के समान जानना चाहिए। यहाँ 'ज्योति:' पद पर आर्ष मत को जानना भी उपयुक्त रहेगा। वह मत इस प्रकार है—

विद्युतो दीप्ति: (म.द.य.भा.१८.५०), अयमग्निर्ज्योति: (श.ब्रा.९.४.२.२२),
अयं वै (भू) लोको ज्योति: (ऐ.ब्रा.४.१५; काठ.सं.३३.३),
ज्योतिर्वै यज्ञ: (काठ.सं.३१.११), असौ (सूर्य:) वाव ज्योति: (ऐ.ब्रा.४.१०),
इदमेवान्तरिक्षं ज्योति: (जै.ब्रा.२.१६६)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि इस सृष्टि में जहाँ भी विद्युत्, ऊष्मा, प्रकाश एवं संयोग-वियोग का व्यवहार है, वहाँ सर्वत्र इनकी भूमिका अवश्य होती है। अप्रकाशित लोकों वा कणों में इनकी प्रधानता रहती है, पुनरपि आकाश तत्त्व, विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं तारों आदि में भी इनकी भूमिका अनिवार्य है। इससे सिद्ध है कि इस सृष्टि में सर्वत्र इनकी न्यूनाधिक भूमिका अवश्य होती है।

५. गायत्री छन्द रश्मियाँ विभिन्न प्राण रश्मियों को त्वचा के समान आच्छादित करती हैं। ध्यातव्य है कि प्राण व छन्द अर्थात् वाग् रश्मियाँ परस्पर मिथुन बनाकर ही अपने-२ सामर्थ्य को प्राप्त कर पाती हैं, जैसा कि कहा है—

वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम् (श.ब्रा.१.४.१.२)

उस मिथुन को ही यहाँ समझाया गया है कि गायत्री रश्मियाँ प्राण रश्मियों को त्वचा के तुल्य आवरण प्रदान करती हैं। यहाँ प्राण से सभी दस प्राथमिक प्राण रश्मियों, विशेषकर पाँच प्राण रश्मियों का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ एक अन्य ऋषि के मत 'प्राणो गायत्री' (तां.ब्रा.७.३.८) पर विचारने से यह संकेत भी मिलता है कि इन छन्द रश्मियों का प्राण नामक प्राथमिक प्राण से विशेष सम्बन्ध होता है, अन्य प्राण रश्मियों से सम्बन्ध न्यून होता है। इतने पर भी ऐसा समझना उचित नहीं होगा कि अन्य प्राण रश्मियों से इसका सम्बन्ध सर्वथा नहीं होता। इसका कारण यह है कि प्राण नामक प्राथमिक प्राण रश्मियों का भी अन्य छन्द रश्मियों से सम्बन्ध रहता है, जिसे आगे दर्शाया जाएगा।

६. ये छन्द रश्मियाँ अन्य सभी छन्द रश्मियों के मुख के समान होती हैं। इसका तात्पर्य है कि जिस प्रकार मुख से उच्चरित वाणी किसी अन्य व्यक्ति को प्रेरित करती है, उसी प्रकार गायत्री रश्मियाँ अन्य सभी छन्द रश्मियों को प्रेरित करती हैं। इसके साथ ही ये छन्द रश्मियाँ अन्य सभी छन्द रश्मियों में सर्वश्रेष्ठ होती हैं।
७. ये रश्मियाँ इस सृष्टि का वीर्य रूप हैं अर्थात् ये ही सम्पूर्ण सृष्टि का बीजवपन करतीं तथा सबको बल प्रदान करने में अग्रणी भूमिका निभाती हैं।
८. जब ये रश्मियाँ समुचित रूप से प्रकाशित वा सक्रिय हो उठती हैं, उसके पश्चात् ही इनके द्वारा अन्य सभी छन्द रश्मियाँ प्रकाशित वा सक्रिय होती हैं।
९. यहाँ गायत्री रश्मियों को वाक् रूप कहा है। यद्यपि सभी छन्द रश्मियाँ वाक् रूप ही होती हैं, परन्तु इन्हें वाक् रूप कहने से हमें यह संकेत मिलता प्रतीत होता है कि इन छन्द रश्मियों में 'ओम्' रश्मियों की प्रधानता होती है। यद्यपि सृष्टि का कोई भी सूक्ष्म से स्थूल पदार्थ 'ओम्' रश्मियों से विहीन नहीं होता, फिर चाहे वह कण हो अथवा तरंग, पुनरपि यहाँ इन रश्मियों को वाक् रूप कहा है, जो इनमें 'ओम्' की प्रधानता की पुष्टि करता है।

इस प्रकार इन उपर्युक्त नौ बिन्दुओं से गायत्री छन्द रश्मियों का स्वरूप पर्याप्त रूप से स्पष्ट होता है। आचार्य पिङ्गल ने अपने छन्द शास्त्र में विभिन्न छन्दों के देवता, स्वर तथा गोत्र की चर्चा निम्नानुसार की है—

अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवादेवताः (३.६३)
स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः (३.६४)
आग्निवेश्यकाश्यपगौतमाङ्गिरसभार्गवकौशिकवासिष्ठानि गोत्राणि (३.६६)

ये सभी देवता, स्वर तथा गोत्र गायत्र्यादि छन्दों के क्रमानुसार ही समझने चाहिए। इस कारण गायत्री छन्द रश्मि का देवता अग्नि, स्वर षड्ज तथा गोत्र आग्निवेश्य सिद्ध होता है।

यहाँ गायत्री छन्द का देवता प्रायः अग्नि होने से संकेत मिलता है कि इस छन्द के कारण विद्युत् रूप अग्नि की उत्पत्ति वा समृद्धि होती है। इसका गोत्र आग्निवेश्य भी यही संकेत देता है कि ये रश्मियाँ विद्युत् अग्नि की उत्पादक व धारक अवस्था को उत्पन्न करती हैं किंवा उस अवस्था में ही स्वयं उत्पन्न होती हैं। यहाँ अग्निवेश का अर्थ प्राण नामक प्राण रश्मि भी माना जा सकता है और इनसे अथवा इनकी प्रधानता में गायत्री छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इस छन्द को वेदपाठी षड्ज स्वर में गाते हैं, यह इस बात का संकेत करता है कि [षट् = षट् पुनः सहतेः (निरु.४.२७)] इन रश्मियों में सहस्=बल विशेष होता है। [सह् = सहन करना, वहन करना, सहारा देना, जीतना, दबाना, धारण करना— आप्टे कोश] इसका अर्थ है कि ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों को आश्रय देने, नियन्त्रित करने, धारण करने, दबाने एवं वहन करने में सक्षम होती हैं।

जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके हैं कि प्रत्येक छन्द रश्मि के आठ रूप होते हैं, जिनकी चर्चा हम गायत्र्यादि सभी छन्द रश्मियों के पश्चात् एक साथ करेंगे।

२. उष्णिक् — इसके विषय में ऋषियों के कथन निम्नानुसार हैं—

१. उष्णिगुत्स्नाता भवति। स्निह्यतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः (निरु.७.१२)
२. उष्णिगुत्स्नानात् स्निह्यतेर्वा कान्तिकर्मणोऽपि वोष्णीषिणो वेत्यौपमिकम् (दै.ब्रा.३.४)
३. आयुर्वा उष्णिक् (ऐ.ब्रा.१.५), यजमानच्छन्दसमेवोष्णिक् (कौ.ब्रा.१७.२)
४. ग्रीवा उष्णिहः (श.ब्रा.८.६.२.११)
५. तस्य (प्राणस्य) उष्णिग्लोमानि (ऐ.आ.२.१.६)
६. चक्षुरुष्णिक् (श.ब्रा.१०.३.१.१)
७. वज्रो वा उष्णिहः (जै.ब्रा.१.२०९)

इन वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. ये रश्मियाँ गायत्री रश्मियों को ऊपर से आवृत्त करतीं, उनमें तथा अन्य छन्द रश्मियों में पारस्परिक आकर्षण का भाव समृद्ध करतीं तथा उन्हें और अधिक कान्तियुक्त करती हैं।
२. पूर्ववत्।
३. ये विभिन्न छन्दादि रश्मियों में संयोजकता को बढ़ाती हैं।
[आयु: = यज्ञो वा आयु: (तां.ब्रा.६.४.४)]
४. ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों को अपने साथ उसी प्रकार जोड़ने में सहायक होती हैं, जिस प्रकार शरीर में गर्दन धड़ तथा सिर को जोड़ती है। इसके साथ ही ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों से उत्सर्जित अति सूक्ष्म रश्मियों को सतत निगलती रहती हैं। इससे ही यजन क्रिया सम्पन्न हो पाती है।
५. ये रश्मियाँ प्राण रश्मियों को आच्छादित करने में त्वचातुल्य गायत्री रश्मियों के ऊपर लोमों (बालों) के सदृश संयुक्त रहती हैं।
६. ये अन्य रश्मियों की प्रकाशशीलता को बढ़ाती हैं।
७. ये अन्य रश्मियों को तीक्ष्ण बनाने में सहायक होती हैं।

आचार्य पिङ्गल ने इनका देवता सविता, गोत्र काश्यप तथा स्वर ऋषभ माना है, हम इसे गायत्री छन्द के प्रकरण में दर्शा चुके हैं। मैत्रायत्री संहिता २.१३.१४ में इसका देवता पूषा बताया है। इससे संकेत मिलता है कि इन रश्मियों के प्रभाव से गायत्री रश्मियाँ अधिक सक्रिय होती हैं, जिससे उष्णता में भी वृद्धि होती है। इनसे ब्रह्माण्ड में सारंग अर्थात् रंग-बिरंगे रूप की उत्पत्ति होने लगती है।

प्रश्न— पूर्व में आपने गायत्री रश्मियों को अन्य सभी छन्द रश्मियों की प्रेरक कहा और यहाँ उष्णिक् को सबकी प्रेरक बताने जैसा संकेत किया है। वस्तुत: गायत्री व उष्णिक् में से कौन प्रेरक तथा कौन प्रेरित है?

उत्तर— वस्तुत: गायत्री रश्मियाँ ही सबकी प्रेरक होती हैं, परन्तु उष्णिक् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति के पश्चात् इन दोनों का संयुक्त प्रभाव अधिक सक्रियता व यजनशीलता को उत्पन्न करता है। विशेषकर उष्णता व यजनशीलता में इसका विशेष योगदान रहता है।

अब इनके काश्यप गोत्र पर विचार करते हैं। महर्षि यास्क का कथन है— 'कश: जलम्' (निघं.१.१२)। उधर 'जलम्' पद 'जल घातने' व 'जल अपवारणे' धातुओं से निष्पन्न होता है। इससे संकेत मिलता है कि उष्णिक् रश्मियाँ विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों के भेदन, अपवारण व संयोजन आदि कर्मों को करने में सहयोग प्रदान करती हैं, साथ ही इन कर्मों के सम्पादित होते समय इन रश्मियों की प्रधानता होती है। इनकी उत्पत्ति कश्यप अर्थात् कूर्म रश्मियों से होती है अथवा उनकी प्रधानता में होती है।

३. अनुष्टुप् — इसके विषय में निम्नलिखित आर्ष वचन विचारणीय हैं—

१. अनुष्टुबनुस्तोभनात् (निरु.७.१२; दै.ब्रा.३.७)
२. गायत्री वै सा या अनुष्टुप् (कौ.ब्रा.१०.५)
३. आनुष्टुब्भि छन्दसां योनिः (तां.ब्रा.११.५.१७)
४. वाग्वा अनुष्टुप् (ऐ.ब्रा.१.२८)
५. वृषा वै त्रिष्टुब् योषानुष्टुप् (ऐ.आ.१.३.५)
६. अनुष्टुप् (प्राणस्य) स्रावानि (ऐ.आ.२.१.६)
७. क्षत्रं वा अनुष्टुप् (ऐ.आ.१.१.३)
८. प्राणा वा एतानीतराणि छन्दाꣳसि वागनुष्टुप् (मै.सं.३.१.९)
९. यज्ञोऽनुष्टुप् (काठ.सं.१९.३)
१०. अनुष्टुब् वा अग्नेः प्रिया तनूः (काठ.सं.१९.५)

इन वचनों से निम्न परिणाम उपस्थित होते हैं—

१. ये छन्द रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों को अनुकूलता से थामती हैं।
२. ये रश्मियाँ गायत्री रश्मियों के समान भी व्यवहार करती हैं।
३. ये रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों की योनि रूप होती हैं। इसका तात्पर्य है कि इन छन्द रश्मियों में सभी छन्द रश्मियाँ प्रतिष्ठित हो जाती हैं।
४. इनमें भी 'ओम्' रश्मियों की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है।
५. ये रश्मियाँ त्रिष्टुप् के सापेक्ष योषा रूप होती हैं अर्थात् इनके सापेक्ष त्रिष्टुप् वृषा का कार्य करती हैं।
६. ये रश्मियाँ प्राण रश्मियों के स्राव के समान हैं अर्थात् उनसे निरन्तर बहती रहती हैं।

७. इनमें भेदन क्षमता होती है।
८. ये रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों के सापेक्ष वाग् रूप होती हैं अर्थात् अन्य रश्मियाँ प्राण वा वृषा रूप तथा ये उनके लिए वाक् वा योषा रूप व्यवहार करती हैं।
९. ये रश्मियाँ भेदन सामर्थ्य के साथ-२ यजनशील भी होती हैं।
१०. इन रश्मियों के द्वारा अग्नि तत्त्व को धारण किया जाता है किंवा अग्नि तत्त्व इनके अन्दर विद्यमान रहता है। इसका आशय है कि अग्नि तत्त्व का विस्तार इनमें विशेष रूप से होता है, चाहे वह अग्नि तत्त्व विद्युत्, प्रकाश वा ऊष्मा रूप क्यों न हो।

हम पूर्व में गायत्री छन्द के प्रकरण में संकेत कर चुके हैं कि इनका देवता सोम, गोत्र गौतम तथा स्वर गान्धार है। इसका आशय यह है कि इनकी प्रधानता से सोम तत्त्व सक्रिय होता है, जिससे वह तीव्र रूप से प्रकाशित होने लगता है अर्थात् वह नाना प्रकार की प्रकाश रश्मियों को धारण करने में समर्थ होने लगता है। इनसे पिशङ्ग अर्थात् लालमिश्रित भूरे रंग की उत्पत्ति होती है। ये रश्मियाँ गोतम अर्थात् धनञ्जय रश्मियों से उत्पन्न होती हैं।

४. बृहती — सर्वप्रथम इसके विषय में कुछ आर्ष वचनों को उद्धृत करते हैं—

१. बृहती परिबर्हणात् (निरु.७.१२)
२. बृहती बृंहतेर्वृद्धिकर्मणः (दै.ब्रा.३.११)
३. बृहती मर्या ययेमान् लोकान् व्यापामेति तद् बृहत्या बृहत्त्वम् (तां.ब्रा.७.४.३)
४. अयं मध्यमो (लोकः = अन्तरिक्षम्) बृहती (तां.ब्रा.७.३.९)
५. बृहती स्वर्गो लोकः (जै.ब्रा.१.२९०; २.७; श.ब्रा.१०.५.४.६)
६. सर्वाणि छन्दांसि बृहतीमभिसंपन्नानि (जै.ब्रा.१.३१६)
७. अथ बृहती। योऽयं प्राङ् प्राण (उपस्थेन्द्रियम्) एष एव सः।
...एतेन द्वयं प्राणेन करोति रेतश्च सिञ्चति मेहति च (जै.ब्रा.१.२५४)

इन वचनों से निम्नलिखित संकेत प्राप्त होते हैं—

१. ये रश्मियाँ अन्य रश्मियों को सब ओर से घेरती हुई वर्धमान होती रहती हैं।
२. उपर्युक्तवत्।
३. ये रश्मियाँ विभिन्न कणों वा लोकों के निर्माण के समय पदार्थ को सब ओर से आवृत्त

व सम्पीडित करती हुई निर्माणाधीन कणों वा लोकों की परिधियों के निर्माण में सहायक होती हैं। ये उन लोकों वा कणों को सर्वतः व्याप्त किये रहती हैं।

४. आकाश तत्त्व में इन रश्मियों की प्रधानता होती है। इसी कारण किसी पदार्थ की परिधि के निर्माण व सम्पीडन में आकाश तत्त्व (स्पेस) की भी अनिवार्य भूमिका होती है।

५. विभिन्न तारे आदि प्रकाशित लोकों के केन्द्रीय भाग में भी इनकी प्रचुरता होती है। उन भागों में विभिन्न कणों के संलयन की प्रक्रिया में इनकी भी भूमिका अनिवार्य होती है। ये संलयित हुए कणों से निर्मित नवीन कणों को भी परिधि रूप में व्याप्त करके उन्हें संघनित किये रहती हैं।

६. सभी छन्द रश्मियाँ इन बृहती छन्द रश्मियों के द्वारा ही एकत्र बनी रहती हैं, जिससे अनेक प्रकार के पदार्थों का निर्माण सम्भव हो पाता है।

७. प्राण रश्मियाँ इन बृहती रश्मियों की उपस्थेन्द्रिय के समान कार्य करती हैं। इन दोनों के संयोग की सम्मिलित उपस्थेन्द्रिय प्राण रश्मि ही होती है, जिसके माध्यम से नाना उत्पादन कार्य सम्पादित होते हैं। इसी कारण महर्षि ऐतरेय महीदास ने बृहती को प्राणरूप भी माना है—

प्राणो बृहती (ऐ.आ.२.१.६)

इनका देवता बृहस्पति, गोत्र आङ्गिरस तथा स्वर मध्यम है, इसे गायत्री के प्रकरण में दर्शा दिया है। इसका तात्पर्य है कि इन रश्मियों की उपस्थिति में प्राण, अपान एवं सूत्रात्मा वायु रूपी बृहस्पति विशेष सक्रिय होकर संघनन व सम्पीडन की क्रिया को समृद्ध करते हैं। यहाँ आङ्गिरस भी सूत्रात्मा वायु का वाचक है। इनकी उत्पत्ति इन्हीं प्राणापान व सूत्रात्मा वायु के मिश्रण से होती है। बृहती के कारण ही ज्वालाओं से युक्त अग्नि भी उत्पन्न होता है। ये रश्मियाँ यद्यपि सबको मर्यादित करने का कार्य करती हैं, पुनरपि ये उनमें सबसे बहिर्भागस्थ नहीं, बल्कि मध्य में स्थित होती हैं। वहीं से सबको बाँधे रखती हैं। आचार्य पिङ्गल ने इन्हें कृष्ण वर्ण वाली कहा है।

५. पंक्ति — आइये, इस विषय में आर्ष मत पर दृष्टि डालें—

१. विस्तृता क्रिया (तु.म.द.य.भा.२३.३३),
पृथुरिव वै पङ्क्तिः (गो.पू.५.४; श.ब्रा.१२.२.४.६)

२. पञ्चपदा पङ्क्तिः (ऐ.ब्रा.५.१८)
३. पङ्क्तिर्वा अन्नम् (ऐ.ब्रा.६.२०)
४. यजमानो पङ्क्तिः (मै.सं.३.३.९)
५. पङ्क्तिर्मज्जा (ऐ.आ.२.१.६)
६. श्रोत्रं पङ्क्तिः (श.ब्रा.१०.३.१.१), श्रोत्राद् वाचं सन्तनु (काठ.सं.३९.८)

इन वचनों का आशय निम्नानुसार है—

१. ये छन्द रश्मियाँ फैलती हुई सी उत्पन्न होकर नाना प्रकार की क्रियाओं को विस्तृत करती हैं।
२. इन रश्मियों में पाँच प्रकार की गतियाँ विद्यमान होती हैं।
३. ये विभिन्न रश्मि वा कण आदि पदार्थों के द्वारा सतत अवशोषित की जाती रहती हैं।
४. इस कारण ये रश्मियाँ विशेष यजनशील होती हैं।
५. ये रश्मियाँ प्राण रश्मियों की मज्जा के समान कार्य करती हैं। जिस प्रकार शरीर में विद्यमान अस्थिगत मज्जा सम्पूर्ण शरीर के रक्त को जीवन्त बनाकर शरीर की प्रतिरोधी क्षमता को बढ़ाती है, उसी प्रकार पंक्ति छन्द रश्मियों की विद्यमानता में प्राण रश्मियों का सामर्थ्य समृद्ध होता है।
६. ये रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों को भी विस्तार प्रदान करके संयोग-वियोगादि क्रियाओं को विस्तृत करती हैं।

इनका देवता मित्रावरुण, गोत्र भार्गव एवं स्वर पञ्चम है।

मित्रावरुणौ = द्यावापृथिवी वै मित्रावरुणयोः प्रियं धाम (तां.ब्रा.१४.२.४),
यज्ञो वै मैत्रावरुणः (कौ.ब्रा.१३.२),
प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ (श.ब्रा.१.८.३.१२),
प्राणापानौ मित्रावरुणौ (तां.ब्रा.६.१०.५),
वायुसवितारौ (म.द.ऋ.भा.५.६३.३)

इसका आशय है कि इन रश्मियों की प्रचुरता से प्राण, अपान व उदान विशेष समृद्ध होकर विद्युत् व ऊष्मा को शक्तिशाली रूप प्रदान करके प्रकाशित व अप्रकाशित दोनों ही प्रकार के कणों व लोकों को ज्वालामय बनाते हैं। इसके साथ ही ये रश्मियाँ ज्वालामयी

अवस्था में ही विशेष रूप से उत्पन्न होती हैं। इस कारण वे कण व लोक पञ्चम अर्थात् व्यक्त रूप को प्राप्त करने लगते हैं। इन रश्मियों के प्रभाव से सभी प्रकार की क्रियाएँ विस्तार व उत्कर्ष को प्राप्त होती हैं। इनसे नील वर्ण की उत्पत्ति होती है।

६. त्रिष्टुप् — सर्वप्रथम हम इन छन्द रश्मियों के विषय में आर्ष मत को उद्धृत करते हैं—

१. अथ त्रिष्टुप्। नाभिरेव सा (जै.ब्रा.१.२५४)
२. अथैतदधीतरसं शुक्रियं छन्दो यत्त्रिष्टुप् (ऐ.ब्रा.६.१२)
३. असावुत्तमः (द्युलोकः) त्रिष्टुप् (तां.ब्रा.७.३.९)
४. इन्द्रस्त्रिष्टुप् (श.ब्रा.६.६.२.७), इन्द्रियं वीर्यं त्रिष्टुप् (जै.ब्रा.१.१३२; ३.२०६)
५. एते वाव छन्दसां वीर्य्यवत्तमे यद् गायत्री च त्रिष्टुप् च (तां.ब्रा.२०.१६.८)
६. त्रिष्टुप्छन्दा वै राजन्यः (तै.ब्रा.१.१.९.६)
७. त्रिष्टुप् स्तोभ इत्युत्तरपदा का तु त्रिता स्यात्तीर्णतमं छन्दो भवति (दै.ब्रा.३.१४,१५)
८. त्रिष्टुम्मांसम् (प्राणस्य) (ऐ.आ.२.१.६)
९. व्यानस्त्रिष्टुप् (मै.सं.३.४.४; काठ.सं.२१.१२), अपानस्त्रिष्टुप् (तां.ब्रा.७.३.८)
१०. यत् त्रिस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते (निरु.७.१२)
११. वज्रस्तेन यत्त्रिष्टुप् (ऐ.ब्रा.२.१६)
१२. अन्तरिक्षं त्रिष्टुप् (जै.उ.१.१७.३.३)
१३. त्रैष्टुभमन्तरिक्षम् (श.ब्रा.८.३.४.११)

इन वचनों से हम निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त करते हैं—

१. ये छन्द रश्मियाँ समस्त छन्द रश्मि समूह की नाभिरूप होकर उसे परस्पर बाँधे रखती हैं।
२. ये छन्द रश्मियाँ उत्पादक क्षमता से अत्यधिक रूप से सम्पन्न होती हैं।
३. तारों के अन्दर विशेषकर उनके केन्द्रीय भाग में इनकी प्रचुरता रहती है।
४. इनके कारण तीक्ष्ण विद्युत् तरंगों की उत्पत्ति व समृद्धि होती है। ये तीव्र रूप से भेदक शक्ति सम्पन्न होती हैं।
५. ये रश्मियाँ अन्य छन्द रश्मियों को तीव्र तेज व बल प्रदान करती हैं।
६. सभी छन्द रश्मियों में गायत्री तथा त्रिष्टुप् सबसे तीव्र तेज व बल से युक्त होती हैं।

७. इन छन्द रश्मियों के कारण विभिन्न कण वा रश्मि आदि पदार्थ तीव्र तेज व भेदक शक्तिसम्पन्न होकर देदीप्यमान होते हैं।
८. ये रश्मियाँ दुर्बल रश्मियों को तारने में अर्थात् उन्हें बल प्रदान करने में सर्वाधिक समर्थ होती हैं।
९. ये प्राण रश्मियों का मांस रूप होती हैं अर्थात् इनके द्वारा विभिन्न प्राण रश्मियाँ पूर्ण बल प्राप्त करने में समर्थ होती हैं। इसका संकेत हमें महर्षि याज्ञवल्क्य के 'मांसम्' पद के निर्वचन से मिलता है— मांसं वै पुरीषम् (श.ब्रा.८.६.२.१४)। उधर 'पुरीषम्' के विषय में ऋषियों का कथन है— पूर्णं बलम् (म.द.य.भा.१२.४६), पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा (निरु.२.२२)। इन वचनों से हमारे कथन की पुष्टि होती है।
१०. इन रश्मियों से अपान व व्यान प्राण रश्मियाँ विशेष रूप से समृद्ध व सशक्त होती हैं, जिसके कारण पदार्थ की भेदन क्षमता के साथ-२ क्वचित् बन्धन क्षमता भी समृद्ध होती है।
११. ये रश्मियाँ अन्य रश्मि व कण आदि पदार्थों को तीन प्रकार से थामती हैं, इसीलिए इन्हें त्रिष्टुप् कहा जाता है।
१२. ये रश्मियाँ अति तीव्र शक्ति वाली होने से वज्र कहलाती हैं। ये असुर पदार्थ अर्थात् डार्क एनर्जी आदि के बाधक प्रभाव को नष्ट करने में सक्षम होती हैं।
१३. ये रश्मियाँ आकाश तत्त्व को थामती व प्रभावित करती हैं। इसके साथ ही आकाश तत्त्व में भी इनकी प्रचुरता होती है।

इनका देवता इन्द्र, गोत्र कौशिक तथा स्वर धैवत है। कुशिक के विषय में महर्षि यास्क का कथन है—

क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात्
प्रकाशयतिकर्मणः साधु विक्रोशयितार्थानामिति वा (निरु.२.२५)

इस सबका तात्पर्य है कि इनके प्रभाव से इन्द्र अर्थात् तीव्र भेदक शक्ति सम्पन्न विद्युत् तरंगों की उत्पत्ति व समृद्धि होने के साथ-२ तीव्र ध्वनियों व प्रकाश की उत्पत्ति व समृद्धि होती है एवं इन्द्रतत्त्व की सक्रियता में इनकी उत्पत्ति और भी अधिक तीव्रता से होने लगती है। स्वर के प्रभाव से नाना प्रकार की क्रियाओं में तीव्रता से वृद्धि होती है। इनसे लाल वर्ण की उत्पत्ति होती है।

७. जगती — इनके विषय में आर्ष मत निम्नानुसार हैं—

१. गततमं छन्दः जलचरगतिर्वा, जल्गल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम् (निरु.७.१३)
२. तदिदं सर्वं जगदस्याँ तेनेयं जगती (श.ब्रा.१.८.२.११)
३. या सिनीवाली सा जगती (ऐ.ब्रा.३.४७), सिनीवाली सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि वालं पर्वं वृणोतेः (निरु.११.३१)
४. जगती वै छन्दसां परमं पोषं पुष्टा (तां.ब्रा.२१.१०.९)
५. प्रजननं जगती (जै.ब्रा.१.९३; ष.ब्रा.२.३)
६. जगत्यादित्यानां पत्नी (गो.उ.२.९)
७. तदाहुः प्लवमिव वा एतच्छन्दो यज्जगती (जै.ब्रा.२.३७९)
८. अनूकं जगत्यः (श.ब्रा.८.६.२.३)
९. अस्थि (प्राणस्य) जगती (ऐ.आ.२.१.६)
१०. दित्यवाहो जगत्यै (मै.सं.३.१३.१७)

इनसे निम्न परिणाम प्राप्त होते हैं—

१. ये रश्मियाँ सर्वाधिक दूर तक गमन करने वाली होती हैं। इनकी गति जल की लहरों के समान होती है तथा इनकी उत्पत्ति के समय मनस्तत्त्व विशेष विक्षुब्ध वा सक्रिय नहीं होता। ये रश्मियाँ सबसे अन्त में उत्पन्न होती हैं।
२. सम्पूर्ण जगत् इन्हीं रश्मियों में प्रतिष्ठित है, इस कारण इन्हें जगती कहा जाता है।
३. ये रश्मियाँ विभिन्न संयोज्य कणों वा तरंगाणुओं को बाँधती तथा विभिन्न कणों को संयोगादि प्रक्रिया हेतु समर्थ करती हैं। हमारे मत में विभिन्न कणों वा तरंगाणुओं के अवशोषण व उत्सर्जन की क्रिया हेतु ये रश्मियाँ उन्हें सामर्थ्य प्रदान करती हैं।
४. ये अन्य छन्द रश्मियों को अत्यन्त पुष्ट वा समर्थ बनाती हैं। इसके साथ ही ये स्वयं भी विस्तृत क्षेत्र में अपने प्रभाव को दर्शाने हेतु समर्थ होती हैं।
५. ये संयोगादि प्रक्रिया को समर्थ बनाकर नाना पदार्थों को उत्पन्न करने में अपनी भूमिका निभाती हैं। इनकी उपस्थिति में विभिन्न रश्मियों की संयोगादि प्रक्रिया भी समृद्ध होती है।
६. ये रश्मियाँ आदित्य अर्थात् सूर्यादि लोकों की रक्षा में विशेष उपयोगी होती हैं। इसका

कारण यह है कि ऊर्जा व इलेक्ट्रॉन के उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया इन्हीं रश्मियों के कारण सम्पन्न होती है।

७. ये रश्मियाँ जल की तरंगों की भाँति सुदूरगामी होते हुए भी उछलती-कूदती हुई सी गति करती हैं।
८. ये रश्मियाँ सम्पूर्ण छन्द रश्मि समूह की रीढ़ के समान महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।
९. ये प्राण रश्मियों की अस्थि के समान होती हैं। इसका आशय है कि ये रश्मियाँ सम्पूर्ण प्राण रश्मि समूह को ढाँचागत आधार प्रदान करती हैं, जिस पर सभी छन्द रश्मियाँ आश्रित होती हैं।
१०. ये रश्मियाँ खण्डनीय पदार्थों का वहन करने वाली होती हैं। इससे संकेत मिलता है कि सभी कणों वा तरंगाणुओं की गति में इनका भी योगदान रहता है।

इनका देवता विश्वेदेवा, गोत्र वासिष्ठ तथा स्वर निषाद होता है। इसका आशय यह है कि ये रश्मियाँ विभिन्न देव पदार्थों को बसाने में श्रेष्ठ होकर उनमें नितराम् व्याप्त होती हैं। इसके साथ ही ये वसिष्ठ अर्थात् प्राण नामक प्राण रश्मियों से उत्पन्न होती हैं, विशेषकर अग्नि के प्राबल्य में इनकी उत्पत्ति अधिक मात्रा में होती है। इनसे गौर वर्ण की उत्पत्ति होती है।

इन सात छन्द रश्मियों के अतिरिक्त भी अष्टि, शक्वरी आदि कुछ बड़ी छन्द रश्मियाँ भी इस ब्रह्माण्ड में विद्यमान होती हैं। इनमें अति तीव्र तेज व बल विद्यमान होता है। इनकी भी सृष्टि रचना में बड़ी भूमिका होती है।

इस प्रकार इन सातों छन्द रश्मियों के स्वरूप का साधारण वर्णन करने के उपरान्त इनके विभिन्न विभागों का वर्णन करते हैं।

छन्द रश्मियों के आठ विभाग

सभी सातों छन्द रश्मियाँ मुख्यत: आठ प्रकार की होती हैं। इसे हम निम्नलिखित तालिका द्वारा समझ सकते हैं—

छन्दः	गायत्री	उष्णिक्	अनुष्टुप्	बृहती	पंक्तिः	त्रिष्टुप्	जगती
आर्षी	२४	२८	३२	३६	४०	४४	४८
दैवी	१	२	३	४	५	६	७
आसुरी	१५	१४	१३	१२	११	१०	९
प्राजापत्या	८	१२	१६	२०	२४	२८	३२
याजुषी	६	७	८	९	१०	११	१२
साम्नी	१२	१४	१६	१८	२०	२२	२४
आर्ची	१८	२१	२४	२७	३०	३३	३६
ब्राह्मी	३६	४२	४८	५४	६०	६६	७२

ध्यातव्य— यह तालिका चौखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी से प्रकाशित पिंगल-छन्दशास्त्र की हलायुध टीका से उद्धृत की गई है।

छन्द रश्मियों के आठ प्रकार निम्नानुसार हैं—

१. दैवी — इस ब्रह्माण्ड में सर्वप्रथम इन्हीं छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। 'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'सुवः' आदि मूल छन्द रश्मियाँ जिनका वर्णन हम पूर्व में कर चुके हैं तथा कुछ प्राथमिक प्राण रश्मियाँ दैवी छन्द रश्मियों के अन्तर्गत ही आती हैं। इनके कारण अव्यक्त सूक्ष्मतम ज्योति तथा अति सूक्ष्म बल की उत्पत्ति होती है। इन सूक्ष्मतम रश्मियों का मिश्रण इस सृष्टि का वह सूक्ष्मतम तत्त्व है, जिसमें अति सूक्ष्म स्पन्दन विद्यमान होते हैं। यह सर्वत्र व्याप्तवत् होता है। इस समय स्पन्दन सर्वत्र एकरसवत् माने जा सकते हैं। इनके मध्य अवकाश नगण्य होता है। पूर्वोक्त सभी सातों छन्द रश्मियों के दैवी रूप में अक्षर संख्या निम्नानुसार होती है—

गायत्री में १, उष्णिक् में २, अनुष्टुप् में ३, बृहती में ४, पंक्ति में ५, त्रिष्टुप् में ६ एवं जगती में ७ अक्षर होते हैं। छन्द रश्मियों के प्रभाव के विषय में निम्नलिखित कारक महत्त्वपूर्ण हैं—

(क) छन्द में विद्यमान अक्षर संख्या— ध्यातव्य है कि केवल स्वर रूप अक्षर को ही अक्षर संख्या के रूप में माना जाता है, क्योंकि स्वर ही किसी व्यंजन रूप अक्षर को प्रकाशित वा गतिशील करता है। पूर्वोक्त 'ओम्', 'भूः', 'हिम्', 'घृम्', ये चार रश्मियाँ एक-२ स्वरयुक्त होने से एकाक्षरा होती हैं। ये सभी दैवी गायत्री छन्द का उदाहरण हैं।

(ख) भिन्न-२ अक्षरयुक्त रश्मियों का प्रभाव भिन्न-२ होता है। हम पूर्व में एकाक्षरा 'ओम्', 'भूः', 'हिम्', व 'घृम्' के एकाक्षरा होने पर भी पृथक्-२ प्रभाव दर्शा चुके हैं। विज्ञ पाठक पूर्वोक्तानुसार प्रत्येक अक्षर का पृथक्-२ प्रभाव जानकर सभी छन्द रश्मियों का पूर्ण प्रभाव जान सकते हैं।

(ग) अक्षर संख्या, अक्षर के स्वरूप व प्रकृति के प्रभाव के साथ ही रश्मि के अन्दर अक्षरों के विन्यास पर भी छन्द रश्मि का प्रभाव निर्भर करता है। इसी कारण समान अक्षर संख्या होने पर भी छन्द रश्मि भिन्न-२ प्रकार की हो सकती है। उदाहरण के रूप में ६ व ७ अक्षर वाली रश्मियाँ क्रमशः दैवी त्रिष्टुप् एवं दैवी जगती होने के साथ-२ इनसे भिन्न विन्यास वा व्यवस्था होने पर क्रमशः याजुषी गायत्री तथा याजुषी उष्णिक् का रूप धारण कर सकती हैं। उस समय उनका प्रभाव भिन्न हो जाता है। ऐसे अन्य उदाहरण पूर्वोक्त सारणी में देख सकते हैं।

सभी प्रकार की दैवी छन्द रश्मियाँ अपने-२ गायत्र्यादि छन्द रश्मियों के प्रभाव के साथ-२ दैवी प्रभाव भी दर्शाती हैं। इन प्रभावों को सुधी पाठक तत् तत् छन्द के अध्ययन से समझ सकते हैं।

२. याजुषी — दैवी छन्द रश्मियों के पश्चात् इन छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इनके प्रभाव से पूर्वोत्पन्न सूक्ष्म रश्मियों में सूक्ष्म व निरन्तर गति व यजन क्रिया उत्पन्न होने लगती है। इसका संकेत 'यजुः' संज्ञक छन्द रश्मियों के प्रकरण में पाठक देख सकते हैं। इस समय आकाश तत्त्व (स्पेस) की उत्पत्ति होने लगती है। सम्पूर्ण पदार्थ निरन्तर हलचल करने लगता है। जब गायत्र्यादि विभिन्न छन्द याजुषी रूप में उत्पन्न होते हैं, उस समय उनके पूर्वोक्त प्रभावों के साथ-२ याजुषी रूप के ये प्रभाव भी उनमें प्रकट होने लगते हैं। दैवी छन्द रश्मियों की भाँति इन छन्द रश्मियों में भी एक-२ अक्षर की वृद्धि होकर गायत्र्यादि छन्द रश्मियाँ

क्रमशः प्रकट होती हैं, जिसे पाठक पूर्वोक्त तालिका से स्पष्ट समझ सकते हैं। एक अक्षर एक दैवी गायत्री छन्द रश्मि का रूप होने से इनमें दीप्ति व कमनीयता आदि गुणों में क्रमिक वृद्धि होती है, परन्तु छन्द की प्रकृति का प्रभाव भी यथावत् प्रकट होता है। एक ही प्रकार की छन्द रश्मियाँ समान अक्षर संख्या वाली होने पर भी अक्षरों की प्रकृति के भेद से पूर्वोक्तानुसार भिन्न-२ प्रभाव दर्शाती हैं। इसी कारण ८ अक्षर वाली रश्मि विन्यास (व्यवस्था) भेद से याजुषी अनुष्टुप् तथा प्राजापत्या गायत्री दोनों ही रूपों में प्रकट हो सकती है। इन दोनों ही रूपों का प्रभाव भिन्न-२ होता है। इसी प्रकार तालिका देखकर अन्य रूपों का भेद भी समझें।

३. प्राजापत्या — इन रश्मियों को समझने हेतु सर्वप्रथम हम 'प्रजापति' शब्द पर आर्ष मत को उद्धृत करते हैं—

प्रजापतिः यज्ञनाम (निघं.३.१७), प्रजापतिर्बन्धुः (तै.ब्रा.३.७.५.५),
प्रजापतिः, प्रजानां पाता पालयिता वा (निरु.१०.४२),
सोमो हि प्रजापतिः (श.ब्रा.५.१.५.२६), प्रजननं प्रजापतिः (श.ब्रा.५.१.३.१०)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि इन छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने पर विभिन्न रश्मियों के संयोग-बन्धन आदि की प्रक्रिया समृद्ध होकर नवीन रश्मियों के उत्पन्न होने की प्रक्रिया भी तीव्र होती है। ये रश्मियाँ विभिन्न रश्मियों की पालक होती हैं। ये रश्मियाँ लघु छन्द रूप में ही होने से सोम वा मरुत् कहलाती हैं, जो मन्द-२ गति से गमन करती हैं। अभी तक उष्णता की विशेष उत्पत्ति न हो पाने से पदार्थ लगभग ठण्डा ही रहता है, पुनरपि मन्द-२ दीप्ति अवश्य सर्वत्र व्याप्त होती है। इनकी विभिन्न छन्द रश्मियों में अक्षरों की संख्या पूर्वोक्त तालिका में द्रष्टव्य है। इनमें अक्षरों की संख्या प्रति छन्द ४-४ की मात्रा में बढ़ती जाती है। यह संख्या एक दैवी बृहती छन्द रश्मि के बराबर है। इससे संकेत मिलता है कि प्रत्येक प्राजापत्या छन्द रश्मि में एक दैवी बृहती छन्द रश्मि के मिलने से अग्रिम प्राजापत्या छन्द रश्मि उत्पन्न होती है। इसके कारण इन छन्द रश्मियों में दैवी बृहती रश्मि के गुण मिश्रित हो जाने से रश्मियों के बन्धन बल में क्रमशः वृद्धि होती है, किन्तु यहाँ गायत्री, उष्णिक् आदि छन्द प्रकृति के गुणों का प्रभाव भी यथावत् विद्यमान होता है। समान अक्षरों के होते हुए भी छन्द प्रकृति के भेद तथा उनके भिन्न-२ प्रभाव को पाठक पूर्ववत् समझें।

४. साम्नी — इन रश्मियों के स्वरूप व प्रभाव को समझने हेतु पूर्वोक्त साम रश्मियों के स्वरूप व प्रभाव को जानना आवश्यक है। विभिन्न विद्युत् चुम्बकीय तरंगों, कथित मीडियेटर पार्टिकल्स आदि की उत्पत्ति में इनकी भूमिका होती है। इनके प्रभाव से प्रकाश, ऊष्मा एवं विभिन्न प्रकार के बलों की समृद्धि होने लगती है। इस कारण ब्रह्माण्डस्थ पदार्थ में तीव्र हलचल होने लगती है। इनमें प्रत्येक छन्द रश्मि में अक्षरों की संख्या में क्रमशः २-२ अक्षरों की वृद्धि होती है। ये दो अक्षर एक दैवी उष्णिक् छन्द रश्मि के बराबर होते हैं। इससे दैवी उष्णिक् छन्द रश्मियों के प्रभाव की भी क्रमशः वृद्धि होने के साथ-२ सभी छन्द रश्मियाँ निज प्रकृति व प्रभाव को धारण किये होती हैं। विभिन्न अक्षरों के प्रभाव तथा समान अक्षरों के होने पर भी भिन्न-२ छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने को पूर्ववत् समझें। इस समय ब्रह्माण्ड में भेदन-छेदन की क्रियाएँ भी तीव्र होती हैं।

५. आसुरी — इन रश्मियों के प्रभाव से असुर तत्त्व (डार्क पदार्थ वा डार्क एनर्जी) की उत्पत्ति होती है किंवा ये रश्मियाँ स्वयं ही डार्क स्वरूप में विद्यमान होती हैं। इन रश्मियों में पारस्परिक आकर्षण अत्यल्प वा नगण्य होता है, जबकि प्रतिकर्षण वा प्रक्षेपक बल की इनमें प्रधानता होती है। इनमें मनस्तत्त्व एवं अपान प्राण की प्रधानता भी होती है। वाक् तत्त्व अर्थात् 'ओम्' रश्मि की इनमें विरलता होती है। इनमें अक्षरों की संख्या पूर्वोक्त तालिका में देखें। इनमें क्रमशः एक-२ अक्षर अर्थात् एक-२ दैवी गायत्री छन्द की न्यूनता होने से दीप्ति व आकर्षण बल में क्रमशः कमी होती चली जाती है। इस कारण ही उनका प्रतिकर्षण बल बढ़ता जाता है, किन्तु इसके साथ छन्द प्रकृति का प्रभाव भी यथावत् बना रहता है। असुर तत्त्व के विषय में आगे यथास्थान लिखा जाएगा। यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि १४ अक्षर वाली साम्नी उष्णिक् रश्मियाँ १४ अक्षर वाली आसुरी उष्णिक् रश्मियों से गुण व प्रभाव की दृष्टि से नितान्त भिन्न होती हैं। इसी प्रकार १२ अक्षर वाली साम्नी गायत्री, याजुषी जगती एवं प्राजापत्या उष्णिक् का प्रभाव आसुरी बृहती से सर्वथा भिन्न होता है। इसी प्रकार तालिका से अन्य छन्दों का भेद समझें।

६. आर्ची — इन छन्द रश्मियों के प्रभाव को समझने से पूर्व पूर्वोक्त 'ऋक्' नामक छन्द रश्मियों के विषय में अध्ययन करना अनिवार्य है। इन रश्मियों के प्रभाव वा उनकी प्रधानता में विभिन्न अप्रकाशित पदार्थों अर्थात् नाना मूलकणों व लोकों का निर्माण होने लगता है।

इस हेतु ये रश्मियाँ विभिन्न रश्मियों तथा तरंगाणुओं आदि के संघनन व भेदन की प्रक्रिया को तीव्र बनाती हैं। इनमें क्रमानुसार प्रत्येक छन्द में ३ अक्षरों की वृद्धि अर्थात् एक दैवी अनुष्टुप् की वृद्धि होती है। इससे सभी छन्द रश्मियाँ अधिक सक्रिय व प्रकाशित होने लगती हैं। समान अक्षर होते हुए छन्दभेद को पूर्ववत् समझें। तालिका से इनमें अक्षरों की संख्या को जानें। इनमें 'ओम्' व 'भूः' के साथ-२ प्राण नामक प्राण रश्मि की भी प्रधानता होती है।

७. आर्षी — इन छन्द रश्मियों को समझने हेतु 'ऋषि' शब्द पर विचार करना अनिवार्य है।

ऋषयः = प्राणादयः पञ्च देवदत्तधनञ्जयौ च (म.द.य.भा.१७.७९),
शब्दप्रापकः (म.द.य.भा.१३.५७), रूपप्रापकः (म.द.य.भा.१३.५६),
प्राणा वा ऋषयः (ऐ.ब्रा.२.२७), प्राणा ऋषयः (श.ब्रा.७.२.३.५),
ऋषिर्ह स्म मन्त्रकृत् (जै.ब्रा.२.२६६)

इन उपर्युक्त आर्ष वचनों से यह संकेत मिलता है कि प्राणादि रश्मियों से उत्पन्न छन्द रश्मियाँ आर्षी कहलाती हैं। इसके साथ ही अनेक अन्य प्राण रश्मियाँ, जो इस सृष्टि में नाना अति सूक्ष्म रश्मियों से उत्पन्न होती हैं, भी ऋषि कहलाती हैं। ये ऋषि रश्मियाँ अनेक प्रकार की मन्त्र रूप छन्द रश्मियों को उत्पन्न व धारण करती हैं। इन रश्मियों के उत्पन्न होने पर इस सृष्टि में अनेक प्रकार के रूप और आकृतिवान् पदार्थसमूह उत्पन्न होकर नाना प्रकार के घोष करने लगते हैं। इससे संकेत मिलता है कि जब ब्रह्माण्ड में कॉस्मिक मेघ एवं उनसे नाना लोकों के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है, उस समय आर्षी छन्द रश्मियों की प्रचुरता वा प्रधानता होती है। इससे यह भी स्पष्ट है कि इन छन्द रश्मियों का क्षेत्र अति व्यापक है तथा वेदों में इन्हीं की मात्रा सर्वाधिक है। इनमें भी विभिन्न छन्द रश्मियों में क्रमशः ४-४ अक्षर अर्थात् १-१ दैवी बृहती छन्द रश्मि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। समान अक्षर संख्या वाली छन्द रश्मियों में अक्षर विन्यास से छन्द की प्रकृति के भेद को पूर्ववत् समझें।

८. ब्राह्मी — सर्वप्रथम हम इन रश्मियों के विषय में आर्ष मत पर विचार करते हैं—

बलं वै ब्रह्म (तै.ब्रा.३.८.५.२),
ब्रह्म परिवृळहः श्रुततः ब्रह्म परिवृळहं सर्वतः (निरु.१.८),
ब्रह्म ब्रह्माऽभवत् स्वयम् (तै.ब्रा.३.१२.९.३), बृहद् बलम् (तु.म.द.ऋ.भा.२.२४.३)

इन वचनों से स्पष्ट होता है कि इन छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने पर विभिन्न छन्द रश्मियों का बल सतत विस्तृत होता चला जाता है। सभी रश्मियाँ इनके प्रभाव से सब ओर बढ़ती हुई चली जाती हैं। इस प्रकार की रश्मियों में ६-६ अक्षर अर्थात् एक दैवी त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की उत्तरोत्तर क्रमशः वृद्धि होती है। इनमें अन्य सभी पूर्वोक्त छन्द रश्मियों की अपेक्षा अक्षरों की संख्या सर्वाधिक होती है। इस समय ब्रह्माण्ड में पूर्वोक्त सभी छन्द रश्मियों के सभी कार्य समृद्ध होकर नाना लोकों के निर्माण की प्रक्रिया भी समृद्ध होती है। यहाँ भी अक्षरों की संख्या समान होने पर छन्दभेद का होना पूर्ववत् समझा जा सकता है।

इस प्रकार ये कुल आठ प्रकार के विभाग प्रत्येक गायत्र्यादि छन्दों के होते हैं। इस प्रकार यहाँ तक कुल छप्पन छन्द रश्मियाँ वर्णित हुईं। ध्यातव्य है कि वेदों में गायत्र्यादि सात छन्द रश्मियों के अतिरिक्त अष्टि, अत्यष्टि, शक्वरी एवं अतिशक्वरी आदि बड़ी छन्द रश्मियाँ भी वर्णित हैं, जो इस सृष्टि में उत्पन्न होती हैं। इनको इस ग्रन्थ में भी अनेकत्र वर्णित किया गया है। उन छन्द रश्मियों के भी दैवी आदि आठ प्रकार होते हैं। इस प्रकार छन्द रश्मियाँ ५६ से भी बहुत अधिक संख्या में होती हैं।

छन्दों के अन्य उपभेद

अब हम प्रत्येक प्रकार की छन्द रश्मि के अन्य कुछ भेदों की चर्चा करते हैं। उपर्युक्त प्रकार की छन्द रश्मियों के पुनः अक्षरभेद के कारण निम्न प्रकार से भेद होते हैं—

१. सामान्य छन्द— हमने यहाँ 'सामान्य' संज्ञा स्वयं की है। जिन छन्द रश्मियों में अक्षरों की संख्या पूर्वोक्तानुसार अर्थात् तालिका में वर्णितानुसार होती है, उन्हें हम सामान्य छन्द कह सकते हैं। उदाहरणस्वरूप— दैवी गायत्री, आर्षी त्रिष्टुप्, ब्राह्मी जगती, दैवी उष्णिक् आदि। इनमें पूर्वोक्त तालिका के अनुसार अक्षर संख्या क्रमशः १, ४४, ७२ एवं २ होती है। इन सबका प्रभाव हम छन्द प्रकरण में अब तक दर्शाते रहे हैं।

२. भुरिक् छन्द— 'भुरिक्' के विषय में ऋषियों का कथन है—

भरणाद् भुरिज उच्यते (दै.ब्रा.३.२१),
धारकपोषकः (तु.म.द.ऋ.भा.४.२.१४), भुरिजौ बाहुनाम (निघं.२.४)

इन वचनों से संकेत मिलता है कि इस प्रकार की छन्द रश्मियों की धारक व पोषक

क्षमता अन्य प्रकार की छन्द रश्मियों की अपेक्षा विशेष होती है। ये रश्मियाँ बाहुरूप होने से धारण, आकर्षण, वारण आदि गुणों को अपेक्षाकृत अधिक समृद्ध करने वाली होती हैं। ध्यातव्य है कि ये रश्मियाँ जिस-२ छन्द रूप में होती हैं, उन-उनके गुणों के साथ ही अपने गुणों से भी युक्त होती हैं। इस प्रकार की छन्द रश्मियों में उपर्युक्त सामान्य छन्द की अपेक्षा एक अक्षर अधिक होता है।

प्रश्न यह है कि जिन छन्द रश्मियों, विशेषकर आसुरी रश्मियों, में प्रायः आकर्षण बल नहीं होता, उनके भुरिक् रूप का प्रभाव क्या होगा? इसके उत्तर में हमारा मत यह है कि भुरिक् छन्द रश्मियाँ अपने आसुरी प्रभाव को ही अधिक पुष्ट रूप में दर्शाने वाली होंगी। ये बाहु रूप में धारक व आकर्षक न होकर प्रतिकर्षक व प्रक्षेपक गुणों से अपेक्षाकृत समृद्ध होंगी।

३. स्वराट् छन्द— जब किसी छन्द रश्मि में अक्षरों की संख्या सामान्य की अपेक्षा २ अधिक होती है, तब वह छन्द रश्मि स्वराट् का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार की छन्द रश्मियों में अपने गुणों को अन्य छन्द रश्मियों की अपेक्षा स्वयं प्रकाशित वा प्रकट करने का सामर्थ्य विशेष होता है। इसके साथ ही ये छन्द रश्मियाँ अन्यों की अपेक्षा 'स्वः' अर्थात् प्रकाश वा वैद्युत प्रभाव को उत्पन्न करने में विशेष समर्थ होती हैं, इस कारण भी ये स्वराट् कहलाती हैं।

४. विराट् छन्द— जब किसी छन्द रश्मि में सामान्य की अपेक्षा अक्षरों की संख्या २ कम होती है, तब वह छन्द रश्मि विराट् कहलाती है। इस विषय में ऋषियों का कथन है—

१. विराड् विराजनाद्वा। विराधनाद्वा। विप्रापणाद्वा। विराजनात्सम्पूर्णाक्षरा। विराधनादूनाक्षरा। विप्रापणादधिकाक्षरा (निरु.७.१३)
२. विराड् ढि छन्दसां ज्योतिः (तां.ब्रा.१०.२.२)
३. अन्नं वै विराट् (श.ब्रा.७.५.२.१९; ऐ.ब्रा.१.५)
४. विराड् वै यज्ञः (श.ब्रा.१.१.१.२२)
५. सर्वदेवत्यं वा एतच्छन्दो यद् विराट् (श.ब्रा.१३.४.१.१३)
६. एतद्वै कृत्स्नमन्नाद्यं यद् विराट् (कौ.ब्रा.१४.२)

इन वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. यह छन्द रश्मि विविध प्रकार से प्रकाशित होती है। इसके सभी अक्षर विविध प्रकार से प्रकाशित होने में समर्थ होते हैं। कभी-२ यह छन्द सामान्य से न्यून अक्षरों के साथ प्रकट व प्रकाशित होता है, तो कभी अधिक अक्षरों के रूप में भी उसी प्रभाव को दर्शाता है।
२. यह छन्द रश्मि अन्य सभी छन्द रश्मियों को अधिक ज्योतिर्मय बनाती है।
३. यह छन्द रश्मि अन्य छन्द रश्मियों के प्रति संयोजक गुणों से विशेष रूप से युक्त होती है।
४. इस उपर्युक्त कारण से इसकी यजनशीलता विशेष होती है।
५. इस छन्द रश्मि का प्रभाव सभी देव पदार्थों पर होता है। गायत्र्यादि सातों छन्द रश्मियों का एक-२ देवता से सम्बन्ध पूर्व में दर्शाया गया है, उसी सन्दर्भ में यहाँ इस छन्द रश्मि का सम्बन्ध सभी देवताओं से बतलाया है। इसका तात्पर्य है कि इसका प्रभाव क्षेत्र अति व्यापक होता है।
६. ये छन्द रश्मियाँ सम्पूर्ण रूप से अन्य छन्द रश्मियों के द्वारा संगमनीय व अवशोष्य होती हैं, जिससे ये उन छन्द रश्मियों को विविध प्रकार से प्रकाशित करती हैं।

५. निचृत् छन्द— 'निचृत्' शब्द 'नि' पूर्वक 'चृती हिंसाग्रन्थनयोः' धातु से निष्पन्न होता है। इससे संकेत मिलता है कि ये रश्मियाँ भेदक व बन्धक दोनों प्रकार के बलों से नितराम् अर्थात् पूर्णतया युक्त होती हैं। जब सामान्य छन्द रश्मि में से एक अक्षर न्यून हो जाता है, उस समय वह छन्द रश्मि निचृत् रूप धारण कर लेती है अर्थात् उस सामान्य छन्द रश्मि का प्रभाव अधिक तीक्ष्ण भेदक वा बन्धक हो जाता है।

इस प्रकार इस ब्रह्माण्ड में सैकड़ों प्रकार की छन्द रश्मियाँ विद्यमान रहती हैं। अक्षरों की संख्या व उनमें अक्षर-विन्यास के भेद से छन्द रश्मियों का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। समान अक्षर वाली रश्मियाँ केवल अक्षर-विन्यास के भेद से भिन्न-२ प्रकार के प्रभाव कैसे दर्शाती हैं, यह हम अनेकत्र स्पष्ट कर चुके हैं। हम मुख्य-२ छन्द रश्मियों का वर्णन कर चुके हैं, पुनरपि इनके अतिरिक्त अन्य अनेक छन्द रश्मियाँ इस ब्रह्माण्ड में और भी होती हैं, जिनमें से अनेकों का वर्णन 'वेदविज्ञान-आलोकः' और 'वेदार्थविज्ञानम्' ग्रन्थों में हुआ

है, जिसे विज्ञ पाठक इन ग्रन्थों में यथास्थान पढ़ सकते हैं।

यहाँ तक हम प्रकृति रूप मूल उपादान पदार्थ से ईश्वर तत्त्व द्वारा काल व महत्तत्व से लेकर प्राण व छन्दादि नाना सूक्ष्म रश्मियों की उत्पत्ति व स्वरूप के बारे में विस्तार से लिख चुके, अब अग्रिम पदार्थों की उत्पत्ति व स्वरूप पर विचार किया जायेगा। यहाँ हम पाठकों को इतना अवश्य अवगत करवाना चाहते हैं कि यहाँ तक वर्णित की गई सृष्टि प्रक्रिया आधुनिक सृष्टि विज्ञान की प्रक्रिया के प्रारम्भ से पूर्व की प्रक्रिया है। हमारी वैदिक प्रक्रिया में वर्णित बृहद् छन्द रश्मियों की तुलना वर्तमान काल के स्ट्रिंग थ्योरिस्ट कुछ सीमा तक अपनी स्ट्रिंग्स से कर सकते हैं। अधिकांश सृष्टि विज्ञानी मूल उपादान पदार्थ के विषय में नितान्त अनभिज्ञ हैं। वे काल व आकाश की चर्चा बहुत करते हैं, लेकिन उनके स्वरूप वा उत्पत्ति विज्ञान के विषय में वे नितान्त अनभिज्ञ हैं। मूलकणों व तरंगाणुओं की उत्पत्ति व संरचना भी अभी तक वर्तमान विज्ञान को अज्ञात है। वे स्ट्रिंग थ्योरी में इस विषय की कुछ चर्चा अवश्य करते हैं।

पञ्चमहाभूत प्रकरण

१. आकाश (स्पेस)

इन रश्मियों के उत्पत्ति काल में ही आकाश की उत्पत्ति होती है। 'आकाश' पद दो रूपों में प्रयुक्त होता है। प्रथम रूप यह कि एकरस मूल प्रकृति पदार्थ में प्रारम्भिक संकुचन वा संघनन की क्रिया आरम्भ होने पर अवकाश रूप (एम्पटिनेस) स्थान ही आकाश कहलाता है। इस प्रकार के आकाश के विषय में ऋषि दयानन्द अपने सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में तैत्तिरीय उपनिषद् के एक वचन— 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः...' की व्याख्या में लिखते हैं—

''उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैल रहा था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश सा उत्पन्न हो जाता है। वास्तव में आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि बिना आकाश के प्रकृति और परमाणु कहाँ ठहर सकें?''

(स.प्र. पृ.२२०)

अवकाश रूप आकाश अभाव वा शून्यरूप है, इसकी उत्पत्ति व इसका विनाश व्यवहार

में ही प्रयुक्त होता है। उधर द्वितीय आकाश के विषय में वेद का संकेत है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् (ऋ.१०.१२९.१)

इसका भाष्य करते हुए ऋषि दयानन्द अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के 'सृष्टिविद्याविषय' नामक अध्याय में लिखते हैं—

"(नासदासी.) यदा कार्यं जगन्नोत्पन्नमासीत् तदाऽसत् सृष्टेः प्राक् शून्यमाकाशमपि नासीत्। कुतः? तद्व्यवहारस्य वर्तमानाभावात्। (नो सदासीत्तदानीं) तस्मिन् काले सत् प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं सत्संज्ञकं यज्जगत्कारणं, तदपि नो आसीन्नावर्तत।

(नासीद्र.) परमाणवोऽपि नासन्। (नो व्योमापरो यत्) व्योमाकाशम् अपरं यस्मिन् विराडाख्ये, सोऽपि नो आसीत्। किन्तु परब्रह्मणः सामर्थ्याख्यमतीव सूक्ष्मं सर्वस्यास्य परमकारणसंज्ञकमेव तदानीं समवर्त्तत।"

(ऋग्वेद भाष्य —आर्य समाज शताब्दी संस्करण,
प्रथमो भागः पृ.१३४-३५, रा.ला.क.ट्र. बहालगढ़)

यहाँ ऋषि दयानन्द दो प्रकार के आकाश का संकेत करते हैं। प्रथम आकाश तो अवकाश रूप है तथा अपर व्योम नाम से द्वितीय आकाश का संकेत है। इस पर टिप्पणी करते हुए पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक लिखते हैं—

"पूर्वत्र 'असद्' पद व्याख्याने 'शून्यमाकाशमपि नासीत्' इत्युक्तमिहापि 'व्योमाकाशम-परम्' इत्युक्तम्। उभयत्राकाशाभावस्योक्तत्त्वात् पुनरुक्तिदोषपरिहाराय पूर्वत्र शून्यमाकाश-मित्यत्र आकाश पदमवकाशपरम्, इह चाकाशं भूतपरं व्याख्येयम्।"

इससे पंचमहाभूत रूप आकाश एक तत्त्व सिद्ध होता है। हम इसी आकाश तत्त्व की उत्पत्ति प्रक्रिया व स्वरूप को दर्शाएँगे।

आकाश की उत्पत्ति — इस विषय में महर्षि ब्रह्मा का कथन है—

अहंकारात् प्रसूतानि महाभूतानि पञ्च वै।
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्॥ १॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि सर्वे विविधमिन्द्रियम्।

आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते॥ १८॥
(महाभारत आश्वमेधिक पर्व, अनुगीता पर्व, अध्याय-४२)

अर्थात् अहंकार[8] से ही पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं, जिनमें से आकाश महाभूत की उत्पत्ति सर्वप्रथम होती है। इसी समय श्रोत्र-इन्द्रिय की भी उत्पत्ति होती है।

उधर इस विषय में महर्षि भृगु ने महर्षि भरद्वाज से कहा है—

पुरा स्तिमितमाकाशमनन्तमचलोपमम्।
नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव सम्बभौ॥ ९॥

ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः।
तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः॥ १०॥
(महाभारत शा.प., मोक्षधर्म पर्व, अध्याय-१८३)

अर्थात् सम्पूर्ण अहंकार (मनस्तत्त्व) पदार्थ स्थिर, अनन्त, अवकाशरूप तमोमय आकाश के समान तथा उसी में विद्यमान था। उस समय चन्द्र, सूर्य, वायु आदि सभी पदार्थ नष्ट अर्थात् अपने कारण रूप उस अचल, अनन्त पदार्थ के भीतर सो रहे थे अर्थात् उसी में लीन थे।

सलिलम् = आपो ह वाऽइदमग्रे सलिलमेवास (श.ब्रा.११.१.६.१),
अन्तरिक्षम् (म.द.ऋ.भा.७.४९.१),
आपः = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३)

उस अहंकार वा मनस्तत्त्व से सलिल अर्थात् सबको अपने अन्दर व्याप्त वा लीन करने वाला आकाश नामक महाभूत उत्पन्न हुआ। वह आकाश ऐसा प्रतीत होता था, मानो एक अन्धकार में उसी से दूसरा अन्धकार उत्पन्न हुआ। उस आकाश तत्त्व के उत्पीडन अर्थात् सम्पीडन से वायु महाभूत की उत्पत्ति हुई।

यहाँ अहंकार वा मनस्तत्त्व से आकाश तत्त्व की उत्पत्ति की चर्चा है। वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक आकाश तत्त्व (स्पेस) के विषय में नितान्त भ्रम वा संशय में हैं। वे स्पेस को त्रिविमीय (थ्री डायमेंशनल) मानते हैं, परन्तु स्पेस का स्वरूप क्या है? क्या एम्पटिनेस ही

[8] जिसे हम इस ग्रन्थ में अनेकत्र मनस्तत्त्व के समकक्ष ही वर्णित कर चुके हैं।

स्पेस है अथवा स्पेस कोई पदार्थ है, यह उनकी समझ में नहीं आ रहा। वे गुरुत्वाकर्षण बल अथवा विद्युत् चुम्बकीय बल के द्वारा स्पेस का वक्र (कर्व) वा डिस्टॉर्ट होना मानते हैं, परन्तु उसे किसी प्रकार का पदार्थ विशेष कहने से बचते हैं। जब आकाश कोई पदार्थ ही नहीं है, तो बलों के कारण डिस्टॉर्शन अथवा कर्वेचर किसमें होगा? आश्चर्य की बात है कि वर्तमान में विकसित माना जाने वाला भौतिक विज्ञान गुरुत्वाकर्षण बल को स्पेस कर्वेचर के रूप में ही मानता व जानता है, परन्तु स्पेस क्या है, यह वह नहीं जानता। इधर वैदिक विज्ञान आकाश तत्त्व के विषय में व्यापक तथ्य प्रस्तुत करता है। हम उन्हीं तथ्यों के आधार पर आकाश तत्त्व पर व्यापक विचार करते हैं—

वैदिक वाङ्मय में आकाश व अन्तरिक्ष को समानार्थक माना है। इसी कारण निघं.१.३ में 'आकाश' शब्द को अन्तरिक्ष नामों में पढ़ा गया है। अब हम आकाश वा अन्तरिक्ष के विषय में विभिन्न ऋषियों का मत प्रस्तुत करते हैं—

१. आवपनमाकाश आकाशे हीदं सर्वं समोप्यते (ऐ.आ.२.३.१)
२. स इमान् प्राणानाकाशानभिनिर्मन्थति (जै.ब्रा.२.१८)
३. अन्तरिक्षमेव विश्वं वायुर्नरः (श.ब्रा.९.३.१.३)
४. अन्तरिक्षं मरीचयः (ऐ.आ.२.४.१; ऐ.उ.१.१.२)
५. अन्तरिक्षेण हीमे द्यावापृथिवी विष्टब्धे (श.ब्रा.१.२.१.१६)
६. अयं मध्यमो (लोकः = अन्तरिक्षम्) बृहती (तां.ब्रा.७.३.९)
७. असदिव वा अन्तरिक्षम् (तै.सं.५.४.६.४)
८. आत्मा ऽअन्तरिक्षम् (काठ.सं.१६.२)
९. छिद्रमिवान्तरिक्षम् (तां.ब्रा.३.१०.२; २१.७.३)
१०. त्रैष्टुभम् अन्तरिक्षम् (तै.सं.५.२.१.१; श.ब्रा.८.३.४.११)
११. पशवोऽन्तरिक्षम् (काठ.सं.६.८; ७.७; क.सं.३१.१३)
१२. प्राणो वा अन्तरिक्षम् (तै.सं.५.६.८.५; जै.ब्रा.१.३०७)
१३. भुव इत्यन्तरिक्षम् (तै.आ.७.५.१; तै.उ.१.५.१)
१४. वागित्यन्तरिक्षम् (जै.उ.४.११.१.११)
१५. अन्तरिक्षं वै यजुषामायतनम् (गो.पू.२.२४)

इन वचनों से आकाश तत्त्व (स्पेस) का स्वरूप सार रूप में निम्नानुसार प्रकाशित होता है—

१. आकाश वह पदार्थ है, जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि का बीज वपन किया जाता है अर्थात् सभी प्रकार के कण व तरंगाणु आकाश तत्त्व में ही उत्पन्न होते व उसी में निवास करते हैं।
२. आकाश प्राण रश्मियों के रूप में ही विद्यमान होता है, जिसके मन्थन से अग्रिम सृष्टि उत्पन्न होती है।
३. वायु अर्थात् विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियों का मिश्रण आकाश तत्त्व का नायक होता है अर्थात् ये वायु रश्मियाँ आकाश तत्त्व को कर्व वा डिस्टॉर्ट करने की क्षमता रखती हैं।
४. आकाश स्वयं रश्मि रूप है, ये रश्मियाँ अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं।
५. आकाश तत्त्व विभिन्न कणों वा तरंगाणुओं को थामने में सहायक होता है।
६. इसमें बृहती छन्द रश्मियाँ प्रचुर मात्रा में विद्यमान होती हैं।
७. यह इतना सूक्ष्म होता है कि इसका स्वरूप अभाव वा रिक्तता (एम्पटिनेस) जैसा प्रतीत होता है।
८. इसमें सूत्रात्मा वायु रश्मियों की प्रचुरता होती है तथा यह सभी पदार्थों में व्याप्त रहता है।
९. यह छिद्र के समान अर्थात् खोखलेपन के समान व्यवहार करता है।
१०. इसमें त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रचुरता होती है।
११. इसमें विभिन्न मरुद् व छन्द रश्मियाँ विद्यमान होती हैं।
१२. यह प्राण स्वरूप ही होता है, जो सबको गतिशील रहने हेतु अवकाश व मार्ग प्रदान करता है।
१३. इसकी उत्पत्ति 'भुवः' नामक मूल छन्द रश्मियों से होती है किंवा ये छन्द रश्मियाँ इसकी बीजरूप हैं।
१४. इसमें वाक् अर्थात् 'ओम्' छन्द रश्मियाँ प्रचुरता से विद्यमान होती हैं।
१५. पूर्वोक्त 'यजुः' संज्ञक छन्द रश्मियाँ आकाश तत्त्व में सर्वत्र व्याप्त रहती हैं, जिनके कारण ही विभिन्न पदार्थ आकाश तत्त्व में निर्बाध गति करने में समर्थ होते हैं।

महर्षि गोतम ने अपने न्याय दर्शन में आकाश का धर्म बताते हुए लिखा है—

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि (न्या.द.२.४.२२)

अर्थात् यह विभिन्न पदार्थों को विशेष रूप से चिह्नित न करने वाला, विशेष अवरोधन न करके सबको मार्ग प्रदान करने वाला तथा सबमें व्याप्त रहने वाला है।

उधर महर्षि कणाद ने आकाश का मुख्य लक्षण इस प्रकार बताया है—

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् (वै.द.२.१.२०)

अर्थात् जिसमें से विभिन्न पदार्थों का प्रवेश करना वा निकलना होता है, वह आकाश कहलाता है।

अब हम ऐतरेय ब्राह्मण के आधार पर आकाश तत्त्व पर विचार करते हैं। इस ग्रन्थ के व्याख्यान 'वेदविज्ञान-आलोकः' में हमने अनेकत्र आकाश तत्त्व की चर्चा की है। हम यहाँ उसी ग्रन्थ से उन कुछ बिन्दुओं को उद्धृत करते हैं, जिनसे आकाश तत्त्व की उत्पत्ति व स्वरूप का गम्भीर विज्ञान प्रकट होता है—

१. 'प्र वो देवायाग्नये...' (ऋ.३.१३.१) आर्षी भुरिगुष्णिक् छन्द रश्मि में विद्यमान प्राण नामक प्राण रश्मियों से आकाश तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इस छन्द रश्मि के प्रभाव से विभिन्न रश्मि आदि पदार्थों के मध्य आकाश तत्त्व विस्तृत होता जाता है, जिसके कारण विभिन्न रश्मियों की गति और सक्रियता बढ़ती जाती है। ये रश्मियाँ भी उस आकाश तत्त्व में व्याप्त होती जाती हैं।

२. सबका धारक आकाश तत्त्व दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मि रूप ही होता है। ...उसकी उत्पत्ति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में अकस्मात् एक साथ नहीं होती, बल्कि स्थान-२ में समय-२ पर होती है, पुनरपि इसकी उत्पत्ति की प्रक्रिया अत्यन्त तीव्र व व्यापक होती है।

३. प्राण, अपान एवं उदान रश्मियों की एक हजार बार आवृत्ति तथा विभिन्न प्राणों के संगम से अन्य छन्द रश्मियाँ आकाश तत्त्व के रूप में प्रकट होती हैं। ...यह आकाश तत्त्व प्राण तत्त्वों से मिश्रित विभिन्न छन्द रश्मियों, विशेषकर पंक्ति रश्मियों का रूप है।

४. आकाश तत्त्व सर्वथा तेजहीन नहीं होता।

५. आकाश तत्त्व इनके (प्राण तथा वाक् रश्मियों के) मेल से प्रकट होता और इनके द्वारा व्याप्त होता है।

६. सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ आकाश तत्त्व को नियन्त्रित करती हैं।

७. सूक्ष्म मरुद् रश्मियाँ जब निष्कम्प होकर संघात के रूप में प्रकट होती हैं, तब वे ही आकाश तत्त्व (स्पेस) का रूप धारण करती हैं। ध्यातव्य है कि मरुद् रश्मियाँ पूर्ण निष्कम्प कभी नहीं होती।

८. २४ स्तोम नामक विशेष छन्द रश्मियों की भी आकाश तत्त्व की उत्पत्ति में भूमिका होती है।

९. आकाश तत्त्व सूक्ष्म प्राण और मरुद् रश्मियों का मिश्र रूप होता है। इसमें भी त्रिष्टुप् और बृहती छन्द रश्मियाँ प्रचुरता से विद्यमान होती हैं। ...आकाश में विद्यमान प्राण रश्मियाँ अत्यन्त शिथिलावस्था में चक्रीय गति से भ्रमण करती रहती हैं। इनमें पारस्परिक बन्धन अति न्यून होता है। इस कारण आकाश तत्त्व में विभिन्न कण वा विकिरण स्वच्छन्द और निरापद रूप से गति करते रहते हैं। आकाश तत्त्व की रश्मियाँ विभिन्न कणों के संयोग-वियोग में अति सूक्ष्म स्तर पर उन कणों को स्पर्श वा सिंचित करती रहती हैं, परन्तु उनका स्वयं का आकर्षणादि बल नगण्य जैसा होता है।

इन उपर्युक्त नौ बिन्दुओं पर विचार करने से आकाश तत्त्व का स्वरूप निम्नानुसार प्रकाशित होता है—

सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत जब 'ओम्', 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' के अतिरिक्त अन्य दैवी छन्द रश्मियाँ एवं सूत्रात्मा वायु सहित प्राणापानादि प्राण रश्मियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उस समय उनमें से कुछ रश्मियों के संघात से एक सूक्ष्म व प्रायः एकरसवत् पदार्थ की उत्पत्ति होती है। इस पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व प्राण, अपान एवं उदान की एक सहस्र बार आवृत्ति हो चुकी होती है। तब दैवी अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति व त्रिष्टुप् भी उत्पन्न हो चुकी होती हैं। ये चारों छन्द रश्मियाँ परस्पर इस प्रकार मिश्रित होती हैं कि दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के समान प्रभाव दर्शाती हैं। विभिन्न प्राण, अपान आदि रश्मियाँ विभिन्न दैवी छन्द रश्मियों से मिश्रित होकर ऐसी दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को प्रकट करती हैं, जो प्रायः निष्कम्प होती हैं। ये रश्मियाँ निज स्थान पर ही स्पन्दित होती रहती हैं, न कि मनस्तत्त्व में सर्वत्र गमन करती हैं। आकाश तत्त्व की अवयवभूत प्राण व मरुद् रश्मियाँ शिथिलावस्था में पारस्परिक संघात के रूप में विद्यमान होती हैं। इस संघात में विद्यमान वे रश्मियाँ चक्राकार घूर्णन भी

करती रहती हैं अर्थात् उनमें रेखीय गति नहीं होती, परन्तु घूर्णन गति अति मन्द वेग से होती रहती है। इनमें अव्यक्त दीप्ति भी विद्यमान रहती है।

ये रश्मियाँ आकाश रश्मियों के रूप में जानी जाती हैं। ये रश्मियाँ इस अवस्था में ऐसी शिथिल होती हैं कि विभिन्न बृहद् छन्द रश्मियाँ, कण वा तरंगाणु सरलता से इनके बीच स्वच्छन्द गति कर सकते हैं। गति करते हुए कण, तरंगाणु वा रश्मियाँ जब आकाश तत्त्व (स्पेस) के बीच से गुजरते हैं, तब वे चक्रण करती हुई पूर्वोक्त शिथिल आकाश रश्मियों (प्राण व मरुत्) के बीच सरलता से फिसलते हुए गति करते हैं। इतने पर भी ये शिथिल रश्मियाँ सदैव सूत्रात्मा वायु रश्मियों के द्वारा नियन्त्रित रहती हैं। इसी कारण जब आकाश तत्त्व किसी बल के द्वारा संकुचित वा डिस्टॉर्ट होता है, तब सूत्रात्मा वायु रश्मियों द्वारा आकाश रश्मियों की घूर्णन गति प्रभावित होने के कारण ही होता है। विभिन्न मरुद् व प्राण रश्मियाँ भी सूत्रात्मा वा धनञ्जय वायु रश्मियों के सानिध्य में आकाश तत्त्व को डिस्टॉर्ट वा कर्व करने में समर्थ होती हैं। उपरिनिर्दिष्ट आर्षी भुरिगुष्णिक् अथवा २४ स्तोम रश्मियों के उत्पन्न होने पर आकाश का निर्माण तेजी से होता है।

कुछ तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने एक अति महत्त्वपूर्ण बात कही—

अन्तरिक्षं वा अन्तर्यामः (ग्रहः) (मै.सं.४.५.६; ४.७.१; काठ.सं.२७.२; क.सं.४२.२)

यहाँ अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश तत्त्व को अन्तर्याम नामक बल कहा गया है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में अन्तर्याम बल को इस प्रकार व्याख्यात किया गया है—

"उदान वा अपान का संयुक्त बल अन्तर्याम कहलाता है। इनमें से उदान प्राण ऊपर और अपान प्राण नीचे संयुक्त होकर किसी पदार्थ के मध्य में संचरित होते रहते हैं। विभिन्न सूक्ष्म मरुद् रश्मियाँ भी इसी क्षेत्र में संचरित होती हैं। इन सबका संयुक्त बल अन्तर्याम कहलाता है।"

इससे स्पष्ट है कि किसी भी कण वा क्वाण्टा के भीतर भी स्पेस का अंश विद्यमान रहकर उन्हें धारण किये रहता है। आचार्य सुश्रुत ने आकाश को सतोगुण प्रधान बताते हुए कहा है—

सत्त्वबहुलमाकाशम् (सु.सं. शारीरस्थानम् १.२७)।

इस कारण यह तत्त्व सूक्ष्म व अव्यक्त प्रकाशयुक्त, सबसे हल्का अर्थात् नगण्य द्रव्यमान वाला होता है। ध्यातव्य है कि इस तत्त्व की उत्पत्ति के साथ प्राणियों में विद्यमान श्रोत्र इन्द्रिय की भी सूक्ष्म रश्मि के रूप में उत्पत्ति होती है।

काल व आकाश का सम्बन्ध

प्रश्न— महर्षि कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन २.१.२७ में शब्द को आकाश का गुण बतलाते हुए कहा है— परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य। उधर व्याकरण महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने 'आकाशदेश: शब्द:' (महा.अ.१, पा.१, सू. अइउण्, आ.२) कहकर शब्द को आकाश में रहने वाला बताया है। इस ऐसे आकाश से आपके द्वारा दर्शाए उपर्युक्त आकाश तत्त्व का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर— ऋषियों के उपर्युक्त दोनों विचार हमारे द्वारा वर्णित उपर्युक्त आकाश तत्त्व का ही संकेत करते हैं। वस्तुत: हमारा अपना कोई विज्ञान नहीं है, बल्कि ऋषियों के ग्रन्थों का जो भाव हमने ग्रहण किया है, वही हमने दर्शाया है। हमारा वैदिक विज्ञान इस बात को दर्शाता है कि इस सृष्टि की उत्पत्ति विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों के नाना प्रकार के मेल से ही हुई है। सभी पञ्चमहाभूत पृथिवी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश इन्हीं से बने हैं तथा प्राण व छन्द दोनों ही प्रकार की रश्मियाँ वस्तुत: एक ही हैं। ये सभी मूलत: छन्द रश्मियों का ही रूप हैं। उधर सभी छन्द रश्मियाँ एक प्रकार की शब्द रश्मियाँ ही हैं। शब्द (वाणी) के चार भेद हम पूर्व में बतला चुके हैं। पृथिवी, जल, अग्नि एवं वायु इन चार महाभूतों के तो गन्ध, रस आदि गुण हैं, परन्तु आकाश का इनमें से कोई गुण न होने से मात्र शब्द को आकाश का गुण माना गया है और इसे आकाश में रहने वाला माना गया है। यद्यपि शब्द अन्य महाभूतों का भी गुण होता है तथा यह उन महाभूतों में भी विद्यमान होता है, परन्तु वहाँ इसकी विद्यमानता आकाश तत्त्व की विद्यमानता के कारण ही होती है, आकाश के अभाव में नहीं। इस कारण सभी महर्षि भगवन्तों का मत परस्पर समन्वित एवं एक-दूसरे का पूरक एवं प्रतिपादक ही जानना चाहिए। कहीं विरोध का कोई स्थान नहीं है।

प्रश्न— महर्षि कणाद एवं महर्षि कपिल ने आकाश के साथ-२ दिक् एवं काल का भी ग्रहण द्रव्यों में किया है। आपने काल के विषय में तो लिखा, परन्तु काल का आकाश के

साथ कोई सम्बन्ध नहीं दर्शाया। आधुनिक भौतिकशास्त्री काल को आकाश के साथ अति निकटता से जोड़ते हैं। इस विषय में आपका क्या मत है ? इसके साथ ही दिशा किसे कहते हैं ? क्या यह भी कोई पदार्थ है अथवा केवल व्यवहारार्थ ही इसका उपयोग है ?

उत्तर— हम यह बात पूर्व में दर्शा चुके हैं कि रिक्तस्थान रूपी आकाश, महाभूत आकाश से पृथक् है। महाभूत आकाश अन्य महाभूतों के प्रवेश व निष्क्रमण का स्थान व आधार है। वर्तमान भौतिकी पंच महाभूतों से सूक्ष्म किसी पदार्थ के विषय में विचार नहीं कर सकती। इस कारण उनकी दृष्टि में आकाश महाभूत (स्पेस) से सूक्ष्म एवं निरवयव कोई भी पदार्थ इस सृष्टि में नहीं है। इसी में कोई कण वा तरंग गति करती है और उस गति में कुछ न कुछ काल व्यतीत होता है। इस कारण वे स्पेस एवं टाइम को साथ-२ लेते हैं। आधुनिक भौतिकी इन दोनों ही पदार्थों के स्वरूप के विषय में मौन है। वैदिक विज्ञान की दृष्टि से ये दोनों ही जड़ पदार्थ हैं, जिनके बारे में हम पूर्व में चर्चा कर चुके हैं। हमारी दृष्टि में काल तत्त्व आकाश की अपेक्षा अति सूक्ष्म है। काल सर्वत्र समान अर्थात् एकरस भरा हुआ प्राणादि सूक्ष्म रश्मियों को प्रेरित करके इनके माध्यम से बड़े-२ लोक-लोकान्तरों तक को सतत प्रेरित करता रहता है।

उधर महाभूत आकाश तत्त्व काल द्वारा प्रेरित सभी कणों, तरंगों एवं लोकों को गति=क्रिया हेतु मार्ग प्रदान करता है। अगर उस काल की चर्चा करें, जो प्रलयकाल में भी बना रहता है अर्थात् निरपेक्ष काल=अव्यक्ततम काल, तो उसका सम्बन्ध अवकाश रूप आकाश से प्रत्यक्ष रहता है अर्थात् जहाँ भी निरपेक्ष काल है, वहाँ अवकाश रूप आकाश होगा ही और जहाँ अवकाश रूप आकाश विद्यमान है, वहाँ निरपेक्ष काल भी विद्यमान होगा ही। इस प्रकार की तुलना हम प्रचलित वा सक्रिय काल एवं महाभूत आकाश से नहीं कर सकते। महाभूतों के संसार में तो यह उचित भी माना जा सकता है, परन्तु महाभूत के कारण रूप प्राणादि पदार्थों के लिए काल व आकाश के सम्बन्ध का कोई औचित्य नहीं है, क्योंकि उस समय सर्वप्रेरक काल तो विद्यमान होता है, परन्तु आकाश महाभूत उत्पन्न ही नहीं हुआ होता है।

वर्तमान विज्ञान स्पेस-टाइम के वक्र होने की चर्चा करता है, उस विषय में हमारा मत है कि स्पेस (आकाश महाभूत) का वक्र होना सम्भव है, परन्तु काल सदैव एकरस रहता

है। उसमें कर्वेचर या फ्लक्चुएशन का होना भ्रम है। किसी कण, तरंग वा लोक की गति का परिस्थिति विशेष में न्यून वा अधिक होना स्पेस की वक्रता दर्शा सकता है, परन्तु टाइम की वक्रता को नहीं। गति के न्यूनाधिक होने का सम्बन्ध उस समय स्पेस में फील्ड्स का विद्यमान होना है, परन्तु टाइम का किसी फील्ड से कोई सम्बन्ध नहीं है। टाइम सबको समान रूप से सतत प्रेरित करता रहता है। किसी गति में ह्रास वा वृद्धि किसी बल पर निर्भर करती है, काल पर नहीं। वही बल स्पेस को वक्र वा फ्लेट करता वा रखता है।

अब प्रश्न यह रहा कि फिर महर्षि कणाद व महर्षि कपिल ने इनका पारस्परिक सम्बन्ध कैसे दर्शाया है? इसका उत्तर पञ्चभूतों के स्तर पर हम दे चुके हैं। इन ऋषियों का आशय काल को वक्र व सम (फ्लेट) बतलाना कदापि नहीं है, इस कारण हम वर्तमान विज्ञान की धारणा से इन महर्षियों की धारणा की तुलना नहीं कर सकते। हमें काल की गति तीव्र वा अधिक प्रतीत हो सकती है, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। किसी कार में बैठे यात्री को वृक्ष पीछे की ओर चलते प्रतीत होते हैं, परन्तु यह प्रतीति भ्रान्ति मात्र है, इसी प्रकार काल के विषय में समझें।

अब हम दिक्-तत्त्व, जो आकाश के अन्तर्गत ही समाहित है, की चर्चा करते हैं।

दिक्तत्त्व मीमांसा

सर्वप्रथम हम इस विषय में कुछ आर्ष वचनों को उद्धृत करते हैं—

१. अथ यत्तच्छ्रोत्रमासीत्ता इमा दिशो ऽभवन् (जै.उ.२.१.२.४)
२. आनुष्टुभीर्दिशः (तै.सं.५.२.१.१)
३. एतद्देवत्या (वायुदेवत्याः) वा इमा दिशः (मै.सं.२.३.५)
४. दश दिशः (श.ब्रा.६.३.१.२१; ८.४.२.१३)
५. दिशः परिधयः (ऐ.ब्रा.५.२८; काठ.सं.६.६)
६. दिशः पादाः (तै.सं.७.५.२५.१)
७. दिशः सप्तहोत्राः (श.ब्रा.७.४.१.२०)
८. दिशो वै परिभूश्छन्दः (श.ब्रा.८.५.२.३), छन्दांसि वै दिशः (श.ब्रा.८.३.१.१२)
९. दिशो हरितः (ऐ.आ.२.१.१)

इन आर्ष वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. श्रोत्र ही दिशाएँ हुईं। श्रोत्र के विषय में भी महर्षि जैमिनी का कथन है— वागिति श्रोत्रम् (जै.उ.४.२२.११)। इससे स्पष्ट है कि विभिन्न वाग् अर्थात् छन्द रश्मियाँ ही दिक् तत्त्व का रूप धारण करती हैं। हम आकाश तत्त्व को भी छन्द रूप लिख चुके हैं।
२. छन्द रश्मियों में भी अनुष्टुप् छन्द रश्मियों को दिग्रूप कहा गया है अर्थात् इनमें अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। हमने आकाश महाभूत के विषय में लिखा था कि इसमें दैवी अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ प्रचुरता से विद्यमान होती हैं। इस प्रकार इसकी आकाश तत्त्व से समानता है।
३. इस तत्त्व में प्राथमिक प्राण रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, यह भी आकाश महाभूत से समानता है।
४. दिशाएँ दश होती हैं— चार दिशा, चार अवान्तर दिशा तथा ऊर्ध्व व ध्रुव दिशा।
५. छन्द वा प्राण रूप दिक् तत्त्व विभिन्न कण, तरंग वा लोकों को परिधि रूप में ढके रहता है।
६. यह तत्त्व विभिन्न पदार्थों के पाद रूप बनकर उन्हें घूर्णन गति प्रदान करने में सहायक होने के साथ-२ अन्य क्रियाओं में भी अपनी समुचित भूमिका निभाता है।
७. इस तत्त्व में सप्तहोतृरूप प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, सूत्रात्मा वायु व धनञ्जय रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। इनमें भी सूत्रात्मा वायु प्रधानता से परिधि का निर्माण करता है।
८. किसी भी पदार्थ में ऊपर विद्यमान अर्थात् आवरक छन्द रश्मियाँ ही दिक् तत्त्व का रूप होती हैं।
९. दिग् रूप रश्मियाँ विभिन्न कणों वा लोकों को अन्य कणों वा लोकों से उत्सर्जित रश्मियों का हरण करके उन्हें परस्पर बाँधने में सहायक होती हैं।

वस्तुतः दिक् तत्त्व आकाश तत्त्व का वह भाग है, जो किसी कण वा लोक आदि पदार्थ को सब ओर से आवृत्त किये रहता है तथा उस पदार्थ की घूर्णन, संयोजन आदि क्रियाओं को नियन्त्रित करता है। सभी दश दिशाओं की पृथक्-२ भूमिका होती है। अब हम अपने ऐतरेय व्याख्यान 'वेदविज्ञान-आलोकः' से घूर्णनादि क्रियाओं से सम्बन्धित कुछ बिन्दु उद्धृत करते हैं—

१. गायत्री छन्द रश्मियों के तीन आवरण से मिश्रित आकाश तत्त्व के कारण सभी कण अपने अक्ष पर घूर्णन करने में समर्थ होते हैं। गायत्री छन्द के विषय में एक ऋषि का कथन है— 'गायत्री वै सा यानुष्टुप्' (कौ.ब्रा.१०.५)। इससे गायत्री की अनुष्टुप् से समता सिद्ध होकर यहाँ गायत्री रश्मियाँ दिक् तत्त्व के रूप में व्यवहार करती हुई सिद्ध होती हैं।
२. विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र के द्वारा ही तरंगाणु चक्राकार घूमते एवं नियन्त्रित होते हैं। ध्यातव्य है कि विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र प्राणापानादि रश्मियों के द्वारा ही निर्मित होता है। इस कारण यहाँ भी विद्युत् चुम्बकीय क्षेत्र का दिक् तत्त्व के साथ सम्बन्ध सिद्ध होता है।
३. धनञ्जय और सूत्रात्मा वायु आदि रश्मियाँ आकाश तत्त्व के साथ मिलकर विभिन्न कणों व लोकों को घूर्णन एवं परिक्रमण गतियाँ प्रदान करने में सहयोग करती हैं। इन रश्मियों का दिक् तत्त्व के साथ सम्बन्ध स्वयं सिद्ध है।
४. तारे के घूर्णन कर्म में विद्युत्, गुरुत्व बल एवं व्यान रश्मियों की भी भूमिका होती है। इन बलों की रश्मियाँ प्राण रश्मियों का रूप होने से दिक् तत्त्व से सम्बन्ध सिद्ध है।
५. विभिन्न कणों की घूर्णनादि क्रियाओं में सूत्रात्मा वायु एवं आकाश की स्पष्ट भूमिका होती है।
६. त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ एवं विद्युत् विभिन्न कणों वा तारों के घूर्णन व परिक्रमण को नियन्त्रित करती हैं।
७. विभिन्न लोकों के घूर्णन व परिक्रमण विविध गायत्री छन्द रश्मियों द्वारा प्रभावित होते हैं।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि दिक् तत्त्व भी आकाश महाभूत की भाँति रश्मि रूप होता है। काल तत्त्व इनकी अपेक्षा अति सूक्ष्म पदार्थ है। इन तीनों पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध यह है कि ये तीनों महाभूतों को प्रेरित व नियन्त्रित तो करते हैं, परन्तु किसी पदार्थ का भाग नहीं बनते अर्थात् उनका उपादान नहीं बनते। अपवादस्वरूप आकाश महाभूत के सम्पीडन से वायु तत्त्व का निर्माण अवश्य होता है, लेकिन इसमें भी आकाशतत्त्व अपने स्वरूप को बनाए रखता है। आज समूचे ब्रह्माण्ड में नाना पदार्थों का निर्माण हो रहा है और इस हेतु नाना क्रियाएँ हो रही हैं। इन क्रियाओं में ये तीनों पदार्थ प्रत्यक्ष भाग न लेकर परोक्ष रूप से प्रेरणा का कार्य करते रहते हैं। दिशा व आकाश का सम्बन्ध तो अंग-अंगी के समान है, परन्तु

काल का इन दोनों से ऐसा सम्बन्ध नहीं है।

'वेदविज्ञान-आलोक:' ग्रन्थ में अनेकत्र अनेक दिशाओं का वर्णन हुआ है, पाठक तत् तत् स्थानों पर पढ़ सकते हैं। यहाँ हम उन दिशाओं तथा शेष अन्य दिशाओं का स्वरूप बतलाकर ग्रन्थ के कलेवर में वृद्धि करना आवश्यक नहीं समझते। विज्ञ पाठक सुगमता से जान सकते हैं कि आकाश व दिशा के विषय में वैदिक विज्ञान गम्भीर विश्लेषण प्रस्तुत करता है, जबकि वर्तमान भौतिक विज्ञान को इनका साधारण ज्ञान भी नहीं है।

२. वायु

सर्वप्रथम इसके विषय में हम विभिन्न ऋषियों का मत उद्धृत करते हैं—

१. अयं वायुरन्तरिक्षस्य पृष्ठम् (जै.ब्रा.३.२५२)
२. अयं वै वायुर्विश्वकर्मा यो ऽयं पवत ऽ एष हीदꣳ सर्वं करोति। (श.ब्रा.८.१.१.७)
३. न खलु वै किं चन वायुनानभिगतमस्ति (मै.सं.२.२.७)
४. पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायुः सन्धानम् (तै.आ.७.३.१-२; तै.उ.१.३.१-२)
५. यदिदं सर्वं युते तस्माद् वायुः (जै.ब्रा.२.५६)
६. वायुरस्यन्तरिक्षे श्रितः। दिवः प्रतिष्ठा (तै.ब्रा.३.११.१.९)
७. वायुर्वै देवानामोजिष्ठः क्षेपिष्ठः (मै.सं.२.५.१)
८. वायुर्वै तूर्णिर्हव्यवाड् वायुर्हीदं सर्वं सद्यस्तरति यदिदं किंच (ऐ.ब्रा.२.३४)
९. वायुर्हि प्राणः (ऐ.ब्रा.२.२६), प्राणो हि वायुः (तां.ब्रा.४.६.८),
प्राणा उ वै वायुः (श.ब्रा.८.४.१.८), वाग्वै वायुः (तै.ब्रा.१.८.८.१; तां.ब्रा.१८.८.७),
वायुर्वै निकायश्छन्दः (श.ब्रा.८.५.२.५)
१०. वायुर्वै रेतसां विकर्त्ता (श.ब्रा.१३.३.८.१)
११. त्रैष्टुभो हि वायुः (श.ब्रा.८.७.३.१२)

इन उपर्युक्त आर्ष वचनों के द्वारा हम वायु तत्त्व के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त करते हैं—

१. वायु तत्त्व आकाश तत्त्व का पृष्ठरूप है, यहाँ इसके दो अर्थ हैं। इनमें प्रथम यह है कि

पूर्व में अनेकत्र वर्णित अहंकार रूप दिव्य वायु आकाश तत्त्व का आधार है। यह दिव्य वायु ही आकाश तत्त्व का मूल उपादान कारण होने के साथ-२ उसका आधार भी है। यहाँ दूसरा अर्थ यह है कि वायु तत्त्व आकाश तत्त्व के पश्चात् उत्पन्न होता है।

२. इस सृष्टि के प्रत्येक कर्म वा बल के पीछे वायु रश्मियाँ ही प्रधान कारण हैं। इसी कारण इसे विश्वकर्मा अर्थात् सबका कर्त्ता कहा जाता है।

३. इस सृष्टि में प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ वायु तत्त्व के साथ निकटता से संयुक्त रहता है, साथ ही इसी से उत्पन्न भी होता है।

४. वायु तत्त्व विभिन्न पदार्थों को जोड़ने का कार्य करता है। इसके अभाव में कोई भी पदार्थ परस्पर सन्धि नहीं कर सकते।

५. यह तत्त्व अन्य सभी पदार्थों के साथ मिला हुआ रहकर उन्हें परस्पर मिलाये भी रखता है तथा विभिन्न पदार्थों के वियोजन कर्म में भी यही वायु तत्त्व अपनी भूमिका निभाता है।

६. यह वायु तत्त्व आकाश तत्त्व में आश्रित रहता हुआ विभिन्न द्युलोकों को प्रतिष्ठा अर्थात् आधार प्रदान करता है। इसके बिना द्युलोकों की उत्पत्ति व स्थिति का होना सम्भव नहीं है। आकाश के अभाव में वायु तत्त्व का होना सम्भव नहीं है।

७. विभिन्न देव पदार्थों में वायु तत्त्व सबसे अधिक सम्पीडक वा प्रक्षेपक, आकर्षक वा प्रतिकर्षक बलों से युक्त होता है। वस्तुतः इस सृष्टि में जो भी बल विद्यमान है, वह वायु का ही बल है।

८. [तूर्णिः = क्षिप्रनाम (निघं.२.१५), तूर्णिः कर्म (निरु.७.२७)] यह अतिशीघ्र नाना प्रकार के कर्मों को अव्यक्त रूप से सम्पादित करता है। इसकी आवश्यकता को दर्शाते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है— 'अनिरुक्तो हि वायुः' (श.ब्रा.८.७.३.१२)। अनिरुक्त का अर्थ करते हुए कहा— 'अपरिमितं वाऽ अनिरुक्तम्' (श.ब्रा.५.४.४.१३)। इससे संकेत मिलता है कि वायु तत्त्व मानव की दृष्टि में अपरिमित क्षेत्र में व्याप्त होकर सभी कण वा क्वाण्टा आदि पदार्थों को प्रत्येक क्रिया में तारता अर्थात् उन्हें समर्थ बनाता है।

९. यहाँ वायु क्या है और उसका स्वरूप क्या है? यह स्पष्ट किया गया है। पूर्वोक्त विभिन्न प्रकार की प्राण रश्मियाँ ही वायु रूप हैं। इन प्राण रश्मियों तथा पूर्वोक्त विभिन्न छन्द रश्मियों के समूह का मिश्रण ही वायु तत्त्व के नाम से जाना जाता है। सूक्ष्म प्राण व छन्द

रश्मियाँ आकाश तत्त्व का निर्माण करती हैं, परन्तु आकाश तत्त्व के निर्माण के पश्चात् उत्पन्न बृहद् छन्द रश्मियों का प्राण रश्मियों के साथ मिश्रण वायु तत्त्व के नाम से जाना जाता है।

१०. वायु तत्त्व विभिन्न पदार्थों के बीज को विविध प्रकार से उत्पन्न व धारण करता है। यह पदार्थों को विकृत वा रूपान्तरित करता हुआ अनेक अन्य पदार्थों का निर्माण करता है। इस प्रकार यह नाना क्रियाओं वा बलों को उत्पन्न करता रहता है।

११. इस वचन से संकेत मिलता है कि ऋषियों ने इस ब्रह्माण्ड में त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के उत्पन्न होने के पूर्व प्राण व छन्द रश्मियों के मिश्रण की वायु संज्ञा नहीं की है। जब त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उस समय विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों का मिश्रण वायु नाम से जाना जाने लगता है। इसके उपरान्त ही वे प्राण व छन्द रश्मियाँ अधिक तीव्र तेज एवं बलों से युक्त होने लगती हैं।

अब हम वायु के विषय में कुछ अन्य ऋषियों का मत जानने का प्रयास करते हैं। इस विषय में ऋषियों ने कहा है—

१. वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्यात् गतिकर्मणः (निरु.१०.१)
२. स्पर्शवान् वायुः (वै.द.२.१.४)

इन वचनों से निम्नलिखित विज्ञान प्रकाशित होता है—

१. वायु शब्द 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से निष्पन्न होता है। गति अर्थ वाली होने से स्पष्ट होता है कि यह तत्त्व सदैव गतिशील रहता है, जबकि गन्धन अर्थ एक गम्भीर विज्ञान को दर्शाता है। 'गन्धनम्' पद के आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश में अनेक अर्थ दिये हैं, जैसे— अविराम प्रयत्न, चोट पहुँचाना, प्रकाशन, संसूचन एवं संकेत आदि। इन अर्थों से वायु ऐसा तत्त्व सिद्ध होता है, जो अविराम गति व प्रयत्न करता रहता है। यह विभिन्न पदार्थों के साथ तथा स्वयं के साथ (वायु रश्मियाँ परस्पर) आकर्षण-प्रतिकर्षण-धारण आदि का भाव रखता है। इसी के कारण सृष्टि के पदार्थों के नाना गुण प्रकाशित होते हैं तथा विभिन्न सन्देश-सूचनाओं का माध्यम वा वाहक भी यही तत्त्व है। सभी प्रकार के बल एवं फील्ड्स का कारण यह वायु ही है। सृष्टि के सभी संकेत वायु रश्मियों के रूप में ही आते हैं। जो संकेत विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के माध्यम से आते हैं, उनका भी

मूल कारण वायु तत्त्व ही है। महर्षि यास्क के उपर्युक्त वचन में 'वायुः' पद 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' धातु से निष्पन्न माना है। इससे स्पष्ट होता है कि वायु रश्मियाँ सतत गमनशील रहने के साथ-२ विभिन्न पदार्थों को व्याप्त करतीं, उन्हें परिधि रूप में घेरतीं, उन्हें प्रेरित वा प्रक्षिप्त करतीं और उन्हें नाना पदार्थों की उत्पत्ति में सक्षम बनाती हैं। सभी पदार्थों की सभी क्रियाएँ इस वायु तत्त्व की रश्मियों के माध्यम से ही होती हैं।

२. पूर्व में आकाश का गुण 'शब्द' बतलाया, यहाँ वायु तत्त्व का गुण स्पर्श कहा गया है। ऋषि दयानन्द ने 'स्पर्श संस्पर्शने' धातु के अर्थ 'आलिंगन करना', 'बाँधना', 'अनुगत होना' तथा 'ग्रहण करना' भी किए हैं। उन्होंने अपने वेदभाष्य में विभिन्न स्थलों पर निम्नानुसार अर्थ ग्रहण किए हैं—

स्पृश = अनुगतो भव (यजु.भा.१३.१०)
स्पृश = गृहाण (ऋ.भा.४.३.१५)
स्पृशन्ति = आलिङ्गयन्ति (ऋ.भा.१.६२.११)
स्पृशन्ति = सम्बध्नन्ति (ऋ.भा.१.३६.३)

इससे भी यही स्पष्ट होता है कि 'स्पर्शवान् वायुः' का तात्पर्य मात्र छूने वाला नहीं, अपितु प्रत्येक पदार्थ के अन्दर अनुकूलतापूर्वक व्याप्त, उसे ग्रहण करके अधिकार में करने वाला, उसके साथ संयुक्त रहने एवं उसे बाँधने-मिलाने वाला भी होता है। इधर हमारे शरीर में स्पर्श करने की क्रिया भी वायु रश्मियों के कारण ही सम्भव होती है।

इस तत्त्व को आचार्य सुश्रुत ने 'रजोबहुलो वायुः' (सु.सं. शारीरस्थानम् १.२७) कहकर रजोगुण प्रधान बताया है। इसी कारण यह सदैव क्रियाशील रहता है। इसमें द्रव्यमान नगण्य एवं दीप्ति अति मन्द होती है।

अब हम महर्षि ब्रह्मा एवं महर्षि भृगु के विचारों के माध्यम से वायु तत्त्व की उत्पत्ति प्रक्रिया पर अति संक्षिप्त विचार प्रस्तुत करते हैं—

महर्षि ब्रह्मा उवाच—

द्वितीयं मारुतो भूतं त्वगध्यात्मं च विश्रुता॥

स्प्रष्टव्यमधिभूतं च विद्युत् तत्राधिदैवतम्॥ १९॥
(महाभारत आश्व.प., अनुगीता पर्व अध्याय-४२)

महर्षि भृगु उवाच—

तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः॥ १०॥

यथाभाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते।
तच्चाम्भसा पूर्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः॥ ११॥

तथा सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे।
भित्त्वार्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान्॥ १२॥

स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः।
आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति॥ १३॥
(महाभारत शा.प., मोक्षधर्मपर्व, अध्याय- १८३)

इससे संकेत मिलता है कि आकाश के पश्चात् वायु तत्त्व की उत्पत्ति होती है। इसी समय प्राणियों की करणरूप स्पर्श इन्द्रिय रूपी सूक्ष्म रश्मियों की उत्पत्ति होती है। वायु तत्त्व के साथ-२ सूक्ष्म कार्यरूप विद्युत् की भी उत्पत्ति होती है, इसे फील्ड्स का रूप भी कह सकते हैं। आकाश तत्त्व के सम्पीडन से वायु तत्त्व की उत्पत्ति हुई। यह वायु तत्त्व आकाश तत्त्व के अन्दर उठता हुआ सा उत्पन्न हुआ। इसको उपमा के द्वारा समझाते हुए कहा कि छिद्ररहित कोई पात्र पूर्णतः निःशब्द प्रतीत होता है और जब उसमें छिद्र करके जल भरा जाता है, उस समय ध्वनि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार निःशब्द आकाश तत्त्व में जब पूर्वोक्त बलवान् वायु तत्त्व उत्पन्न होता है, तब आकाश तत्त्व में ध्वनियाँ उत्पन्न होने लगती हैं। यहाँ यह भी संकेत मिलता है कि जिस प्रकार आकाश तत्त्व की उत्पत्ति सर्वत्र एक साथ नहीं होती है, उसी प्रकार वायु तत्त्व भी एक स्थान विशेष पर सर्वप्रथम प्रकट होता है। उसके पश्चात् सम्पूर्ण आकाश तत्त्व में वायु रश्मियाँ वेग के साथ प्रकट होकर विचरती हुई नाना घोष उत्पन्न करने लगती हैं।

यहाँ स्पष्ट हो रहा है कि जैसे-२ ब्रह्माण्ड में प्राण व छन्द रश्मियों की तीव्रता बढ़ती जाती है, वैसे-२ सर्वत्र नाना प्रकार की ध्वनि तरंगें उत्पन्न होकर तीव्र भी होती जाती हैं।

पाठक इस बात से अवगत हो चुके होंगे कि यह वायु तत्त्व लोकविख्यात हवा (एयर) नहीं है। प्राय: सभी दार्शनिकों ने इस विषय में यही भारी भूल की है कि हवा को ही वायु महाभूत मान लिया है। पश्चिमी जगत् के वैज्ञानिकों ने भी दार्शनिकों की चर्चा में वायु महाभूत से एयर का ग्रहण करने की भूल की है।

वायु तत्त्व के विषय में वर्तमान विज्ञान अति स्वल्प ज्ञान ही रखता है। जिसे आज विभिन्न प्रकार के फील्ड्स कहा जाता है, वे सभी सर्वांश में वायु तो नहीं, परन्तु वायु के द्वारा ही निर्मित होते हैं। फील्ड्स के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ से वर्तमान भौतिक वैज्ञानिक वायु की तुलना नहीं कर सकते। जिस दिन वायु तत्त्व की नाना छन्द वा प्राण रश्मियों का बोध वैज्ञानिकों को होगा, उस दिन वे फील्ड्स के विषय में अधिक व्यापक एवं गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।

प्रश्न— ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में लिखा है—

"सबसे सूक्ष्म टुकड़ा अर्थात् जो काटा नहीं जाता, उसका नाम परमाणु, साठ परमाणुओं से मिले हुए का नाम अणु, दो अणु का एक द्वयणुक, जो स्थूल वायु है, तीन द्वयणुक का नाम अग्नि, चार द्वयणुक का नाम जल, पाँच द्वयणुक की पृथिवी अर्थात् (हमारे विचार में यहाँ 'अथवा' शब्द होना चाहिए) तीन द्वयणुक का त्रसरेणु और उसका दूना होने से पृथिवी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं।"

(मानक संस्करण, उदयपुर)

पञ्च महाभूतों के इस स्वरूप की आपके द्वारा दर्शाए स्वरूप से क्या संगति है?

उत्तर— हमारे मत में ऋषि दयानन्द ने जिसे परमाणु कहा है, वह वस्तुत: एक प्राण/मरुत्/छन्द रश्मि का नाम है। ऐसी साठ प्रकार की रश्मियाँ मिलकर एक अणु बनाती हैं और दो अणु अर्थात् एक सौ बीस प्रकार की रश्मियाँ मिलकर स्थूल वायु के अणु को उत्पन्न करती हैं। हम पूर्व में लिख चुके हैं कि प्राण रश्मियाँ मरुत् वा छन्द रश्मियों के साथ मिथुन करके ही सृष्टि का निर्माण करती हैं। इसके साथ ही विभिन्न प्राण रश्मियाँ परस्पर तथा विभिन्न छन्द रश्मियाँ भी परस्पर मिथुन बनाती हैं। इस प्रकार ६० प्रकार की प्राण रश्मियों का युग्म एक अणु तथा ६० प्रकार की छन्द वा मरुत् रश्मियों का युग्म अन्य अणु का निर्माण करते हैं। यहाँ दूसरा विकल्प यह भी सम्भव है कि एक अणु में ३० प्रकार की

प्राण व ३० प्रकार की मरुत् वा छन्द रश्मियों का युग्म हो तथा इनसे भिन्न ३० प्रकार की प्राण व ३० प्रकार की मरुत् वा छन्द रश्मियों का युग्म दूसरा अणु होवे। जब इन दोनों अणुओं का मिथुन होता है, तब वायु तत्त्व का एक अणु निर्मित होता है।

यह वायु स्थूल वायु कहलाता है, जहाँ त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ भी विद्यमान हो चुकी होती हैं। इससे पूर्व सभी रश्मियाँ आकाश वा सूक्ष्म वायु के रूप में ही होती हैं। इस प्रकार वायु के एक अणु में कुल १२० प्रकार के परमाणु अर्थात् छन्द, मरुत् व प्राण रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। इन सबका गुच्छ स्वतन्त्र विचरण करता हुआ एक स्वतन्त्र इकाई के समान भी व्यवहार करता है। यद्यपि वायु तत्त्व वर्तमान विज्ञान की भाषा में कहे जाने वाले किसी भी क्वाण्टा तथा मूलकण से सूक्ष्म होता है, पुनरपि इसे अणु नाम देने से यही संकेत मिलता है कि वायु तत्त्व एकरस नहीं होता है, भले ही उसे वर्तमान किसी भी तकनीक से अनुभूत न किया जा सके और सामान्यतः उसे एकरसवत् ही कहने की विवशता हो।

३. अग्नि

पञ्चमहाभूतों में वर्णित अग्नि नामक महाभूत विद्युत् आवेश तथा विद्युत् चुम्बकीय तरंग दोनों के लिए ही प्रयुक्त है अर्थात् इन दोनों को ही अग्नि कहा जाता है। निरुक्त शास्त्र में इन्हें पृथक्-२ वर्गीकृत किया है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे। आइये, सर्वप्रथम हम अग्नि तत्त्व के विषय में ऋषियों के विचारों को समझने का प्रयास करेंगे। इस क्रम में सर्वप्रथम महर्षि ब्रह्मा का कथन है—

तृतीयं ज्योतिरित्याहुश्चक्षुरध्यात्ममुच्यते॥
अधिभूतं ततो रूपं सूर्यस्तत्राधिदैवतम्॥ २०॥
(महाभारत आश्व.पर्व., अनुगीता पर्व, अध्याय- ४२)

अर्थात् तृतीय महाभूत ज्योतिरूप अग्नि कहलाता है। इसी समय चक्षु इन्द्रिय रूप सूक्ष्म रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। सूर्य अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के फोटोन्स अग्नि का ही रूप हैं।

इस विषय में महर्षि भृगु कहते हैं—

तस्मिन् वाय्वम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः।
प्रादुरभूदूर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः॥ १४॥

(महाभारत शा.प., मोक्षधर्म पर्व, अध्याय-१८३)

अर्थात् पूर्वोक्त आकाश एवं वायु के संघर्ष से दीप्त तेज एवं बलवान् अग्नि तत्त्व उत्पन्न हुआ, जिससे सम्पूर्ण आकाश तत्त्व प्रकाशित हो उठा। अग्नि की रश्मियों की दिशा आकाश के साथ संघर्ष करती हुई वायु रश्मियों की दिशा के विपरीत होती है, इसे ही ऊर्ध्वशिख नाम दिया गया है। यहाँ हमने 'अम्बु' शब्द का अर्थ जल ग्रहण न करके आकाश महाभूत ग्रहण किया है। यह शब्द इसी प्रकरण में 'सलिल' के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिससे वायु तत्त्व की उत्पत्ति बतलाई है। जल से वायु की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इस कारण पूर्व में हमने इसका अर्थ आकाश ही ग्रहण किया है, इस कारण उसी सलिल के स्थान पर प्रयुक्त 'अम्बु' शब्द आकाश का ही वाचक मानना चाहिए, न कि जल का वाचक। ऋषि दयानन्द ने उणादिकोष १.२७ की व्याख्या में 'अम्बु' पद की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है—

'अमन्ति गच्छन्ति चेष्टन्ते प्राणिनो ये तद् अम्बु'

निश्चित ही प्राण तत्त्व से उत्पन्न विभिन्न परमाणु आदि पदार्थ आकाश तत्त्व से प्रेरित होते हैं अर्थात् उनकी प्रत्येक क्रिया-गति आदि में आकाश की अनिवार्य भूमिका होती है। ऋषि दयानन्द ने इस शब्द का अर्थ जल किया है, यह बात पृथक् है। इस व्युत्पत्ति से आकाश का ग्रहण करना सर्वथा सम्भव व प्रकरण के अनुकूल है। हमारी दृष्टि में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी सम्भव है— अमन्ति गच्छन्ति चेष्टन्ते परमाणवो यस्मिन् तद् अम्बु।

अब अग्नि के विषय में कुछ अन्य ऋषियों के वचनों को उद्धृत करते हैं—

१. अग्नयो वै छन्दाꣳसि (तै.सं.५.७.९.३)
२. अग्निं वै पशवः प्रविशन्त्यग्निः पशून् (मै.सं.१.८.२)
३. अग्निः प्रजनयिता (काठ.सं.६.७; २७.८; क.सं.६.५)
४. अग्निः प्रथम इज्यते (मै.सं.३.८.१)
५. अग्निना तपोऽन्वाभवत् (काठ.सं.३५.१५; क.सं.४७.१३)
६. अग्निना वा अनीकेनेन्द्रो वृत्रमहन् (मै.सं.१.१०.५; काठ.सं.३५.२०; क.सं.४७.१८)
७. अग्निरसि पृथिव्याꣳश्रितः। अन्तरिक्षस्य प्रतिष्ठा (तै.ब्रा.३.११.१.७)
८. अग्निरेकाक्षरयोदजयन्मामिमां पृथिवीम् (मै.सं.१.११.१०)
९. अग्निरेकाक्षरया वाचमुदजयत् (मै.सं.१.११.१०; काठ.सं.१४.४)

१०. अग्निरु देवानां प्राण: (श.ब्रा.१०.१.४.१२)
११. अग्निर्गायत्रछन्दा: (काठ.सं.९.१३)
१२. अग्निं वै विभाजं नाशक्नुवꣳ स्तमश्वेन व्यभजन् (काठ.सं.८.५)
१३. अग्निर्वै देवानां पथिकृत् (मै.सं.१.८.९)
१४. अग्निर्वै मिथुनस्य कर्त्ता प्रजनयिता (श.ब्रा.३.४.३.४)
१५. ते वाऽएते प्राणा एव यद् अग्नय: (श.ब्रा.२.२.२.१८)
१६. देवरथो वा अग्नय: (कौ.ब्रा.५.१०)
१७. भूरिति वा अग्नि: (तै.आ.७.५.२; तै.उ.१.५.२)
१८. विश्वकर्मायमग्नि: (श.ब्रा.९.२.२.२)
१९. मिथुनं वा अग्निश्च सोमश्च सोमो रेतोधा अग्नि: प्रजनयिता (काठ.सं.८.१०; क.सं.७.६)

इन उपर्युक्त वचनों से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. यह पदार्थ पूर्वोक्त छन्द रश्मियों का ही रूप है अर्थात् उन्हीं से निर्मित होता है और उन्हीं में प्रतिष्ठित रहता है।
२. पशु: = प्राणा: पशव: (श.ब्रा.७.५.२.६; तां.ब्रा.७.३.२८),
पशवो मारुत: (मै.सं.३.३.१०; काठ.सं.२१.१०),
पशवो वै मरुत: (मै.सं.४.६.८; काठ.सं.३६.१; ऐ.ब्रा.३.१९),
पशवो वै छन्दाꣳसि (तै.सं.६.४.१.३),
पशवश्छन्दाꣳसि (मै.सं.४.३.५; काठ.सं.१२.८; क.सं.३०.८; कौ.ब्रा.११.५)
विभिन्न पशु अर्थात् प्राण, मरुत् व छन्द रश्मियाँ अग्नि तत्त्व में प्रविष्ट होती हैं एवं अग्नि तत्त्व इन रश्मियों में व्याप्त होता है अर्थात् अग्नि तत्त्व इन रश्मियों से अन्दर-बाहर पूर्णत: ओतप्रोत रहता है।
३. अग्नि तत्त्व विभिन्न पदार्थों को उत्पन्न करने वाला होता है। इसके अभाव में किसी भी स्थूल पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती।
४. परमाणु (कण वा विकिरण) रूप में विद्यमान यही पदार्थ है, जिसमें सर्वप्रथम संयोग प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। इससे पूर्व उत्पन्न वायु पदार्थ कण रूप में नहीं, बल्कि सतत प्रवाह के रूप में विद्यमान रश्मि रूप में विद्यमान होता है, जबकि अग्नि तत्त्व कण वा क्वाण्टा के रूप में भी विद्यमान होता है और उसका संयोग-वियोग वायु रश्मियों के

संयोग-वियोग से भिन्न होता है।

५. ऊष्मा की सर्वप्रथम उत्पत्ति अग्नि तत्त्व के द्वारा अर्थात् इसके रूप में ही होती है। इसके उत्पन्न होने के पूर्व सम्पूर्ण पदार्थ प्राय: ऊष्मारहित अवस्था में होता है।

६. तीक्ष्ण विद्युत् आवेशित तरंगें इस सृष्टि में विभिन्न कॉस्मिक मेघों तथा बाधक डार्क पदार्थ वा डार्क एनर्जी को नष्ट वा नियन्त्रित करती हैं।

७. विद्युत् आवेश अथवा विद्युत् चुम्बकीय तरंगें किसी कण में आश्रित होती हैं एवं आकाश को अपने अन्दर प्रतिष्ठित किये रहती हैं। ये आकाश में कभी स्थायित्व को प्राप्त नहीं हो सकतीं, बल्कि ये आकाश में निरन्तर गमन करती रहती हैं।

८. अग्नि तत्त्व एकाक्षरा वाक् रश्मि अर्थात् 'ओम्' एवं 'भू:' आदि के द्वारा सभी प्रकार के पार्थिव परमाणुओं को अपने नियन्त्रण में रखता है। इससे संकेत मिलता है कि विद्युत् आवेशित कणों के परस्पर अन्योन्य क्रिया करते समय तथा विभिन्न क्वाण्टा के द्वारा किसी कण को नाना गति व क्रियाओं से युक्त करते समय इन 'ओम्' एवं 'भू:' रश्मियों का अनिवार्य योगदान रहता है। यहाँ 'मा' से पृथिवी तत्त्व का ही ग्रहण करना चाहिए। इस विषय में कहा गया है—

'अयं वै (पृथिवी) लोको मा अयं लोको मित इव' (श.ब्रा.८.३.३.५)।

९. यह अग्नि तत्त्व अथवा इसकी अंगभूत प्राण रश्मियाँ 'ओम्' एकाक्षरा वाक् रश्मियों के द्वारा ही अन्य वाक् अर्थात् मरुत् व छन्द रश्मियों को नियन्त्रित करती वा रखती हैं। इस कारण अग्नि तत्त्व के निर्माण किंवा कार्यों में इन एकाक्षरा वाक् रश्मियों की अनिवार्य भूमिका होती है।

१०. यह तत्त्व विभिन्न प्रकाशित पदार्थों का प्राण रूप है अर्थात् उनको प्रकाशित व गतिशील करने में इसी की भूमिका होती है। इस सृष्टि में अग्नि के अभाव में किसी भी कण व स्थूल पदार्थ का न तो निर्माण हो सकता है और न ही वह कोई क्रिया व गति करने में समर्थ हो सकता है।

११. अग्नि तत्त्व में गायत्री छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है।

१२. अग्नि के परमाणु, आवेशित कण वा क्वाण्टा सामान्यतया विभाजित नहीं हो सकते, किन्तु इनके तीव्र ऊर्जा से सम्पन्न होने तथा तीव्र ऊर्जा-क्षेत्र वा तीक्ष्ण बलों से सम्पन्न क्षेत्र में से गुजरने पर इनका विभाजन सम्भव है।

१३. अग्नि तत्त्व विभिन्न कणों के मार्ग का निर्माण करने वाला होता है अर्थात् किसी कण का मार्ग उस कण की ऊर्जा पर निर्भर रहता है।

१४. अग्नि तत्त्व विभिन्न प्रकार के कणों के युग्मों को उत्पन्न करके उनसे नाना पदार्थों का निर्माण करने वाला होता है। अग्नि के अभाव में कहीं भी संयोग-वियोग की क्रियाएँ सम्भव नहीं हो सकतीं।

१५. अग्नि तत्त्व प्राण रश्मियों से निर्मित होने से प्राणस्वरूप है। पूर्व में भी इसे छन्द, मरुत् व प्राण रश्मियों से निर्मित कहा है।

१६. अग्नि तत्त्व विभिन्न प्रकाशित कणों को रथ के समान वहन करने वाला है।

१७. अग्नि तत्त्व (विशेषकर विद्युत् आवेश युक्त कण) में 'भूः' छन्द रश्मि विशेष रूप से विद्यमान होती है।

१८. समस्त सृष्टि में जो भी कर्म हो रहे हैं, उनमें अग्नि तत्त्व की अनिवार्य भूमिका होती है। ये कर्म वर्तमान भौतिक तकनीक से जानने योग्य ही मानने चाहिए। वायु रश्मियों के स्तर के कर्म अग्नि के द्वारा नहीं होते, इस कारण उन्हें वर्तमान भौतिक तकनीकों से नहीं जाना जा सकता।

१९. यह सृष्टि अग्नि एवं सोम के मिथुन से ही निर्मित है। यहाँ सोम का अर्थ अप्रकाशित ठण्डा वायु तत्त्व मानना चाहिए। यह सोम तत्त्व ही अग्नि तत्त्व में रेत अर्थात् वीर्य को धारण कराने वाला है अर्थात् ये सोम रश्मियाँ (प्राण, छन्द व मरुत्) अग्नि तत्त्व में बल व तेज का संचार करती हैं, जिससे अग्नि तत्त्व आगामी पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से सुविज्ञ पाठकों को विदित हो ही गया होगा कि अग्नि तत्त्व विद्युत् आवेश एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगों का ही रूप होता है। वर्तमान भाषा में विभिन्न विकिरण वा ऊर्जा अग्नि तत्त्व के ही रूप हैं। हमने अब तक जो भी तथ्य अग्नि के विषय में प्रस्तुत किये हैं, उनमें से अनेक विषयों में वर्तमान विज्ञान नितान्त अनभिज्ञ है, तो कुछ विषयों में उसे स्वल्प ज्ञान है।

अब हम ऐतरेय ब्राह्मण पर अपने वैज्ञानिक व्याख्यान 'वेदविज्ञान-आलोकः' की दृष्टि से अग्नि के परमाणुओं के विषय में जानने हेतु निम्न बिन्दु उद्धृत करते हैं—

१. विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में अहंकार, मन, सूत्रात्मा वायु, प्राण, अपान, समान, व्यान,

उदान एवं धनञ्जय प्राण रश्मियाँ सदैव संचरित होती रहती हैं।

२. इनमें रूप, दाह, वेग, प्रकाश, धारण, छेदन, आकर्षण आदि गुण विद्यमान होते हैं।
३. किसी भी फोटोन के साथ दो आर्षी गायत्री छन्द, कुछ मरुद् तथा धनञ्जय आदि रश्मियाँ सदैव संयुक्त रहती हैं। एक गायत्री फोटोन को प्रकाशित रखने, दूसरी गायत्री उसे आकाश तत्त्व के साथ जोड़ने में सहायक होती है तथा धनञ्जय रश्मि, जो सृष्टि का सर्वाधिक गतिमान पदार्थ है, फोटोन्स को तीव्रतम गति प्रदान करती है।
४. ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण की प्रक्रिया में कुछ छन्द रश्मियों की भूमिका होती है। ऊर्जा सदैव विकिरण प्रवाह के रूप में गमन करती है, परन्तु जब वह किसी कण से उत्सर्जित व उसके द्वारा अवशोषित होती है, तब ही वह परमाणु (फोटोन) अर्थात् पैकेट रूप में प्रकट होती है। ऊर्जा को इस रूप में लाने में कुछ छन्द रश्मियों, विशेषकर त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की भूमिका होती है। ध्यातव्य है कि प्रवाह रूप का तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें पृथक्-२ मात्रा वाले अवयव विद्यमान नहीं होते। वे अवयव पृथक्-२ विकिरण रूप में विद्यमान अवश्य होते हैं, परन्तु वे विकिरण कणीय व्यवहार नहीं करते। यह कणीय व्यवहार ऊर्जा के उत्सर्जन व अवशोषण के समय ही प्रकट होता है, यहाँ यही आशय ग्रहण करना चाहिए। इस कारण इस ग्रन्थ में प्रवहमान अवयवों को भी हमने फोटोन नाम ही दिया है, जो विशुद्ध रश्मि रूप ही होते हैं।
५. इस ब्रह्माण्ड में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की भिन्न-२ आवृत्ति उन तरंगों में विद्यमान भिन्न-२ प्रकार की छन्द रश्मियों के कारण होती है। इस प्रकार मूलतः सभी प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगें एक ही हैं, परन्तु विभिन्न छन्द रश्मियों के कारण उनकी आवृत्ति में भेद उत्पन्न हो जाने के कारण ही उनके भिन्न प्रकार व स्वरूप हो जाते हैं। भिन्न-२ कणों के उनके प्रतिकणों से मिलकर ऊर्जा में परिवर्तित होने तथा किसी फोटोन के टूटकर दो कणों के युग्म (कण+प्रतिकण) में परिवर्तित होने में भी विभिन्न छन्द रश्मियों की ही भूमिका होती है। विभिन्न छन्द व प्राण रश्मियाँ ही सम्पीडित होकर ऊर्जा का रूप धारण करती हैं।
६. प्राण, अपान व उदान आदि रश्मियाँ आकाश तत्त्व के साथ मिलकर विभिन्न छन्द रश्मियों को सम्पीडित करती हैं, इससे अग्नितत्त्व अर्थात् ऊर्जा वा कणों की उत्पत्ति होती है। विद्युत् चुम्बकीय तरंगों को प्राण-अपान व उदान रश्मियाँ नियन्त्रित रखती व

धनञ्जय रश्मियाँ तीव्र गति प्रदान करती हैं। विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति के क्रम में सर्वप्रथम दुर्बल तरंगों की उत्पत्ति होती है, तदुपरान्त उत्तरोत्तर तीव्र तरंगों की उत्पत्ति होती जाती है।

७. कोई भी फोटोन ऊर्जा की एक सूक्ष्मतम इकाई नहीं होता। वह स्वयं अनेक सूक्ष्म अवयवों का संघात होता है। यह किसी कण द्वारा अवशोषित होते समय अपने कुछ अंश को अवशोषण से पृथक् भी रख सकता है। इसका कारण फोटोन का अनेक प्राण व छन्दादि रश्मियों से बना होना है।

८. प्रत्येक क्वाण्टा के दोनों ओर प्राण व अपान रश्मियाँ संचरित होती रहती हैं, जो धनञ्जय के साथ मिलकर उसे गति प्रदान करती हैं। प्रकाश आदि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के सरल रेखा में गति करने के पीछे कुछ छन्द रश्मियाँ उत्तरदायिनी होती हैं। ये छन्द रश्मियाँ विभिन्न फोटोन्स (प्रवहमान विकिरण) को एक के पीछे एक पंक्तिबद्ध चलाने में सहयोग करती हैं। यदि यह व्यवस्था न होती, तो सृष्टि में दर्शन प्रक्रिया अस्त-व्यस्त हो जाती।

९. किसी फोटोन की दो समकोण दिशाओं में सूक्ष्म रश्मियों का उत्सर्जन व अवशोषण होता रहता है। जब वह फोटोन किसी इलेक्ट्रॉन आदि कण के साथ संयुक्त होता है, उस समय यह कोण शून्य हो जाता है। समकोणस्थ रश्मि प्रवाह फोटोन को सन्तुलित रखता है। आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में फोटोन के दो ओर समकोण पर विद्युत् व चुम्बकीय फील्ड इसी का रूप प्रतीत होते हैं। वस्तुत: फोटोन के अन्दर केन्द्र में शक्ति का गुप्त व सूक्ष्म केन्द्र होता है, जो इस रश्मि प्रवाह को बनाए रखता है।

१०. प्रत्येक फोटोन के अन्दर लगभग तीन सौ साठ प्रकार की सूक्ष्म वायु अर्थात् प्राण व छन्द रश्मियाँ विद्यमान होती हैं तथा इनमें सर्वप्रथम सूक्ष्म द्रव्यमान व गुरुत्व बल उत्पन्न हो जाता है। इसकी सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में दर्शाए अग्नि के एक अणु, जिसमें तीन द्वयणुक अर्थात् कुल ३६० परमाणु अर्थात् प्राण व छन्दादि रश्मियाँ होती हैं, के साथ पूर्ण संगति है। हमारे मत में फोटोन्स में सूक्ष्म द्रव्यमान तथा गुरुत्व बल विद्यमान होता है।

११. जब गायत्री छन्द रश्मियाँ सोम अर्थात् मरुद् रश्मियों को अपने अग्रभाग द्वारा पकड़कर गति प्रदान करती हैं किंवा वे स्वयं उनके साथ गमन करती हैं, तब वे प्राण व आकाश

रश्मियों द्वारा सम्पीडित होकर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों में परिवर्तित हो जाती हैं।

१२. कोई भी फोटोन एक त्रिष्टुप् छन्द रश्मि की सहायता से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में गमन करते हुए अपनी ऊर्जा को प्राय: संरक्षित रखता है। यहाँ 'प्राय:' शब्द महत्त्वपूर्ण है, यह शब्द यह दर्शाता है कि फोटोन की ऊर्जा सर्वथा संरक्षित कभी नहीं रह सकती।

वैदिक वाङ्मय में 'अग्नि' शब्द अति व्यापक अर्थ वाला है। आधिदैविक अर्थों में भी प्रकाश, ऊष्मा आदि ऊर्जा (विद्युत् चुम्बकीय तरंग) के अतिरिक्त विद्युत् आवेशित तरंगें भी अग्नि तत्त्व के अन्तर्गत समाहित हो जाती हैं। हम विद्युत् चुम्बकीय तरंग रूपी ऊर्जा अर्थात् अग्नि तत्त्व पर चर्चा कर चुके। अब विद्युदग्नि पर कुछ चर्चा करेंगे। यद्यपि इस विषय में भी प्रारम्भ में १९ बिन्दुओं में से कुछ बिन्दुओं में चर्चा की गई है। ध्यातव्य है कि मूल विद्युत्, जहाँ दो प्रकार के आवेशों की उत्पत्ति नहीं होती, वायु तत्त्व का ही रूप है, इसका संकेत हम वायु प्रकरण में कर चुके हैं। जब विद्युत् दो आवेशों के रूप में प्रकट होती है, तब वह अग्नि तत्त्व का रूप कहलाती है। इसका तात्पर्य है कि वर्तमान विज्ञान के मूल कण भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। हमारे मत में इन्हें कारणरूप पार्थिव अणु भी माना जा सकता है।

अब हम विद्युत् रूपी अग्नि के विषय में 'वेदविज्ञान-आलोक:' ग्रन्थ से कुछ बिन्दु उद्धृत करते हैं—

१. विद्युत् ऋणावेशित कण सौम्य कहलाते हैं। इसका कारण यह है कि इनमें सोम अर्थात् मरुत् रश्मियों की प्रधानता होती है। ध्यातव्य है कि प्राण व मरुत् रश्मियों के मिथुन के बिना किसी कण का निर्माण सम्भव नहीं है। यहाँ सौम्य का तात्पर्य मरुत् रश्मियों की प्रधानता है, न कि प्राण रश्मियों का सर्वथा अभाव होना। उधर धनावेशित कण आग्नेय कहलाते हैं, क्योंकि इनमें अग्नि अर्थात् प्राण रश्मियों की प्रधानता होती है तथा मरुत् रश्मियाँ गौण रूप अर्थात् न्यून मात्रा में विद्यमान होती हैं। हमारे मत में ये दोनों प्रकार के कण अग्नि महाभूत के अन्तर्गत आते हैं। इनमें परमाणु अर्थात् प्राण वा छन्दादि रश्मियों की संख्या फोटोन्स की अपेक्षा अर्थात् ३६० प्रकार से कुछ अधिक होती है, परन्तु जल के अणु की अपेक्षा अर्थात् ४८० प्रकार से न्यून होती है।

२. सर्वप्रथम उत्पन्न विद्युत् प्राण व अपान के मेल से प्रकट होती है। यह धन व ऋण दोनों ही आवेशों से पृथक् व सूक्ष्म होती है। यह विद्युत् अग्नि व वायु दोनों के रूप में मानी जा सकती है। सृष्टि के सभी पदार्थ विद्युत् के कारण ही उत्पन्न, संचालित एवं प्रकाशित

होते हैं।

३. इस सृष्टि के प्रत्येक क्वाण्टा वा कण में विद्युत् व्याप्त होती है, भले ही वह धन, ऋण आवेश युक्त किंवा उदासीन क्यों न हो। इस विद्युत् के कारण ही सृष्टि का प्रत्येक कण (दृश्य पदार्थ— विजिबल मैटर) वा क्वाण्टा रूप, दाह, वेग, प्रकाश, छेदन, धारण, आकर्षण एवं प्रतिकर्षण गुणों से युक्त होता है। ऋषि दयानन्द ने ऋ.१.१.१ के भाष्य में 'पुरोहितम्' पद का भाष्य करते हुए अग्नि को इन आठ गुणों से युक्त माना है। यहाँ 'अग्नि' पद इस विद्युत् के लिए ही प्रयुक्त है। सृष्टि के प्रत्येक कण में (डार्क मैटर को छोड़कर) ये आठ गुण यत्किंचिन्मात्रा में विद्यमान होते ही हैं।
४. विभिन्न कणों में विद्युदावेश की मात्रा उन कणों में विद्यमान प्राण व छन्द रश्मियों की मात्रा पर निर्भर करती है।
५. विभिन्न कणों के मध्य संयोग प्रक्रिया में विद्युत् आवेश आकाश तत्त्व को अपने साथ संयुक्त करके कणों को परस्पर निकट लाता है।
६. विद्युत् चुम्बकीय तरंगों अर्थात् उनके तरंगाणु (क्वाण्टा) में उदासीन विद्युत् की स्वल्प मात्रा विद्यमान होती है, जिसके कारण उनमें परस्पर स्वल्प आकर्षण का भाव विद्यमान होता है।
७. विद्युदावेशित कणों के ऊपर प्राणापान रश्मियाँ जल की लहरों के समान कम्पन करती रहती हैं। विद्युदावेश प्राण व मरुद् रश्मियों के कई आवरणों के रूप में विद्यमान होता है।
८. इस सृष्टि की प्रत्येक क्रिया में विद्युत् की अनिवार्य भूमिका होती है। गुरुत्वाकर्षण बल भी विद्युत् का एक विशेष रूप है, जो वैकुण्ठ इन्द्र नामक सर्वाधिक सूक्ष्म विद्युत् से उत्पन्न होता है। इस विद्युत् का बल ही यूनिफाइड फॉर्स होता है, जिससे वर्तमान विज्ञान अभी तक अनभिज्ञ है।
९. विद्युत् के अभाव में विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

अब हम अग्नि तत्त्व के गुणों के विषय में कुछ ऋषियों का मत प्रस्तुत करते हैं—

तेजो रूपस्पर्शवत् (वै.द.२.१.३), अग्ने रूपं स्पर्शाः (ऐ.आ.३.२.५)

अर्थात् अग्नि तत्त्व के कारण ही सम्पूर्ण सृष्टि में रूप बनते व दृष्टिगोचर होते हैं। स्पर्श अर्थात् पदार्थों के पारस्परिक बन्धन भी अग्नि तत्त्व (विद्युत् वा ऊर्जा) के कारण ही सम्पन्न

होते हैं। यह गुण मूलतः वायु तत्त्व का है, किन्तु अग्नि तत्त्व में वायु तत्त्व की सदैव प्रतिष्ठा रहने से यह गुण अग्नि में भी आ जाता है। वस्तुतः वायु व आकाश का संघनित रूप ही अग्नि तत्त्व कहाता है।

महर्षि यास्क इसके गुणों पर विशेष प्रकाश डालते हुए लिखते हैं—

"अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते। अङ्गं नयति सन्नममानः। अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति। न स्नेहयति। त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः। इतात्। अक्ताद् दग्धाद्वा। नीतात्। गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा। नीः परः।"

(निरु.७.१४)

इसका आशय है कि अग्नि सृष्टि के सभी कणों वा लोकों में अग्रगामी होता है अर्थात् वह स्वयं अग्रगामी होकर उन्हें आगे-२ ले जाता है। कणों वा लोकों की संयोग प्रक्रिया में यह सर्वप्रथम आवश्यक होता है अर्थात् विद्युत् अथवा ऊष्मा के अभाव में कोई भी संयोग कर्म सम्भव नहीं हो सकता। यह तत्त्व जिस पदार्थ-कण के साथ संयुक्त होता है, उसे अपने गुणों से युक्त करके अपने जैसा बना लेता वा बनाने का प्रयत्न करता है। महर्षि स्थौलाष्ठीवि के मत में यह किसी पदार्थ को गीला नहीं करता अर्थात् सबको सुखाता है। महर्षि शाकपूणि के मत को उद्धृत करते हुए महर्षि यास्क कहते हैं कि यह विभिन्न पदार्थों का प्रापक, वाहक, उनको प्रकट करने अर्थात् दिखाने वाला एवं जलाने वाला है। इन सभी गुणों की व्याख्या विज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं। यहाँ हमारा प्रयोजन वैदिक रश्मि विज्ञान की व्याख्या करने तक सीमित रहना है, न कि पञ्चमहाभूतों पर अति विस्तार से चर्चा करना, इस कारण इतनी व्याख्या पर्याप्त है। ध्यातव्य है कि महर्षि सुश्रुत ने 'सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः' (सुश्रुत संहिता—शारीरस्थानम् १.२७) कहकर इसे सत्त्व व रजस् प्रधान माना है। इस कारण यह प्रकाश व क्रिया से विशेष युक्त होता है तथा इसका द्रव्यमान अत्यल्प होता है। इसमें धारक गुण भी विशेष होता है।

यहाँ हमने ऊर्जा, विशेषकर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों तथा विद्युत् के विषय में वैदिक विज्ञान का मत प्रस्तुत किया। यह मत सूत्र रूप में है। 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में विद्युत् के स्वरूप, गुणों एवं इसकी उत्पत्ति प्रक्रिया पर पर्याप्त विचार किया गया है। पाठक सम्पूर्ण ग्रन्थ को पढ़कर इसका स्वयं अनुभव कर सकते हैं। विशेष वैज्ञानिक प्रतिभासम्पन्न पाठक

हमारे उस ग्रन्थ को पढ़कर विद्युत् व ऊर्जा के विषय में दशकों तक गम्भीर अनुसन्धान कर सकते हैं। उधर वर्तमान विज्ञान को ऊर्जा तथा विद्युत् दोनों के ही विषय में अभी बहुत कुछ जानना शेष है। रिचर्ड पी. फेनमैन ने इस सत्य को खुले हृदय से स्वीकार भी किया है—

"We could say that we do not yet know the laws of electricity."

(Lectures on Physics- Vol. I, Pg. 593)

"It is important to realize that in physics today, we have no knowledge of what energy is."

(Lectures on Physics- Vol. I, Pg. 40)

फेनमैन का यह कथन उस समय है, जब वर्तमान विज्ञान ऊर्जा व विद्युत् के विषय में बहुत कुछ जानता है तथा इनका भरपूर उपयोग-उपभोग भी कर रहा है। मुझे प्रतीत होता है कि इसके अपूर्ण ज्ञान पर आधारित तकनीक ही ऊर्जा व विद्युत् के उपभोग में नाना दुष्प्रभाव भी उत्पन्न कर रही है। जब अग्नि तत्त्व का पूर्ण ज्ञान हो जाएगा, तो सम्भवतः हम वर्तमान दुष्प्रभावों से बच सकेंगे।

४. जल (आपः)

वैदिक वाङ्मय में इसे प्रायः 'आपः' नाम से सम्बोधित किया गया है। न्याय व वैशेषिक दर्शन तथा उपनिषदों में 'आपः' का ही प्रयोग है। योगदर्शन के ३.४४ सूत्र के महर्षि व्यास भाष्य में 'जलम्' पद का प्रयोग है। अब सर्वप्रथम हम 'आपः' किंवा जल के विषय में ऋषियों के मत को उद्धृत करते हैं—

१. अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः। वैद्युतः (अग्निः) सन्धानम् (तै.आ.७.३.२; तै.उ.१.३.३)

२. अग्ने पित्तमपामसि (तै.सं.४.६.१.२)

३. अग्नेरापः (तै.आ.८.२; तै.उ.२.१.१)

४. आपो वै सर्वा देवताः (काठ.सं.२५.३; ऐ.ब्रा.२.१६; कौ.ब्रा.११.४; तै.ब्रा.३.२.४.३)

५. आपो वै सर्वे कामाः (श.ब्रा.१०.५.४.१५), आपोऽन्नम् (ऐ.ब्रा.६.३०)

६. आपो ऽसि जन्मना वशा, सा यज्ञं गर्भमधत्थाः (मै.सं.२.१३.१५)

७. आपो ह वाऽइदमग्रे सलिलमेवास (श.ब्रा.११.१.६.१)

८. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन (तै.सं.४.१.५.१)
९. इन्द्रियं वा आपः (काठ.सं.३२.२)
१०. इमे वै लोका अप्सु प्रतिष्ठिताः (तै.आ.१.२२.८५)
११. इयं (पृथिवी) वा एतासां (अपाम्) पात्रम् (काठ.सं.३२.७)
१२. चत्वारि वा अपाꣳरूपणि। मेघो विद्युत् स्तनयित्नुर्वृष्टिः (तै.आ.१.२४.९९)
१३. ता (आपः) मिथुनमैच्छन्त। ता मित्रावरुणावुपैताम्। ता गर्भमदधत।
ततो रेवतयः पशवोऽसृज्यन्त (जै.ब्रा.१.१४०)
१४. त्रयीर्वा आपो दिव्याः पार्थिवाः समुद्रियाः (मै.सं.३.६.३)
१५. योषा वाऽआपो वृषाग्निः (श.ब्रा.१.१.१.१८; २.१.१.४)
१६. विद्युद्वाऽ अपां ज्योतिः (श.ब्रा.७.५.२.४९)
१७. अग्निर्वा अपामायतनम्। आपो वा अग्नेरायतनम् (तै.आ.१.२२.७८,७९)
१८. अपाꣳ ह्येष गर्भो यदग्निः (तै.सं.५.१.५.८)

इन प्रमाणों पर विचार करने से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. अग्नि अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगों एवं मूलकणों तथा आदित्य (तारा) लोक के निर्माण होने के मध्य आपः अवस्था उत्पन्न होती है। इसीलिए इस अवस्था को सन्धि कहा है। इस अवस्था को उत्पन्न करने में विद्युत् की भूमिका होती है। इस पर गम्भीरता से विचार करें, तो स्पष्ट होता है कि विभिन्न आयन एवं एटम की अवस्था ही जल (आपः) महाभूत कहलाती है।
२. [पित्तम् = तेजः (म.द.य.भा.१७.६)] 'आपः' नामक उपर्युक्त अवस्था वाले पदार्थ में जो भी तेज विद्यमान होता है, वह अग्नि अर्थात् विद्युत् अथवा प्रकाशादि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के कारण ही होता है, न कि अपना स्वयं का। 'आपः' के परमाणुओं (आयन्स एवं एटम्स) में विद्युत् अथवा ऊर्जा के बिना कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। इसलिए अग्नि को 'आपः' के परमाणुओं के तेज का रूप कहा है। यहाँ 'आपः' का अर्थ प्राण रश्मियाँ भी ग्रहण कर सकते हैं। कहा भी है—

प्राणा वा आपः (तां.ब्रा.९.९.४; तै.ब्रा.३.२.५.२; जै.उ.३.२.५.९)

उस स्थिति में अग्नि को प्राणों का तेज अर्थात् प्राण रश्मियों से उत्पन्न तेज मानना

चाहिए।

३. अग्नि महाभूत के पश्चात् तथा उस अग्नि महाभूत से ही आप (जल) महाभूत की उत्पत्ति होती है। इसका आशय है कि विद्युत् चुम्बकीय तरंगों तथा मूलकणों की उत्पत्ति के पश्चात् तथा इनसे ही विभिन्न आयन्स एवं एटम्स उत्पन्न होते हैं।

४. आप: के परमाणुओं (आयन्स/एटम्स) में सभी प्रकार की प्राण व छन्द रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। इनमें पूर्वोक्त आकाश, वायु एवं अग्नि महाभूत भी विद्यमान होते हैं।

५. सभी प्रकार के आप: परमाणु (आयन्स एवं एटम्स) सूक्ष्म दीप्ति तथा आकर्षणादि बलों से युक्त होते हैं। वे सदैव परस्पर संयोग हेतु तत्पर रहते हैं अर्थात् वे स्वतन्त्र अवस्था में नहीं रहकर नाना युग्म (अणु वा मोलिक्यूल) बनाने का प्रयत्न करते रहते हैं।

६. ये कण उत्पन्न होते ही अपने दीप्ति कामनादि गुणों से युक्त होते हैं। इस कारण ये नाना संयोगादि कर्मों को अपने गर्भ में धारण किये रहते हैं। इन्हीं के अन्दर सम्पूर्ण सृष्टि-यज्ञ का भी गर्भ छुपा रहता है। नाना प्रकार के सघन रूप धारण करके इन्हीं आप: परमाणुओं के द्वारा नाना पदार्थ प्रकट होते हैं।

७. जब अग्नि महाभूत से इस महाभूत की उत्पत्ति होती है, तब इसके परमाणु रूप आयन्स एवं एटम्स विभिन्न सलिल रूप में प्रकट होते हैं। इसका आशय है कि उस समय सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में इन आयन्स वा एटम्स का महासमुद्र जैसा उत्पन्न हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उस महासमुद्र रूपी सलिल में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड लीन हो रहा हो, जो शनै:-२ प्रकट होने वाला हो। इस महासमुद्र में असंख्य मात्रा में कण सतत गतिमान रहते हैं।

८. इस प्रकार उस महासमुद्र में विद्यमान आप: परमाणु प्रारम्भ में तीव्र ऊर्जा-बल से सम्पन्न नहीं होते हैं, बल्कि उनमें अग्नि महाभूत धीरे-२ ऊर्जा का संचरण करता जाता है, जिससे वे आयन्स एवं एटम्स उत्तेजित होते चले जाते हैं और अग्रिम पीढ़ी के पदार्थों का निर्माण करने में सक्षम होते हैं। इसके साथ ही वे उत्तेजित आप: परमाणु अपने द्वारा उत्पन्न अग्रिम पीढ़ी के पदार्थों के परमाणुओं को ऊर्जा प्रदान करने में भी प्रवृत्त होते रहते हैं।

९. सभी आयन्स एवं एटम्स इन्द्रिय रूप होते हैं अर्थात् अग्रिम पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। वे इस हेतु विद्युत् चुम्बकीय आदि बलों से युक्त होते हैं।

१०. ये सभी लोक अर्थात् भूरादि विभिन्न व्याहृति तथा छन्द रूप रश्मियाँ इन उपर्युक्त आयन्स एवं एटम्स में प्रतिष्ठित वा व्याप्त रहती हैं। इसके साथ ही इस ब्रह्माण्ड में नाना लोक, गैलेक्सियाँ आदि विशाल लोक समूह सब ओर से इन आप: परमाणुओं में ही प्रतिष्ठित हैं। इसका तात्पर्य है कि सभी लोक-लोकान्तर आप: परमाणुओं से परित:/सर्वत: व्याप्त रहते हैं तथा उनसे ही निर्मित हैं।

११. अग्रिम पीढ़ी का महाभूत पृथिवी इन आप: परमाणुओं का आधार है अर्थात् आप: परमाणु पार्थिव परमाणुओं में भरे रहते हैं।

१२. इस सृष्टि में आप: परमाणु चार रूपों में प्राप्त होते हैं—

मेघ— कुछ परमाणु अन्तरिक्ष में मेघों के रूप में विद्यमान होते हैं, जो आयनिक क्लाउड के रूप में जाने जाते हैं। इससे कालान्तर में नाना लोकों का निर्माण सम्भव होता है।

विद्युत्— ये आयनों के रूप में नाना लोकों को चारों ओर से व्याप्त करते हैं। ये लोकों तथा प्राणियों एवं वनस्पतियों के अन्दर विद्यमान रहकर नाना रासायनिक क्रियाओं को सम्पादित करके उनका पोषण व रक्षण करते हैं।

स्तनयित्नु— ये मेघरूप पदार्थों में तीव्र गर्जनायुक्त विद्युत् को उत्पन्न करते हैं। बादलों में विद्युत् की गड़गड़ाहट इनके कारण ही होती है। इनकी ऊर्जा तीव्रतर होती है, इस कारण ये प्रबल भेदन शक्ति से सम्पन्न होते हैं।

वृष्टि— ये आप: परमाणु इस अन्तरिक्ष में नाना लोकों से निरन्तर आते-वर्षते रहते हैं। पृथिवी लोक पर गिरने वाले अनेक कॉस्मिक पार्टिकल्स या आयन्स इन्हीं का ही रूप हैं।

१३. वे आप: परमाणु निरन्तर मिथुन/युग्म बनाने की इच्छा से युक्त होते हैं। प्राण-अपान व व्यान-उदान रश्मियाँ उनके युग्मों को निर्मित करने में प्रवृत्त होती व उनका युग्म बनाती हैं। इससे वे नाना तेजयुक्त किरणों रूपी गर्भ को धारण करके विविध प्रकार के पशु अर्थात् द्रष्टव्य कणों को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। वे कण [रेवत्य: = रेवत्य आप: (ष.ब्रा.१.२.२.२)] नाना गर्जनाओं से युक्त नदीरूप धाराओं का रूप धारण करके इस विशाल अन्तरिक्ष में प्रवहित होने लगते हैं।

१४. यहाँ आप: परमाणुओं को निम्नानुसार तीन प्रकार का बताया गया है—

दिव्य— जो आयन सूर्यादि प्रकाशित लोकों में विद्यमान होकर उनका पोषण करते हैं,

वे दिव्य आप: कहलाते हैं। तारों में ऊर्जा का उत्पादन इन्हीं के संलयन के कारण होता है।

पार्थिव— जो आयन पृथिवी आदि ग्रहों अथवा उपग्रहादि लोकों में विद्यमान रहकर नाना प्रकार की भूगर्भीय एवं जैविक आदि क्रियाओं को सम्पादित करते हैं, वे पार्थिव आप: कहलाते हैं।

समुद्रीय— जो आयन [समुद्र: = अन्तरिक्षनाम (निघं.१.३)] अन्तरिक्ष में निरन्तर विचरण करते हैं तथा एक लोक से दूसरे लोक में जिनका आवागमन होता है, वे समुद्रीय आप: कहलाते हैं।

१५. ये आप: परमाणु योषा रूप होकर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों रूपी वृषा से निरन्तर संयोग करते रहते हैं। वे विद्युत् चुम्बकीय तरंगें विभिन्न आयन्स एवं एटम्स को उत्तेजित करके नाना पदार्थों को उत्पन्न करने में सक्षम बनाती हैं।

१६. इसे द्वितीय संख्या पर वर्णित वचन के समान समझें।

१७. अग्नि तत्त्व इन आप: परमाणुओं का आयतन है अर्थात् ऊर्जा वा विद्युदावेश विभिन्न आयन्स वा एटम्स में रमा हुआ रहता है। इसके साथ ही विभिन्न आयन्स वा एटम्स ऊर्जा वा विद्युदावेश में ही रमे रहते हैं अर्थात् ऊर्जा व आवेश इनमें सर्वत: व्याप्त रहता है।

१८. विद्युदावेश वा ऊर्जा विभिन्न आप: परमाणुओं में गर्भरूप होकर स्थित रहती है। इसका तात्पर्य है कि यह ऊर्जा यदि एटम वा आयन में विद्यमान न हो, तो वे किसी भी पदार्थ को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकते। इसके साथ ही वे किन्हीं भी प्रकार की क्रियाओं को सम्पादित नहीं कर सकते।

इन उपर्युक्त अठारह बिन्दुओं पर विचार करने पर यह मत पुष्ट हो जाता है कि आयनिक या एटॉमिक स्टेट ही आप: (जल) महाभूत कहलाती है। अब हम जल व आप: के विषय में ऋषि दयानन्द के विचार को उद्धृत करते हैं। वे सत्यार्थ प्रकाश के प्रथम समुल्लास में ईश्वर के नामों में 'जल' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं—

"जलति घातयति दुष्टान् संघातयति अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्"

यह व्युत्पत्ति ब्रह्म रूप जल के लिए है। यहाँ हम जल महाभूत के विषय में विचार करें,

तो विभिन्न परमाणुओं को तोड़ने अथवा संयुक्त करने वाला पदार्थ आपः सिद्ध होता है। यह गुण आयनों में सर्वविदित है, इस कारण आयन्स को जल कहना सर्वथा उचित है। उधर ऋषि दयानन्द ने यजुर्वेद २७.२६ मन्त्र के भाष्य में 'आपः' पद का अर्थ 'व्याप्तिशीलाः सूक्ष्मास्तन्मात्राः' किया है। इससे भी हमारे मत की पुष्टि होती है कि आयन्स वा एटम्स ही आपः के परमाणु हैं। ये आयन हाइड्रोजन से लेकर भारी तत्त्वों के भी हो सकते हैं। सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास के अनुसार जल के एक अणु में कुल चार द्वयणुक अर्थात् कुल ४८० प्रकार की प्राण व छन्दादि रश्मियाँ होती हैं। इतनी रश्मियों के संघात पर स्वाद गुण प्रकट हो जाता है, ऐसा हमारा मत है। यहाँ रश्मियों की संख्या सबसे लघु आयन अथवा एटम में माननी चाहिए। बड़े आयन व एटम में यह अधिक हो सकती है, परन्तु ६०० अथवा ७२० से न्यून होगी। इसके समान होने पर वह पृथिवी महाभूत का रूप प्राप्त कर लेगा, भले ही वह आयन व एटम रूप में ही क्यों न हो।

प्रश्न— महर्षि कणाद ने आपः महाभूत के गुणों के विवेचन में कहा है—

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः (वै.द.२.१.२), अप्सु शीतता (वै.द.२.२.५)

अर्थात् रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व व स्निग्धता को जल का गुण बतलाया है तथा शीतलता भी इसका एक लक्षण बतलाया है। आयन्स वा एटम्स में ये चार गुण, विशेषकर रस व शीतता कैसे सिद्ध होंगे?

उत्तर— सर्वप्रथम हम 'रस' शब्द पर विचार करते हैं—

रसः = अन्ननाम (निघं.२.७)
= सर्वद्रव्यसारः (म.द.य.भा.१८.९)

इन दोनों बिन्दुओं से भी आपः का आयन वा एटम रूप होना सिद्ध है। अन्नत्व अर्थात् संयोजकता का गुण इनमें सर्वविदित है। सम्पूर्ण सृष्टि के सभी लोक इन्हीं से बने होने से ये 'आपः' सम्पूर्ण पदार्थों के सार रूप होने से रस गुण से युक्त सिद्ध होते हैं। यह 'रस' शब्द 'रस आस्वादनस्नेहनयोः' धातु से निष्पन्न होता है। इससे आस्वादन व स्नेहन दोनों गुणों का होना सिद्ध होता है। 'स्नेहन' संयोजन का ही रूप है, जो यह सिद्ध करता है कि रस गुणयुक्त पदार्थ परस्पर स्नेह अर्थात् आकर्षणयुक्त होते हैं। यह हम आयन्स वा एटम्स में सिद्ध कर

चुके हैं। यदि स्वाद की बात करें, तो महर्षि ऐतरेय महीदास ने कहा है—

मिथुनं वै स्वादु (ऐ.आ.१.३.४)

अर्थात् युग्म बनाने का गुण ही स्वाद है, जो हमारे आप: परमाणुओं में अनेकविध सिद्ध किया जा चुका है। यदि कोई पाठक रसना (जिह्वा) द्वारा ग्रहण किये गये स्वादमात्र को ही जल का गुण माने, तब भी हमारा मत है कि हमारी रसना से किसी भी पदार्थ के क्रिया करने पर आयनिक अवस्था उत्पन्न होती है और उस अवस्था में ही स्वाद की अनुभूति होती है। हमारे मत में इस सृष्टि के प्रत्येक आयन वा एटम में कोई न कोई स्वाद गुण अवश्य होता है, भले ही वह अति सूक्ष्म वा अव्यक्त ही क्यों न हो।

दूसरा तथ्य यह भी है कि प्रत्येक प्राणी की स्वाद ग्रहण करने की अपनी-२ सीमित क्षमता है। जिस स्वाद को हम ग्रहण नहीं कर सकते, उसमें स्वाद ही नहीं होता, यह मानना मिथ्या है। स्वाद क्या होता है? उसके ग्रहण करने का क्या विज्ञान है? वर्तमान विज्ञान इसे यत्किंचित् ही जानता है। रसायनशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के एक भारतीय वैज्ञानिक, मेडिकल कॉलेज के फिजियोलॉजी विभाग के अध्यक्ष व प्रोफेसर से भी चर्चा के पश्चात् मेरा यह मत बना है। जब कभी वर्तमान विज्ञान स्वाद एवं उसके विज्ञान को गहराई से जानेगा, तब उसे मेरे मत की सत्यता का बोध होगा कि स्वाद गुण प्रत्येक आयन का होता है। कोई आयुर्वेदज्ञ भी स्वाद को छ: की संख्या तक ही सीमित न समझे, बल्कि स्वाद अनेक हो सकते हैं।

रस गुण की चर्चा के पश्चात् हम शीत गुण पर भी विचार करते हैं। इस विषय में हमारा मत है कि यदि किसी आयन वा एटम में ऊर्जा नहीं हो, तो वह निश्चित रूप से शीतल ही होगा, उष्ण कभी नहीं। इस कारण शीतता आप: (जल) महाभूत का स्वाभाविक गुण है। उसमें उष्णता का होना केवल अग्नि के सानिध्य से ही सम्भव होता है। दूसरा पक्ष यह है कि 'शीत' शब्द 'श्यैङ् गतौ' धातु से निष्पन्न होता है, इससे सतत गतिशीलता को भी शीतता का पर्यायवाची माना जा सकता है। यही द्रवत्व भी कहलाता है। अन्तिम गुण स्निग्धता अर्थात् स्नेहपन बतलाया गया है।

इसका भी आशय यही है कि आप: के परमाणु एक-दूसरे के प्रति आकर्षण का भाव रखते किंवा एक-दूसरे के ऊपर फिसलते हुए गति करते हैं, इस कारण भी आयन्स वा एटम्स

ही आप: अर्थात् जल महाभूत के परमाणु हैं। प्राय: सभी विद्वानों ने लोकप्रसिद्ध जल (वॉटर) को ही जल (आप:) महाभूत मानने की भ्रान्ति की है, तो कुछ विद्वानों ने प्रत्येक तरल पदार्थ को जल महाभूत मान लिया है। उन्होंने यह नहीं विचारा कि प्रत्येक ठोस पदार्थ भी गर्म होकर तरल अवस्था को प्राप्त कर सकता है और प्रत्येक तरल पदार्थ भी जमकर ठोस हो सकता है। वस्तुत: ब्राह्मण ग्रन्थों एवं वेदों की विभिन्न शाखाओं के गम्भीर अध्ययन के अभाव में दर्शनों को समझने में भारी भ्रान्ति हो रही व होती है।

अब इस महाभूत की उत्पत्ति के विषय में महर्षि ब्रह्मा का वचन उद्धृत करते हैं—

चतुर्थमापो विज्ञेयं जिह्वा चाध्यात्ममुच्यते।
अधिभूतं रसश्चात्र सोमस्तत्राधिदैवतम्॥ २१॥
(महाभारत आश्व.पर्व, अनुगीता पर्व, अ.४२)

अर्थात् चतुर्थ महाभूत आप: कहलाता है। इसकी उत्पत्ति के समय प्राणियों के शरीर में कार्य करने वाली रसनेन्द्रिय की भी उत्पत्ति होती है। इसी समय रस अर्थात् स्वाद गुण (जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं) तथा सोम तत्त्व की भी उत्पत्ति होती है। यहाँ सोम का अर्थ मरुद् रश्मियाँ नहीं है, बल्कि वृत्रासुर संज्ञक विशाल आसुर मेघ है। असुर तत्त्व के विषय में आगे यथास्थान लिखा जायेगा। इसके विषय में महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है—

वृत्रो वै सोम आसीत् (श.ब्रा.३.४.३.१३)

उधर महर्षि भृगु का आप: महाभूत की उत्पत्ति के विषय में कथन है—

अग्नि: पवनसंयुक्त: खं समाक्षिपते जलम्।
सोऽग्निमारुतसंयोगाद् घनत्वमुपपद्यते॥ १५॥
(महाभारत, शा.प., मोक्षधर्म पर्व, अ.-१८३)

अर्थात् पूर्वोक्त अग्नि तत्त्व वायु तत्त्व के साथ संयुक्त होकर घनत्व को प्राप्त करके आकाश में जल महाभूत के रूप में प्रकट होकर अच्छे प्रकार उछलने लगा अर्थात् वह सघन हुआ पदार्थ आकाश में तरल रूप में (द्रव, गैस वा प्लाज्मा अवस्था) बहने लगता है। ध्यातव्य है कि वर्तमान भौतिक विज्ञान की भाषा में हवा भी तरल का ही रूप होती है, क्योंकि यह भी दबाव में अपना आकार बदलने लगती है। मैंने तरल की यह परिभाषा दिनांक २०.०७.२०१४

को डिस्कवरी साइंस चैनल पर भी सुनी थी।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि जल महाभूत उत्पन्न होते समय विशेष उष्ण नहीं होता, बल्कि कुछ समय पश्चात् अग्नि तत्त्व के विशेष संयोग से वह धीरे-२ तप्त होने लगता है। इस प्रक्रिया में 'ओम्' के साथ-२ अहंकार, आकाश तत्त्व, विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियाँ आदि सबकी भूमिका होती है। सर्वप्रेरक के रूप में ईश्वर तत्त्व की सर्वत्र अनिवार्य भूमिका समझें, जो 'ओम्' रश्मियों के माध्यम से सबका संचालन सतत करता रहता है। महर्षि सुश्रुत ने

सत्त्वतमोबहुला आपः (सु.सं. शारीरस्थानम् १.२७)

कहकर विभिन्न आयन्स वा एटम्स रूपी आपः महाभूत को सत्त्व एवं तमोगुण प्रधान बताया है। इस कारण इनमें प्रकाश व द्रव्यमान की मात्रा अधिक तथा क्रियाशीलता अग्नि तत्त्व से न्यून होती है। इनमें धारण व आकर्षण बल अपेक्षाकृत अधिक होता है।

प्रश्न— आपकी दृष्टि में लोकप्रचलित जल (वॉटर) किस महाभूत के अन्तर्गत आता है?

उत्तर— यद्यपि इसमें आयन्स के स्थान पर मोलिक्यूल्स होते हैं, परन्तु यह प्रत्येक विलेय पदार्थ को आयनों में विभाजित करने का प्रयास करता है तथा इसके अन्य सभी गुण जल महाभूत के समान हैं, इस कारण इसे भी जल महाभूत मानना चाहिए।

५. पृथिवी

अन्त में अन्तिम अर्थात् पञ्चम महाभूत पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इसे वैदिक वाङ्मय में 'भूमि' नाम से भी जाना जाता है। सर्वप्रथम हम इसके विषय में विभिन्न आर्ष वचनों को उद्धृत करते हैं—

१. अद्भिः पृथिवीम् (अन्वाभवत्) (काठ.सं.४३.४ -ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
२. अयं लोक ऋग्वेदः (ष.ब्रा.१.५)
३. अयं वै लोकः सुक्षितिः अस्मिन्हि लोके सर्वाणि भूतानि क्षियन्ति (श.ब्रा.१४.१.२.२४ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
४. आपो वा इदमासन् सलिलमेव, स प्रजापतिर्वराहो भूत्वोपन्यमज्जत्, तस्य यावन्मुखमासीत् तावतीं मृदमुदहरत् सेयं (पृथिवी) अभवत् (काठ.सं.८.२)
५. इयं वा यज्ञायज्ञीयम् (जै.ब्रा.१.१७३)

६. इयं वै वेदिः (श.ब्रा.७.३.१.१५)
७. इयम् उ वै यज्ञो ऽस्याः हि यज्ञस्तायते (श.ब्रा.६.४.१.९)
८. इयम् उ वाऽ एषां लोकानां प्रथमासृज्यत (श.ब्रा.१.५.३.१ -ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
९. तद् यद् वै भूः इति तदयं लोकः (जै.ब्रा.१.३६४)
१०. पृथिवी वा अन्नानां शमयित्री (कौ.ब्रा.६.१४)
११. पृथिव्यसि जन्मना वशा, सा ऽग्निं गर्भमधत्थाः (मै.सं.२.१३.१५)
१२. पृष्ठम् वा अयम् अग्निरस्य लोकस्य (जै.ब्रा.३.२५२)
१३. अग्निरेकाक्षरया मामुदजयदिमां पृथिवीम् (काठ.सं.१४.४)
१४. पृथिवी समित् तामग्निः समिन्धे (मै.सं.४.९.२३)
१५. अयमेव (भूलोकः) गायत्री (तां.ब्रा.७.३.९),
जगती हीयम् (पृथिवी) (श.ब्रा.२.२.१.२०),
त्रिष्टुभीयम् (पृथिवी) (श.ब्रा.२.२.१.२०),
गायत्री वा ऽ इयं (पृथिवी) (श.ब्रा.४.३.४.९),

इन आर्ष वचनों पर विचार करने पर निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. आपः महाभूत से पृथिवी महाभूत उत्पन्न होता है। हम यह पूर्व में लिख चुके हैं कि विभिन्न आयन्स वा एटम्स ही आपः महाभूत हैं। इस कारण इनके संयोग से उत्पन्न अणु (मोलिक्यूल्स) ही पृथिवी महाभूत का रूप अर्थात् पार्थिव परमाणु कहलाते हैं।
२. इस महाभूत के परमाणुओं में पूर्वोक्त 'ऋक्' छन्द रश्मियों की बहुलता रहती है, अन्य छन्द रश्मियों की न्यूनता रहती है। सत्यार्थ प्रकाश के अनुसार इसके सूक्ष्मतम रूप में कुल ६०० अथवा ७२० परमाणु अर्थात् इतने प्रकार की रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। इससे अधिक तो हो सकती हैं, परन्तु न्यून नहीं।
३. इस महाभूत के परमाणु अन्य सभी महाभूतों का निवास स्थान होते हैं अर्थात् विभिन्न मोलिक्यूल्स में सदैव नाना आयन्स, ऊर्जा व प्राणादि रश्मियों के साथ आकाश भी विद्यमान होता है। अणुओं के अन्दर ये सभी पदार्थ स्वतन्त्रावस्था की अपेक्षा अधिक उत्तम प्रकार से स्थित होते हैं अर्थात् यहाँ उनके चाञ्चल्यादि गुण अपेक्षाकृत न्यून मात्रा में होते हैं।
४. ब्रह्माण्ड में इस महाभूत (मोलिक्यूलर स्टेट) से पूर्व विभिन्न आयन्स सलिल रूप में

विद्यमान होते हैं अर्थात् मानो सभी मोलिक्यूल्स (पार्थिव परमाणु) उसी में लीन हो रहे होते हैं। उसी समय प्रजापति रूपी वाक् व मनस्तत्त्व वराह रूप धारण करते हैं।

वराह: = अङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यन्ते (निरु.५.४)
अङ्गिरा: = सूत्रात्मा प्राण: (तु.म.द.य.भा.२७.४५),
अग्नि: (तु.म.द.य.भा.११.६१),
प्राणबल: (तु.म.द.ऋ.भा.१.६२.५)

इसका तात्पर्य यह है कि उस समय विभिन्न आप: परमाणुओं पर विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की वृष्टि होने के साथ-२ ईश्वर तत्त्व द्वारा प्रेरित मनस्तत्त्व सूत्रात्मादि प्राण रश्मियों को घेरे में लेकर उन्हें आकाश के द्वारा सम्पीडित करके अपेक्षाकृत सघन रूप में प्रकट करता है। यही सघन रूप पृथिवी महाभूत अर्थात् मोलिक्यूलर स्टेट के रूप में जाना जाता है। वे सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ छोटे-२ पैकेट्स के रूप में आप: परमाणुओं को बाँधकर पार्थिव परमाणुओं में परिवर्तित करने लगती हैं।

५. ये परमाणु अर्थात् विभिन्न मोलिक्यूल्स संयोग व वियोग की प्रवृत्ति वाले होकर नाना स्थूल पदार्थों व लोकों का निर्माण करते हैं।
६. ये परमाणु नाना प्रकार के सूक्ष्म परमाणु वा रश्मि आदि पदार्थों के लिए वेदी रूप होते हैं, क्योंकि इनमें सूक्ष्म पदार्थों की सदैव आहुति दी जाती रहती है। इस आहुति से नाना प्रकार के बड़े मोलिक्यूल्स बनते रहते हैं। कालान्तर में इनसे नाना लोकों, विभिन्न प्राणी व वनस्पतियों के शरीरों का निर्माण होता है।
७. विभिन्न मोलिक्यूल्स स्वयं विभिन्न आयन्स एवं प्राणादि रश्मियों के संघात होने से यज्ञ रूप होते हैं तथा इनसे आगे सम्पूर्ण सृष्टि यज्ञ विस्तृत होता है अर्थात् ये मोलिक्यूल्स नाना रश्मि वा कण आदि पदार्थों के साथ संगत होते रहकर नाना पदार्थों का निर्माण करते हैं। संयोगादि प्रक्रिया के अभाव में भी विभिन्न मोलिक्यूल्स में से नाना सूक्ष्म रश्मियों का आवागमन निरन्तर होता रहता है।
८. व्याहृति रश्मि रूप लोकों की उत्पत्ति के क्रम में पार्थिव परमाणुओं में प्रचुरता से विद्यमान रहने वाली 'भू:' व्याहृति रश्मि व गायत्री छन्द रश्मियों की उत्पत्ति सर्वप्रथम होती है, तत्पश्चात् ही 'भुव:' आदि व्याहृति तथा त्रिष्टुबादि छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह भी संकेत स्पष्ट है कि इस ब्रह्माण्ड में अप्रकाशित ग्रहादि लोक प्रकाशित तारे

आदि लोकों से पूर्व उत्पन्न होते हैं। यह मत वर्तमान सृष्टि विज्ञान के विपरीत है।

९. विभिन्न मोलिक्यूल्स में 'भूः' नामक व्याहृति रश्मियों की विशेष प्रधानता होती है।

१०. मोलिक्यूल्स के अन्दर विद्यमान विभिन्न आयन्स, जो स्वतन्त्रावस्था में अति सक्रिय वा क्षुब्ध होते हैं, अपेक्षाकृत बहुत शान्त होते हैं। इनसे पुनः कोई अन्य आयन मिलता है, तो वह भी शान्त व सन्तुलन को प्राप्त कर लेता है।

११. कोई भी पार्थिव परमाणु (मोलिक्यूल) उत्पन्न होते ही आकर्षण बल व सूक्ष्म दीप्ति से युक्त होता है। कोई फोटोन वा इलेक्ट्रॉन उससे मिलकर उसमें गर्भ का रोपण कर देता है, जिससे वह मोलिक्यूल उत्तेजित हो उठता है। इससे वह अन्य कणों के साथ संगत होने में विशेष प्रवृत्त होकर नाना पदार्थों के निर्माण में सक्षम हो जाता है।

१२. प्रत्येक मोलिक्यूल सब ओर से ऊर्जा से आवृत्त होता है, जिसके कारण वह सतत गति व कम्पन करता रहता है अर्थात् कभी भी पूर्णतः निष्क्रिय वा गतिहीन नहीं होता। इसके साथ ही ऊर्जा व विद्युत् ही इनका आधार भी होती हैं।

१३. इसकी व्याख्या हम अग्नि महाभूत के प्रकरण में कर चुके हैं।

१४. विभिन्न मोलिक्यूल्स ईंधन रूप होते हैं, जिन्हें अग्नि तत्त्व अर्थात् विद्युत् चुम्बकीय तरंगें जलाती वा प्रकाशित करती हैं। इसका आशय है कि इस सृष्टि में प्रकाशित पदार्थ के रूप में ये मोलिक्यूल्स ही होते हैं, परन्तु उनमें प्रकाश फोटॉन्स का ही होता है, न कि इनका स्वयं का। ध्यातव्य है कि पूर्वोक्त आपः के परमाणु भी इसी भाँति प्रकाशित होते हैं।

१५. इनमें गायत्री, त्रिष्टुप् व जगती तीनों छन्द रश्मियाँ प्रचुर मात्रा में विद्यमान होती हैं, पुनरपि इनमें भी गायत्री छन्द रश्मियाँ सर्वाधिक मात्रा में होती हैं। ध्यातव्य है कि अनुष्टुप्, उष्णिक् आदि छन्द रश्मियों का यहाँ निषेध नहीं किया गया है। कुछ तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने तो इनमें अनुष्टुप् छन्द रश्मियों की भी प्रचुरता को दर्शाते हुए कहा है—

इयं (पृथिवी) वा ऽनुष्टुप् (तां.ब्रा.८.७.२; श.ब्रा.१.३.२.१६)।

सारांशतः इसमें सभी छन्द व प्राण रश्मियाँ विद्यमान होती हैं।

प्रश्न— महर्षि कणाद ने गन्ध को पृथिवी महाभूत का गुण बतलाते हुए कहा है—

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी (वै.द.२.१.१), व्यवस्थितः पृथिव्याँ गन्धः (वै.द.२.२.३)

अर्थात् पृथिवी महाभूत में गन्ध का होना उसका निजी गुण है। शेष शब्द, स्पर्श, रूप व स्वाद गुण अन्य महाभूतों के कारण विद्यमान होते हैं। क्या सभी मोलिक्यूल्स गन्धयुक्त होते हैं?

उत्तर— वर्तमान विज्ञान 'गन्ध' गुण के स्वरूप से अनभिज्ञ है। उसकी दृष्टि में प्रत्येक प्राणी की नासिका में गन्ध ग्रहण करने वाले अतिसूक्ष्म छिद्र होते हैं। जब कोई अणु हवा में उड़कर उन छिद्रों में बैठ जाता है, उस समय गन्ध गुण की अनुभूति मस्तिष्क द्वारा होती है। इसकी एक निश्चित प्रक्रिया है। जब कोई अणु उन छिद्रों में उचित ढंग से बैठ नहीं पाता, तब उस अणु की गन्ध का ज्ञान मस्तिष्क में नहीं हो पाता। माना जाता है कि मनुष्य दस हजार प्रकार की गन्धों का ज्ञान कर सकता है। कुत्ते आदि प्राणी की गन्ध ग्रहण की क्षमता विशेष होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि कोई अणु (मोलिक्यूल) हमारी नासिका के गन्धग्राही छिद्रों में न समाए, उसकी गन्ध का अनुभव हमें भले ही न हो, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उसमें गन्ध ही नहीं है। ऐसा निष्कर्ष निकालना उसी प्रकार मिथ्या होगा जैसे हमारी तुला में कोई बड़ा पदार्थ न समा सके, तब हम यह कह दें कि उस पदार्थ में भार ही नहीं है, क्योंकि हमारी तुला उसे नहीं तोल पा रही। हमारा मानना है कि इस ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अणु में गन्ध अवश्य है, भले ही उसे कोई भी प्राणी अनुभव न कर सके। अपवाद रूप में जिस किसी अणु में गन्ध का गुण नहीं हो, उसे आपः महाभूत की श्रेणी में माना जाना चाहिए। उदाहरण के लिए हम पूर्व में जल (वॉटर) को आपः महाभूत का रूप दर्शा चुके हैं। इधर जिस एटम वा आयन में ६०० अथवा ७२० प्राण व छन्द रश्मियाँ हों, वह आपः नहीं बल्कि पृथिवी महाभूत की श्रेणी में आयेगा और उसमें गन्ध गुण भी प्रकट हो जायेगा, ऐसा हमारा मत है।

पाठकगण! यह भी ध्यान रहे कि किसी भी महाभूत में उससे पूर्व उत्पन्न सभी महाभूतों का अंश विद्यमान होता है, इस कारण उसमें उससे पूर्व के सभी महाभूतों के गुण भी विद्यमान होते हैं। इसी कारण प्रत्येक मोलिक्यूल (पार्थिव परमाणु) में गन्ध के अतिरिक्त आकाश का शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि का रूप तथा आपः का रस गुण भी विद्यमान होते हैं।

इसकी उत्पत्ति के विषय में महर्षि ब्रह्मा का कथन है—

पृथिवी पञ्चमं भूतं घ्राणश्चाध्यात्ममुच्यते॥
अधिभूतं तथा गन्धो वायुस्तत्राधिदैवतम्॥ २२॥

(महाभारत, आश्व. पर्व, अनुगीता पर्व, अ. ४२)

अर्थात् पृथिवी अन्तिम एवं पाँचवाँ महाभूत है। इसकी उत्पत्ति के समय ही प्राणियों के शरीर में कार्यरत घ्राण इन्द्रिय की भी उत्पत्ति होती है। उसी समय गन्ध गुण भी प्रकट होता है अर्थात् इस महाभूत की उत्पत्ति के पूर्व इस ब्रह्माण्ड में कहीं भी गन्ध का प्रादुर्भाव नहीं होता है। उसी समय वायु के उत्पन्न होने का अर्थ यह है कि पृथिवी महाभूत की उत्पत्ति से पूर्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विभिन्न आयन्स एवं एटम्स की प्लाज्मा, गैस वा तरलावस्था से भरा था, वही ब्रह्माण्ड अब मोलिक्यूल्स से भर जाता है। सर्वप्रथम वे मोलिक्यूल्स गैसीय अवस्था को ही धारण कर शनैः-२ सघन रूप धारण कर पाते हैं। यहाँ उस गैसीय मोलिक्यूलर स्टेट को ही वायु नाम दिया गया है। यहाँ किसी को वायु महाभूत का भ्रम नहीं होना चाहिए, यह ध्यातव्य है। इस विषय में महर्षि भृगु का कथन है—

तस्याकाशे निपतितः स्नेहस्तिष्ठति योऽपरः।
स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति॥ १६॥

(महाभारत, शा.प., मोक्षधर्म पर्व, अ. १८३)

इसका आशय है कि पूर्वोत्पन्न स्नेहरूप जल महाभूत आकाश, वायु व अग्नि के द्वारा सम्पीडित होकर संघात को प्राप्त होकर पार्थिव परमाणुओं में परिवर्तित होता है। पातञ्जल योग सूत्रों के ३.४४ के व्यास भाष्य में पृथिवी को 'मूर्तिः भूमिः' नाम से व्याख्यात किया गया है। इससे स्पष्ट है कि ब्रह्माण्ड में सभी लोक आदि मूर्तिमान् पदार्थ पार्थिव परमाणुओं से ही बने हुए होते हैं। ध्यातव्य है कि गन्ध गुण ही पृथिवी महाभूत का सर्वोपरि गुण है, मूर्तिमान् होना आदि गुण गौण तथा कालान्तर में उत्पन्न होने वाले हैं। आचार्य सुश्रुत ने इसे 'तमोबहुला पृथिवी' (सु.सं., शारीरस्थानम् १.२७) कहकर तमोगुण प्रधान कहा है। इस कारण इनमें द्रव्यमान सर्वाधिक तथा प्रकाश व क्रियाशीलता अपेक्षाकृत न्यून होती है। इसमें धारण व आकर्षण बल अपेक्षाकृत न्यून होता है। ध्यातव्य है कि इस ग्रन्थ में हमने अनेकत्र 'पृथिवी' से सभी अप्रकाशित कणों अर्थात् मूलकणों का ग्रहण भी किया है। उस सन्दर्भ में पाठक ऐसा ही ग्रहण करें।

इस प्रकार इन पाँच महाभूतों से ही सम्पूर्ण सृष्टि निर्मित हुई है। वर्तमान विज्ञान में मूलकण माने जाने वाले क्वार्क्स, लेप्टॉन्स वा फोटोन्स आदि को कहीं अनादि, तो कहीं

निर्मित हुआ माना जाता है। इटर्नल यूनिवर्स थ्योरी इन्हें अनादि मानती है, जबकि बिग बैंग थ्योरी इन कणों को मूलकण मानते हुए भी अनादि न मानकर निर्मित होने वाला मानती है, परन्तु विज्ञान इस बात से लगभग अनभिज्ञ है कि ये मूलकण कैसे व किससे बनते हैं? मूलकणों से प्रोटॉन्स व न्यूट्रॉन्स आदि द्वितीयक कणों के बनने के विषय में वर्तमान विज्ञान अवश्य विचार करता है। इधर हमारा वैदिक विज्ञान वर्तमान विज्ञान के मूलकणों के विषय में अधिक गम्भीरता व सूक्ष्मता से विचार करता है। आइये, हम अब मूल कण एवं क्वाण्टा की उत्पत्ति प्रक्रिया पर वैदिक भौतिकी का मत प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं।

फोटोन व मूलकणों की उत्पत्ति की वैदिक प्रक्रिया

'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में वर्तमान विज्ञान द्वारा मूलकण वा फोटोन्स के निर्माण के विषय में विस्तार से चर्चा है। वर्तमान भौतिकी सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ होने के समय ही इनके निर्माण को स्वीकार करती है। इसकी दृष्टि में मूलकण व क्वाण्टा से सूक्ष्म तथा इनके उपादान कारणभूत किसी पदार्थ की कोई सम्भावना नहीं है। यहाँ ये ही सर्वप्रथम उत्पन्न सूक्ष्म पदार्थ हैं, जबकि वैदिक भौतिकी में मूलकण व क्वाण्टा पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति प्रक्रिया में अग्नि महाभूत की उत्पत्ति से प्रारम्भ होते हैं किंवा ये सभी इसी के दो प्रकार के रूप हैं। इनके उत्पन्न होने के पूर्व इस सृष्टि में काल व महत् से लेकर वायु महाभूत तक कितने प्रकार के पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इससे पाठक अवगत हो चुके हैं।

अब इस ग्रन्थ के आधार पर मूलकण व तरंगाणु के निर्माण की प्रक्रिया को संक्षेप से दर्शाते हैं। ये दोनों प्रकार के पदार्थ अग्नि महाभूत का रूप होते हैं, यह बात हम अग्नि महाभूत के प्रकरण में इंगित कर चुके हैं। इन दोनों प्रकार के पदार्थों के निर्माण की प्रक्रिया मौलिक रूप से समान है। इस प्रक्रिया का सार निम्नानुसार है—

हम पूर्व में यह चर्चा कर चुके हैं कि अग्नि महाभूत की उत्पत्ति वायु महाभूत के पश्चात् उस समय तक उत्पन्न पदार्थों के विशिष्ट मेल व संघनन से होती है। मूलकण व विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की उत्पत्ति के पूर्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अनेक प्रकार की प्राण व छन्दादि रश्मियों के रूप में वर्तमान होता है। ये सभी रश्मियाँ मनस्तत्त्व वा अहंकार में सूक्ष्मतम छन्द रश्मि 'ओम्' के कारण उत्पन्न होती हैं। इन रश्मियों की तुलना वर्तमान विज्ञान द्वारा जानी गई किसी भी तरंग (वेव्स) से नहीं की जा सकती, बल्कि ये रश्मियाँ उन सभी पदार्थों की

कारण हैं। वायु महाभूत तक की उत्पत्ति-प्रक्रिया वर्तमान विज्ञान की किसी भी सृष्टि प्रक्रिया के प्रारम्भ होने से पूर्व की स्थिति है, जिसका वर्तमान विज्ञान को कोई भान तक नहीं है। अस्तु।

विभिन्न प्राण व छन्दादि रश्मियों का मिश्रण वायु नाम से सर्वत्र लगभग एकरस भरा रहता है। यहाँ एकरसता का तात्पर्य यह नहीं है कि कहीं कोई गति वा फ्लक्चुएशन नहीं होता, बल्कि इनके विद्यमान रहते हुए भी पदार्थ कहीं भी न तो सघन रूप को धारण करता है और न ही वह किसी तरंग का व्यवहार करने में समर्थ होता है। इस समय सर्वनियन्ता ईश्वर तत्त्व अपने सर्वाधिक निकटस्थ 'ओम्' छन्द रश्मियों किंवा काल तत्त्व के द्वारा पदार्थ अर्थात् कण वा क्वाण्टा के निर्माण हेतु वायु तत्त्व को प्रेरित करने लगता है। ये 'ओम्' छन्द रश्मियाँ सूत्रात्मा वायु, निविद् एवं बृहती छन्द आदि रश्मियों को प्रेरित करके वायु तत्त्व में असंख्य स्थानों पर चक्रण (स्पिन) उत्पन्न करने लगती हैं।

इस प्रक्रिया के तीन चरण होते हैं, जिनमें क्रमशः गायत्री, त्रिष्टुप्, बृहती एवं जगती छन्द की विशेष भूमिका होती है। कणों की अपेक्षा क्वाण्टा में रश्मियों की सघनता व मात्रा न्यून होती है, किन्तु दोनों के बनने की प्रक्रिया लगभग समान होती है। स्पिन प्रारम्भ होने से पूर्व एक निचृत् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि सम्पूर्ण वायु तत्त्व में एक सौ बार सर्वत्र स्पन्दित होती है, उसके पश्चात् ही स्पिन प्रारम्भ होकर अनेक प्रक्रियाओं के चलते रहने के पश्चात् सर्वप्रथम तरंगाणु उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् लेप्टॉन्स व क्वार्क्स आदि अन्य सभी मूलकण कहे जाने वाले कणों की उत्पत्ति होती है। कण बनने की प्रक्रिया संक्षेप में इस प्रकार है—

सम्पूर्ण अवकाशरूप आकाश में जब मनस्तत्त्व से दिव्य वायु प्रकट होकर सर्वत्र भर जाता है, तब उसमें ईश्वरीय प्रेरणा से प्रेरित होकर कुछ सूक्ष्म रश्मियाँ सर्वत्र चक्रण प्रक्रिया प्रारम्भ कर देती हैं और जैसे-२ चक्रण प्रक्रिया तीव्र होती जाती है, कणों का रूप उभरने लगता है। इनमें भी फोटोन्स मूलकणों की अपेक्षा पहले उत्पन्न होते हैं, फिर सम्पूर्ण पदार्थ में अनेक प्रकार के स्पन्दनों के फलस्वरूप वर्तमान में मूलकण माने जाने वाले कण भी उत्पन्न होने लगते हैं।

जब चक्रण करते हुए किसी सम्पीडित सूक्ष्म भाग पर निवित् संज्ञक सूक्ष्म रश्मियों का प्रहार होता है और वह संघनित भाग गायत्री छन्द रश्मियों में से गुजरता है, तब वे गायत्री

छन्द रश्मियाँ त्रिष्टुप् एवं बृहती छन्द रश्मियों में परिवर्तित होती हुई उस संघनित भाग को अपने भीतर धारण कर लेती हैं।

प्रथम स्थिति चक्रीय गति प्रारम्भ कण रूप स्थिति
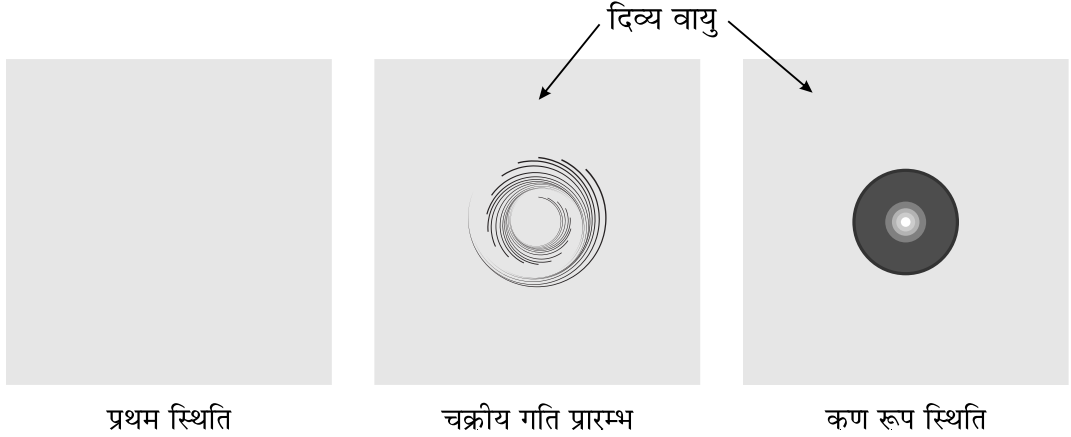
उधर वे निविद् रश्मियाँ उस संघनित भाग को आगे गति प्रदान करती हुई बृहती और त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों के क्षेत्र से बाहर कर देती हैं। तब वह बाहर निकला हुआ संघनित क्षेत्र मूलकण का रूप धारण कर लेता है। उधर त्रिष्टुप् एवं बृहती छन्द रश्मियाँ जगती छन्द रश्मियों में परिवर्तित होकर मूलकण से पृथक् हो जाती हैं। इस संघनित कण की संरचना स्थूल रूप से इस चित्र द्वारा समझी जा सकती है—

वहाँ तीन स्थानों पर पृथक्-२ दृष्टि से संघनन क्रिया एवं इसके द्वारा विभिन्न कण व क्वाण्टा के निर्माण को समझाया गया है। 'वेदविज्ञान-आलोक:' ग्रन्थ के खण्ड ३.१८ में विद्युत् धनावेशित, ऋणावेशित व उदासीन कण वा क्वाण्टा के निर्माण में त्रिष्टुप् व जगती छन्द रश्मि विशेष की भूमिका को रेखांकित किया गया है। ध्यातव्य है कि छन्द रश्मियों को सम्पीडित करने वाली केवल सूत्रात्मा वायु और निविदादि रश्मियाँ ही नहीं होतीं, अपितु प्राणापान-व्यान आदि प्राण रश्मियाँ भी इसमें अपनी भूमिका निभाती हैं। जब ये सम्पीडक प्राण रश्मियाँ सम्पीड्य रश्मियों की अपेक्षा दुर्बल होती हैं, तब सम्पीडन क्रिया सम्भव नहीं

होती और जब वे अतीव सबल होती हैं, तब तीव्र सम्पीडन को उत्पन्न करके मूलकणों को उत्पन्न करती हैं। जब सम्पीडक रश्मियाँ सम्पीड्य रश्मियों की अपेक्षा सबल तो होती हैं, परन्तु अतीव सबल नहीं, तब तरंगाणुओं का निर्माण होता है।

विभिन्न मूलकणों, आकाश तत्त्व तथा तरंगाणु में अर्थात् सर्वत्र ही विभिन्न छन्द रश्मियाँ युग्म के रूप में विद्यमान होती हैं। इनमें से तरंगाणुओं के अन्दर विद्यमान युग्मों में दोनों छन्द रश्मियाँ समान रूप से तीक्ष्ण सक्रिय व प्रकाशित होती हैं। इसके विपरीत आकाश तत्त्व एवं मूलकणों में विद्यमान युग्मों में दोनों छन्द रश्मियों की प्रकाशशीलता एवं सक्रियता की मात्रा में कुछ भेद होता है अर्थात् इस दृष्टि से आकाश तत्त्व (स्पेस) एवं मूलकणों में कुछ समानता है। इसी कारण तरंगाणुओं की अपेक्षा मूलकण अपने द्रव्यमान वा विद्युत् आवेश के द्वारा आकाश तत्त्व को अधिक प्रभावित कर पाते हैं। इसी कारण कण व क्वाण्टा तथा क्वाण्टा व आकाश तत्त्व का पारस्परिक इंटरेक्शन अपेक्षाकृत दुर्बल होता है।

वैदिक विज्ञान विभिन्न मूलकणों के विषय में एक महान् रहस्योद्‌घाटन यह करता है कि इन कणों व तारों की संरचना में कुछ समानता होती है। दोनों में ही केन्द्रीय भाग शेष विशाल भाग से पृथक् रहकर परस्पर पृथक्-२ गति से घूर्णन करते हैं। दोनों के विभिन्न भागों में प्राणादि रश्मियों की विद्यमानता सर्वथा समान नहीं होती, बल्कि कुछ भेद होता है। इसे निम्नांकित चित्रों से समझें—
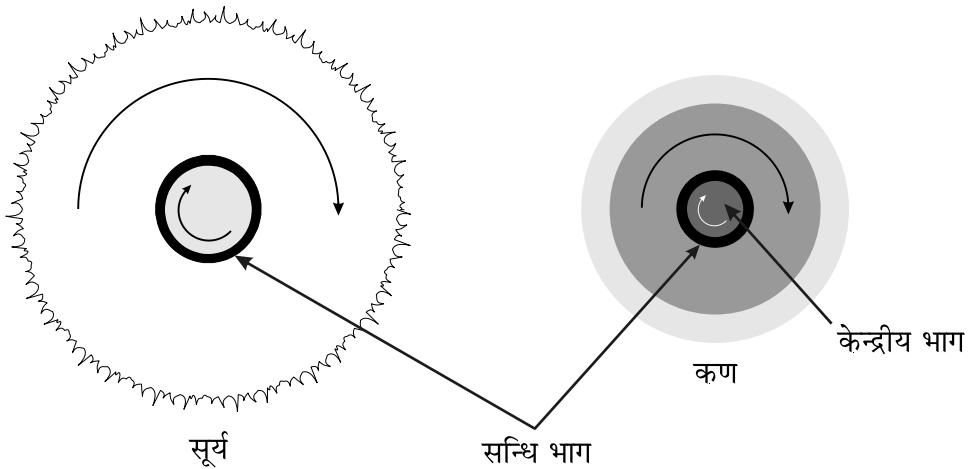
इस सृष्टि में कहीं-२ एवं कभी-२ विभिन्न तरंगाणु विभिन्न छन्द व मरुद् रश्मियों के

साथ संयोग करके विभिन्न कणों का निर्माण भी करते हैं। प्राण, छन्द व मरुद् रश्मियों के सम्पीडन से तरंगाणुओं का निर्माण हम बतला ही चुके हैं।

* * * * *

महाप्रलय
(प्रकृति - साम्यावस्था)
परा ओम् (चेतन तत्व से उत्पन्न व नियन्त्रित)
सक्रिय काल
(साम्यावस्था भंग)
महत्
उत्तेजित
अहंकार
उत्तेजित
मन
पश्यन्ती ओम्
व्याहृति रश्मियाँ
धनञ्जय, सूत्रात्मा वायु व
प्राथमिक प्राण रश्मियाँ
मास रश्मियाँ
ऋतु रश्मियाँ
आकाश
बड़ी छन्द रश्मियाँ
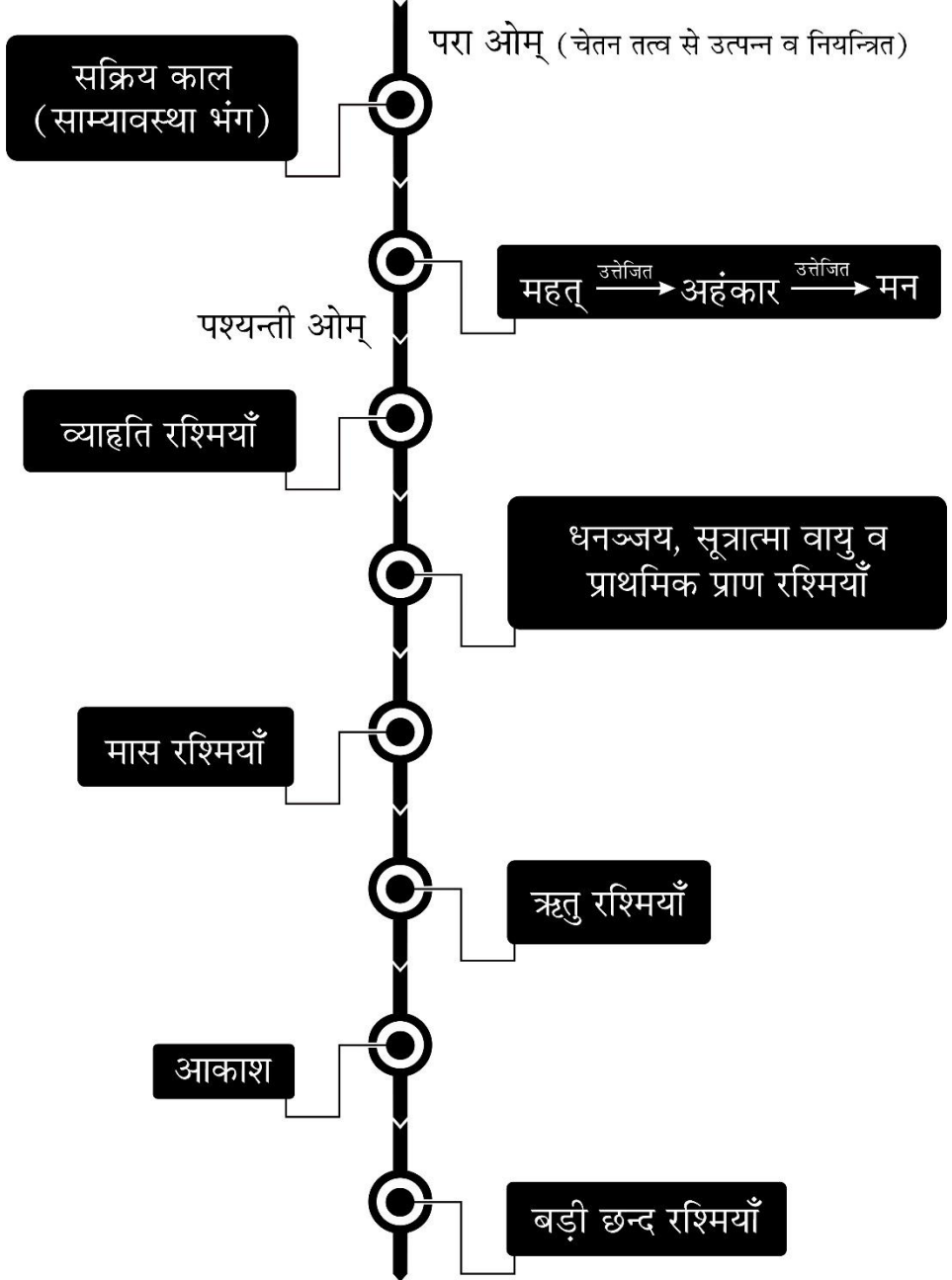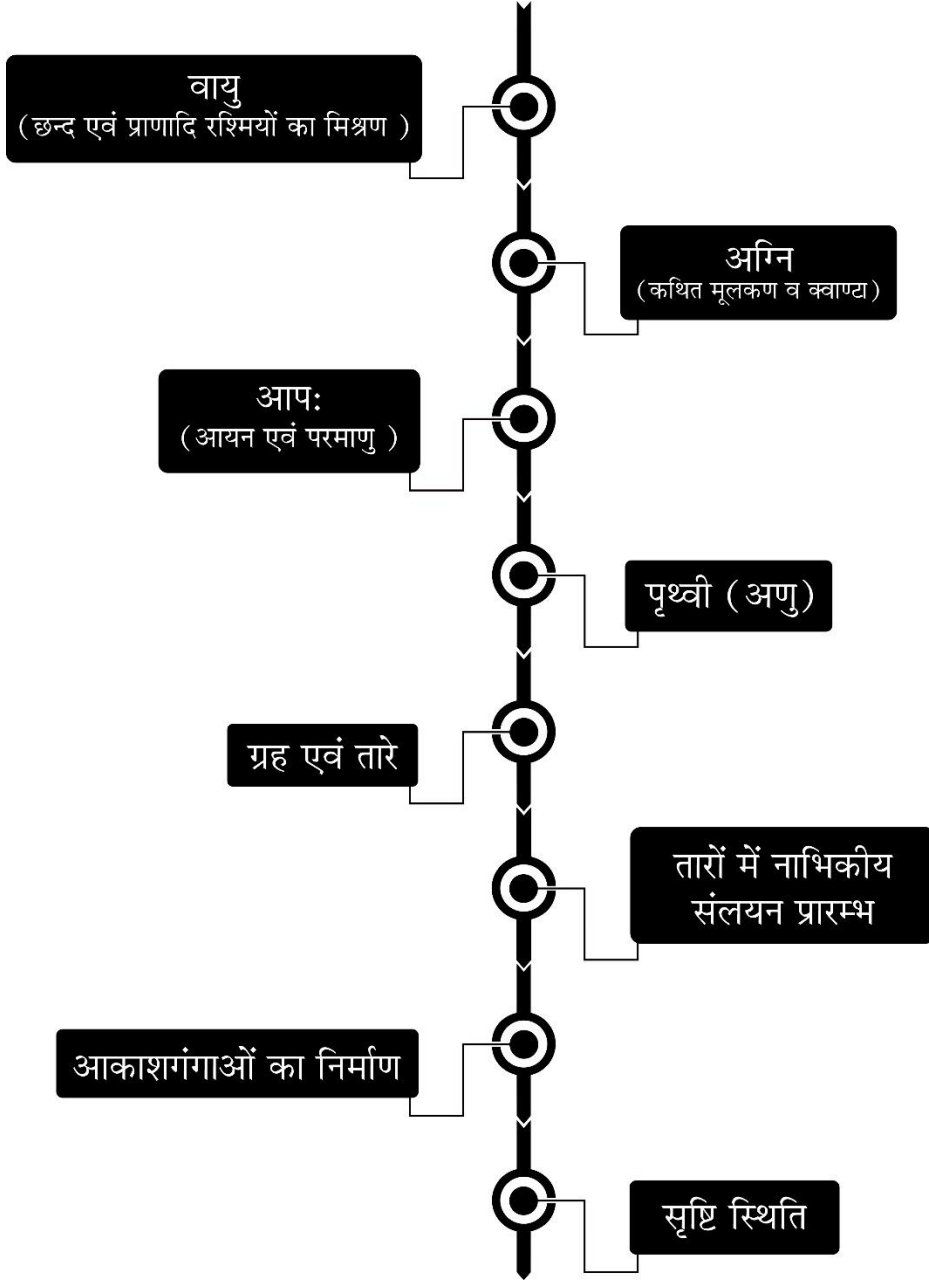
महाप्रलय
(प्रकृति - साम्यावस्था)
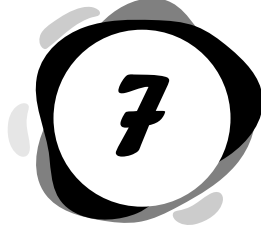
सृष्टि उत्पत्ति प्रक्रिया के अन्य ज्ञातव्य तथ्य

क्वाण्टा की द्वैत प्रकृति

तरंगाणुओं में जगती, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् एवं बृहती छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है। इनमें प्राण रश्मियाँ कणों की अपेक्षा विचित्र व भिन्न रीति से बँधी रहती हैं, जो तीक्ष्ण रूप से परस्पर संयुक्त व वियुक्त होती रहती हैं। इसी कारण तरंगाणु तरंग व कण दोनों की भाँति व्यवहार करने में समर्थ होते हैं। इलेक्ट्रॉन जैसे सूक्ष्म कण भी कुछ मात्रा में यही व्यवहार दर्शाते हैं, ऐसा वर्तमान विज्ञान मानता है। वर्तमान विज्ञान द्वैत प्रकृति को मानता तो है, परन्तु सम्भवत: वह उसके कारण पर विचार नहीं करता। आइए हम इस विषय पर संक्षिप्त विचार करने का प्रयास करते हैं—

कणों के निर्माण में प्राण रश्मियों का इस प्रकार का बन्धन होता है कि उस बन्धन की दृढ़ता के कारण वे कण फोटोन की अपेक्षा ठोस रूप प्राप्त किये होते हैं। आकाशतत्त्व विभिन्न तेजस्वी प्राण एवं मरुद् रश्मियों से निर्मित होता है। ये रश्मियाँ अति सक्रिय होती हैं। वे चक्रीय गति करती हुई एक-दूसरे को स्पर्श वा सिंचित करती रहती हैं। इसका अर्थ यह है कि आकाशतत्त्व की इकाइयाँ एक-दूसरे के साथ अत्यन्त शिथिल बलों से बँधी हुई अपने-अपने स्थान पर चक्रण करती रहती हैं। वे आकाश तत्त्व के फैलने पर एक-दूसरे से दूर जाती और सिकुड़ने पर एक-दूसरे के निकट आती हैं। इसके साथ ही आकाश की वे इकाइयाँ मूलकणों एवं फोटोन्स को स्पर्श वा सिंचित करती रहती हैं।

फोटोन्स में विभिन्न प्राण रश्मियाँ न तो मूल कणों की भाँति परस्पर सुदृढ़ बन्धनों से बँधी रहती हैं और न आकाश तत्त्व की इकाइयों की भाँति अत्यन्त शिथिल बन्धनों से युक्त होकर विभिन्न कणों वा लोकों को मार्ग प्रदान कर सकती हैं।

यहाँ फोटोन्स का स्वरूप मूलकण एवं आकाश तत्त्व की मध्यम श्रेणी का है, जिसके

कारण कोई भी फोटोन तरंग और कण दोनों ही प्रकार से व्यवहार कर सकता है। इलेक्ट्रॉन आदि सूक्ष्म कण भी रश्मियों की उस विरलावस्था से निर्मित होते हैं, जो विशेष परिस्थितियों में कण और तरंग दोनों की भाँति व्यवहार कर सकते हैं।

द्रव्यमान एवं उसका कारण

वर्तमान वैज्ञानिक द्रव्यमान का कारण हिग्स फील्ड को मानते हैं। सन् १९६१ में अमरीकी भौतिकशास्त्री पीटर हिग्स ने विचारा कि इस ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार के कण वा तरंगाणु (क्वाण्टा) विद्यमान हैं, उनमें से किन्हीं में द्रव्यमान होता है, तो किन्हीं में नहीं भी होता और जिनमें द्रव्यमान होता है, उनमें भी सबमें समान मात्रा में नहीं होता। इस कारण उन्होंने विचार किया कि इस ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा सार्वत्रिक फील्ड होना चाहिए, जिसके कारण ही किसी कण में द्रव्यमान का अस्तित्व होना चाहिए। पीटर हिग्स ने उस कल्पित फील्ड के बोसोन का नाम हिग्स बोसोन रख दिया। अब क्या था, सम्पूर्ण वैज्ञानिक जगत् में हिग्स बोसोन को खोजने की होड़ मची, परन्तु अनेक वर्षों तक यह ही समझ नहीं आया कि इसकी खोज कैसे हो? अन्ततः विश्व के वैज्ञानिकों ने संसार में भौतिकी की सबसे बड़ी प्रयोगशाला सर्न में एल.एच.सी. मशीन का निर्माण करके सन् २०१२ में हिग्स बोसोन को खोजने का दावा किया। वैज्ञानिक इसका द्रव्यमान प्रोटोन के द्रव्यमान से १३३ गुना मानते हैं। हमारा संसार के सभी वैज्ञानिकों से प्रश्न है कि यदि सृष्टि के सभी कणों में द्रव्यमान का कारण हिग्स बोसोन है, तब हिग्स बोसोन के द्रव्यमान का कारण क्या है? भारत के कुछ प्रख्यात भौतिकशास्त्रियों से हमने यह प्रश्न किया भी है, परन्तु आधुनिक भौतिक वैज्ञानिकों के पास इसका कोई उत्तर नहीं है, ऐसा वे भी स्वीकार करते हैं।

हम सर्वप्रथम यह जानना चाहते हैं कि द्रव्यमान, जिसे अंग्रेजी भाषा में मास कहा जाता है, वह क्या है? प्रख्यात अमरीकी वैज्ञानिक मैक्स जैमर का इस विषय में कथन है—

"Mass may be compared with an actor who appears on the stage in various disguises, but never as his true self. Actually mass- like the Deity- has a triune personality. It may appear in the role of gravitational charge or of inertia, or of energy, but nowhere does mass present itself to the

senses as its unadorned self.”[9]

इसका आशय है कि द्रव्यमान तीन रूपों में अभिव्यक्त माना जाता है। वे तीन रूप हैं— गुरुत्वाकर्षण, जड़त्व एवं ऊर्जा। वर्तमान विज्ञान शुद्ध द्रव्यमान के स्वरूप के विषय में मौन है किंवा उसके स्वरूप को इस सृष्टि में सदैव गुप्त ही मानता है।

द्रव्यमान के कारण सम्बन्धी पीटर हिग्स की अवधारणा और इस पर सम्पूर्ण विश्व में विगत लगभग ६० वर्ष के शोधकार्य पर हम जानना चाहते हैं कि यदि ग्रेविटेशनल चार्ज रूपी द्रव्यमान (मास), जो कि किसी पदार्थ का एक मूल गुण है, के विषय में यह धारणा बनाई गई है कि इसके पीछे कोई फील्ड ही कारण है और उस फील्ड को हिग्स फील्ड कहा गया तथा उसके बोसोन को खोजने का दावा भी किया गया, तब पदार्थ के अन्य ऐसे ही मौलिक गुण यथा— विद्युत् आवेश के विषय में यदि हम यह तर्क प्रस्तुत करें कि इसका कारण भी कोई फील्ड विशेष होना चाहिए। ध्यातव्य है कि विद्युत् चुम्बकीय फील्ड तो स्वयं विद्युदावेश के कारण उत्पन्न होता है, तब विद्युदावेश का कारण क्या है? जब द्रव्यमान को उत्पन्न करने वाला फील्ड होता है, तब क्यों न विद्युदावेश को उत्पन्न करने वाला फील्ड भी माना जाना चाहिए? आश्चर्य है कि ८.८×१०^{-२५} कि.ग्रा. द्रव्यमान वाला हिग्स बोसोन ९.१×१०^{-३१} कि.ग्रा. द्रव्यमान वाले इलेक्ट्रॉन का कारण माना जाता है। जब अत्यल्प द्रव्यमान वाले इलेक्ट्रॉन के द्रव्यमान का कारण हिग्स बोसोन है, तो उससे अत्यधिक द्रव्यमान वाले हिग्स बोसोन के द्रव्यमान का कोई कारण क्यों नहीं होना चाहिए?

वस्तुतः किसी भी पदार्थ का द्रव्यमान व विद्युत् आवेश दोनों ही मौलिक गुण हैं और दोनों के ही अपने कारण हैं। हमारे मत में द्रव्यमान वा विद्युत् आवेश उस पदार्थ से उत्पन्न होते हैं, जिनमें स्वयं द्रव्यमान वा विद्युत् आवेश नहीं होता। वैदिक विज्ञान के अनुसार प्रकृति का तमोगुण जड़त्व तथा द्रव्यमान का सबसे मूल कारण होता है, परन्तु स्वयं प्रकृति में कोई द्रव्यमान नहीं होता। इस कारण जहाँ-२ तमोगुण है, वहाँ-२ जड़त्व का यत्किंचित् अस्तित्व होता ही है, परन्तु यह मात्रा ऐसी होती है कि इसे मानव किसी भी तकनीक से अनुभव नहीं कर सकता। इसी दृष्टिकोण से तरंगाणुओं की बात तो क्या स्पेस में भी अति स्वल्प मात्रा में द्रव्यमान होता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो स्पेस कभी भी द्रव्यमानयुक्त वस्तु से कर्व हो ही

[9] Introduction, Concept of Mass in classical and modern Physics, Pg. 2-3

नहीं सकता था। वर्तमान विज्ञान जिस द्रव्यमान की बात करता है, उसकी उत्पत्ति का कारण हिग्स फील्ड नहीं, बल्कि कथित हिग्स बोसोन आदि सबके द्रव्यमान का कारण इस प्रकार है—

वैकुण्ठ इन्द्र संज्ञक सर्वाधिक सूक्ष्म विद्युत्, जो प्राण व अपान रश्मियों के विशेष योग से उत्पन्न होती है, का प्राण, व्यान व धनञ्जय रश्मियों के साथ सम्मिश्रण होता है। इनमें त्रिष्टुप् छन्द की विद्यमानता भी रहती है, उस समय द्रव्यमान गुण प्रकट होता है। यह विद्युत् विशेष रूप से कुण्ठ अर्थात् सुस्त=मन्द होती है। इस मिश्रण में अपान की अपेक्षा प्राण की प्रधानता होती है। धनञ्जय मिश्रित व्यान रश्मियों के मेल से प्राण तत्त्व का आकर्षण बल प्रधान रहकर अपान के प्रतिकर्षण को गौण बना देता है।

जब सूक्ष्म विद्युत्, जिसमें प्राण व अपान रश्मियाँ विद्यमान होती हैं, प्राण, व्यान, धनञ्जय व त्रिष्टुप् रश्मियों से संयोग करती है, उस समय धनञ्जय व त्रिष्टुप् रश्मियाँ प्राण, व्यान व अपान को शक्तिशाली बना देती हैं। इनमें भी अपान की अपेक्षा प्राण की अधिकता रहती है, साथ में सूत्रात्मा वायु रश्मियों का इन सबके साथ योग होने से आकर्षण बल की प्रधानता रहती है तथा प्रतिकर्षण बल नगण्य होता है। इन रश्मियों का यह ऐसा बन्धन होता है कि इसके कारण कोई भी पदार्थ आकर्षण का ही भाव रखता है तथा किसी गति वा स्थिति में परिवर्तन का प्रतिरोध करता है। इस प्रतिरोधी गुण को ही वर्तमान विज्ञान द्रव्यमान (मास) नाम देता है। इसका स्वरूप व क्रियाविज्ञान इस प्रकार है—

अपान एवं उसकी अपेक्षा प्राण की अधिकता के साथ-२ व्यान, इन सभी रश्मियों को त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ तीन दिशाओं से किंवा थ्री डायमेंशनल थामती हैं। उसके पश्चात् सूत्रात्मा वायु रश्मियों का जाल सबको सब ओर से घेरकर बाँध लेता है। इस प्रकार यह एक संघात रूप धारण करता है। यह संघात कण वा क्वाण्टा दोनों में से कोई भी हो सकता है। जब यह संघात गति करता है, तब आकाश में विद्यमान सूक्ष्म प्राणादि रश्मियों से उस संघात का प्रतिरोध होता है। यद्यपि आकाश तत्त्व की रश्मियाँ अर्थात् प्राण व सूक्ष्म मरुदादि रश्मियाँ अन्य प्राण व छन्दादि रश्मि समूह में से सरलता से आर-पार आवागमन में समर्थ होती हैं, परन्तु सूत्रात्मा व त्रिष्टुप् के विशेष जाल के कारण इसमें उनके प्रति अवरोध उत्पन्न हो जाता है और यह अवरोध द्रव्यमान कहलाता है। हाँ, इतना अवश्य है कि आकाश तत्त्व की विशिष्ट संरचना के कारण इस अवरोध का भी साथ-२ निराकरण होते रहने से पदार्थों के गमनागमन

में कोई अवरोध नहीं होता।

ध्यातव्य है कि दो द्रव्यमान वाली वस्तुओं के टकराने से अवरोध अवश्य आ जाता है, आकाश को छोड़कर। जिस संघात में जितनी अधिक रश्मियाँ एवं जितनी मात्रा में उस जाल के द्वारा बँधी व घनीभूत हुई होती हैं, उस कण का द्रव्यमान उतना ही अधिक होता है। वर्तमान विज्ञान इस सूक्ष्म विज्ञान को किंचिदपि नहीं समझता। ध्यातव्य है कि प्रत्येक कण वा क्वाण्टा जैसे किसी भी संघात में बृहती छन्द रश्मियों का भी आवरण कार्य करता है। उधर हम यह भी जानते हैं कि प्रत्येक द्रव्यमान वाली वस्तु में गुरुत्वाकर्षण बल अवश्य ही विद्यमान होता है, जिसमें उपर्युक्त सभी रश्मियों के अतिरिक्त पंक्ति छन्द रश्मियाँ भी विद्यमान होती हैं। इस कारण यह सिद्ध है कि द्रव्यमान नामक गुण की उत्पत्ति में कहीं न कहीं पंक्ति छन्द रश्मियों की भी भूमिका रहती है। हमारे मत में बृहती व त्रिष्टुप् छन्द रश्मियाँ मिलकर पंक्ति छन्द रश्मियों का रूप धारण कर लेती हैं वा कर सकती हैं।

गुरुत्व बल

इन्हीं सबके कारण द्रव्यमान गुरुत्व बल को उत्पन्न करता है, जो सदैव आकर्षण बल के रूप में ही विद्यमान होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि गुरुत्वाकर्षण अथवा कोई भी आकर्षण बल सर्वथा निरपेक्ष नहीं होता है, बल्कि उसमें कुछ न कुछ मात्रा में प्रतिकर्षण बल विद्यमान होता है। यह प्रतिकर्षण बल अपान अथवा असुर तत्त्व के कारण सर्वत्र विद्यमान रहता है। यह गुरुत्व बल वैकुण्ठ इन्द्र आदि उन्हीं पदार्थों से उत्पन्न होता है, जिनसे द्रव्यमान की उत्पत्ति होती है। इस कारण यह बल मन्द प्रभाव वाला होता है। गुरुत्व बल में जो वैकुण्ठ इन्द्र संज्ञक विद्युत् होती है, वह सभी प्रकार के बलों में सदैव विद्यमान होती है। अब हम गुरुत्वाकर्षण बल के विषय में वेदविज्ञान-आलोक: ग्रन्थ के आधार पर कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दु यहाँ उद्धृत करते हैं—

'ओम्' रश्मि से युक्त मास व ऋतु रश्मियाँ जब पंक्ति, बृहती वा त्रिष्टुप् रश्मियों को सूत्रात्मा वायु के साथ संगत करती हैं, उस समय ही गुरुत्वाकर्षण बल की उत्पत्ति होती है। हमारे विचार में 'ओम्' वाक् रश्मियुक्त मास वा ऋतु रश्मियों के द्वारा पंक्ति, बृहती, त्रिष्टुप् व सूत्रात्मा के संयोग से ही वर्तमान विज्ञान द्वारा कल्पित 'ग्रेवीटॉन' उत्पन्न होते हैं। इस सृष्टि में विभिन्न पिण्डों (चाहे वे प्रकाशित हों वा अप्रकाशित अर्थात् दृश्य पदार्थ के पिण्ड

वा कण हों वा डार्क पदार्थ के) के मध्य गुरुत्व बल सर्वत्र सदा ही कार्य करता है। दो कणों वा लोकों के मध्य परस्पर आकर्षण, इलेक्ट्रॉन्स आदि के द्वारा फोटोन्स का आकर्षण अथवा दो फोटोन्स के मध्य आकर्षण बल इसी के विविध रूप हैं। इस बल में पंक्ति छन्द तथा सूत्रात्मा वायु से आवेष्टित बृहती व त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की विशेष भूमिका रहती है। इसमें पंक्ति व बृहती का उत्सर्जन दोनों पिण्डों से होता है। ये दोनों सूत्रात्मा वायु से घिरकर त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति करती हैं। सूत्रात्मा वायु इन त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों को भी आवेष्टित कर लेता है। ये सभी रश्मियाँ भी मूलतः मनस्तत्त्व से उत्पन्न होती हैं। विभिन्न प्राणापानादि प्राथमिक प्राणों का भी इनमें योगदान होता है। एक याजुषी अनुष्टुप् छन्द रश्मि तथा एक ब्राह्मी विराट् त्रिष्टुप् छन्द रश्मि भी उत्पन्न त्रिष्टुप् छन्द रश्मि को उपर्युक्त प्राणादि रश्मियों के प्रति आकर्षणशील बनाती हैं।

वर्तमान वैज्ञानिक जिस 'ग्रेवीटॉन' फील्ड पार्टिकल को गुरुत्व बल का वाहक कल्पित कर रहे हैं, वह वस्तुतः सूत्रात्मा वायु व विराट् ब्राह्मी त्रिष्टुप् से आवेष्टित व सम्पीडित कण है। वह इतना सम्पीडित भी नहीं है कि फोटोन के रूप में परिवर्तित हो गया हो। यही कारण है कि उसे अभी तक किसी भी प्रकार से अनुभव में नहीं लाया जा सका है। यदि कभी ऐसी टेक्नोलॉजी विकसित हुई, जो छन्द रश्मियों को नहीं तो कम से कम कुछ सीमा तक सम्पीडित छन्द रश्मियों को अनुभव कर ले, तभी उस रहस्यमय ग्रेवीटॉन को अनुभव में लाना सम्भव होगा। हाँ, उच्च कोटि का प्राणविज्ञाता योगी अवश्य अनुभव कर सकता है।

जब दो पिण्डों के मध्य गुरुत्व बल उत्पन्न होता वा कार्य करता है, उस समय दोनों ही पिण्डों से पंक्ति व बृहती छन्द रश्मियाँ एक साथ समान रूप से उत्पन्न होकर सूत्रात्मा वायु आदि से मिलकर त्रिष्टुप् रूपी ग्रेवीटॉन को उत्पन्न करेंगी। जब फोटोन व इलेक्ट्रॉन के मध्य गुरुत्व बल काम करेगा, तब पूर्ववत् असमान रश्मियाँ उत्सर्जित होंगी। कदाचित् इलेक्ट्रॉन में से बृहती तथा फोटोन में से पंक्ति रश्मि उत्सर्जित होंगी किंवा इनकी प्रधानता वाले युग्म उत्सर्जित होंगे। यदि दो फोटोन्स के मध्य गुरुत्व बल कार्य करे, तब हमारे मत में दोनों से पंक्ति छन्द वा इनकी प्रधानता के साथ बृहती छन्द रश्मियाँ उत्सर्जित होती हैं। गुरुत्व बल में ग्रेवीटॉन परस्पर निकटस्थ पिण्डों से उत्सर्जित होने वाली अथवा अन्यत्र प्रवहमान बृहती व पंक्ति छन्द रश्मियों को अवशोषित करते रहते हैं और इस कारण वे सर्वत्र प्रवाहित होकर गुरुत्वाकर्षण बल उत्पन्न करते रहते हैं। क्योंकि यहाँ ग्रेवीटॉन्स सब ओर अपनी व्याप्तता

रखते हैं, इस कारण गुरुत्व ऊर्जा रिसती रहती है, जिससे गुरुत्व बल सभी बलों में सबसे दुर्बल परन्तु व्यापक होता है।

गुरुत्व बल की उत्पत्ति एवं क्रियाशीलता के समय जो-२ भी प्राण रश्मियाँ दोनों ओर से उत्सर्जित होकर मीडियेटर पार्टिकल वा प्राण आदि का निर्माण करती हैं, वे प्राण रश्मियाँ बिना व्यवधान के निरन्तर प्रवाहित होती हैं। जब वे रश्मियाँ परस्पर संगत होकर फील्ड पार्टिकल्स का निर्माण करती हैं, उस समय वे दोनों प्रकार की रश्मियाँ बिना किसी अन्तराल व अवकाश के संयुक्त होकर फील्ड पार्टिकल्स अथवा मीडियेटर प्राण तत्त्व को उत्पन्न करने में समर्थ हो पाती हैं। गुरुत्वाकर्षण बल को उत्पन्न करने वाली प्राण रश्मियाँ अनन्त दूरी तक चलते हुए भी अन्तराल को प्राप्त नहीं होती हैं। इस कारण वर्तमान विज्ञान द्वारा परिकल्पित ग्रेवीटॉन्स अनन्त दूरी तक उत्पन्न होकर बल का संचरण करने में समर्थ होते हैं।

ध्यातव्य है कि गुरुत्वाकर्षण बल, जो सम्पूर्ण पदार्थ को संघनित करता है, वह भी एक विशेष प्रकार की विद्युत् का ही रूप है, जिससे केवल आकर्षण बल ही कार्य करता है। गुरुत्वाकर्षण बल के अन्तर्गत सूत्रात्मा वायु और व्यान प्राण के अतिरिक्त त्रिष्टुप् एवं बृहती छन्द रश्मियों का विशेष भाग भी होता है, जिसके कारण गुरुत्व बल आकर्षण और धारण दोनों ही गुणों से युक्त होता है।

वैदिक विज्ञान में एक विशेष प्रकार की तीक्ष्ण विद्युत् को इन्द्र कहते हैं, परन्तु इस इन्द्र से भी सूक्ष्म विद्युत् वैकुण्ठ इन्द्र नाम से जानी जाती है, जिसका सम्बन्ध अति सूक्ष्म मनस्तत्त्व से भी होता है और उसी के द्वारा ही यह प्राणादि रश्मियों में प्रकट होती है। वर्तमान विज्ञान गुरुत्वाकर्षण के बारे में स्पेस कर्वेचर की धारणा प्रस्तुत करता है। ब्रिटिश भौतिकशास्त्री आर्थर बेइज़र ने 'कॉन्सेप्ट्स ऑफ मॉडर्न फिजिक्स' के पृष्ठ ३३ पर लिखा है-

"Gravity is a wrapping of space–time."

इससे यह सिद्ध होता है कि वर्तमान वैज्ञानिक द्रव्यमान के द्वारा उत्पन्न गुरुत्व बल से स्पेस का कर्व होना मानते हैं, परन्तु वे गुरुत्व बल और स्पेस दोनों के ही स्वरूप को परिभाषित नहीं कर पाये हैं। हमारे मत में यह वैकुण्ठ इन्द्र रूपी सूक्ष्म विद्युत् ही गुरुत्वाकर्षण बल रश्मियों में विद्यमान होकर स्पेस को प्रभावित करती है। वर्तमान ज्ञात विद्युत् के हर प्रभाव के पीछे इसी वैकुण्ठ इन्द्र रूपी विद्युत् का बल कार्य करता है। यही कारण है कि विद्युत्

आवेश के द्वारा भी स्पेस का डिस्टॉर्ट होना वर्तमान विज्ञान स्वीकार करता है। जैसा कि रिचर्ड पी. फेनमैन ने अपनी इसी उपर्युक्त पुस्तक के पृष्ठ १७ पर लिखा है—

"The existence of the positive charge, in some sense, distorts, or creates a "condition" in space, so that when we put the negative charge in, it feels a force: This potentiality for producing a force is called an electric field."

हमारे अनेकत्र व्यक्त मत कि गुरुत्व बल विद्युत् का ही एक विशिष्ट रूप है अथवा दोनों का अति निकट सम्बन्ध है, की ही पुष्टि होती है। यह सूक्ष्म विद्युत् प्राण रश्मियों के नाना व्यवहारों को भी प्रेरित और प्रभावित करती है। यही विद्युत् चुम्बकीय तरंगों की आवृत्ति के अनुसार उनके रूप और रंग में परिवर्तन का कारण होती है। विद्युत् आवेश के मूल में भी इसी की भूमिका होती है। यह सूक्ष्म विद्युत् एक, दो अथवा तीन दिशाओं में आवश्यकतानुसार गमन करती है। यह विभिन्न अव्यक्त छन्द रश्मियों और सूत्रात्मा वायु रश्मियों को धारण करती है। वर्तमान विज्ञान द्वारा जिस यूनिफाइड फॉर्स की कल्पना की जा रही है, वह वस्तुतः इसी वैकुण्ठ इन्द्र अर्थात् सूक्ष्म विद्युत् का ही बल है। यद्यपि वैदिक भाषा में यह बल भी मूल बल नहीं है।

इस प्रकार हम मूलकणों के विषय में चर्चा कर चुके, इसके पश्चात् पूर्वोक्त सम्पीडन क्रिया से अग्रिम पीढ़ी के पदार्थ आपः व पृथिवी अर्थात् आयन्स, एटम्स व मोलिक्यूल्स की उत्पत्ति भी क्रमशः होती जाती है।

असुर आदि बाधक वा प्रक्षेपक पदार्थ

इस सृष्टि में पूर्वोक्त पंचमहाभूत पदार्थों के साथ-२ कुछ ऐसा पदार्थ भी विपुल मात्रा में उत्पन्न होता है, जो प्रायः अप्रकाशित ही रहता है तथा जिसमें प्रतिकर्षण, प्रक्षेपण आदि बलों की प्रधानता होती है। इस पदार्थ को समस्त रूप में असुर नाम से जाना जाता है। कुछ गुणभेद के आधार पर हम इसके अन्य रूपों की भी क्रमशः चर्चा करेंगे। इस क्रम में सर्वप्रथम हम प्रधान रूप से असुर नाम से जाने जाने वाले तत्त्व के विषय में ऋषियों के विचार उद्धृत करते हैं—

१. उभये वा एते प्रजापतेरध्यसृज्यन्त। देवाश्चासुराश्च (तै.ब्रा.१.४.१.१)

२. कनीयाꣳसि (छन्दांसि) देवेष्वासन् ज्यायाꣳस्यसुरेषु (मै.सं.४.७.५)
३. तेभ्यः (असुरेभ्यः प्रजापतिः) तमश्च मायाँ च प्रददौ (श.ब्रा.२.४.२.५)
४. तेऽसुरा मनस्वितरा आसन्नमनस्तरा इव देवाः (काठ.सं.१२.२)
५. देवा वै यद् यज्ञेऽकुर्वत तदऽसुराऽकुर्वत (तै.सं.२.५.४.१)
६. नाना रूपा असुराः (जै.ब्रा.१.२७८)
७. प्राचो वै देवान् प्रजापतिरसृजतापाचोऽसुरान् (काठ.सं.८.४; क.सं.६.९)
८. मनो वा असुरम्। तद्ध्यसुषु रमते (जै.उ.३.६.७.३)
९. रूपरहितो वायुः (तु.म.द.ऋ.भा.३.२९.१४)
१०. असुषु प्राणेषु रममाणो विद्युदग्निः (म.द.ऋ.भा.७.५६.२४)

इन वचनों पर विचार करने से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

१. प्रजापति परमात्मा से प्रेरित मनस्तत्त्व एवं 'ओम्' छन्द रश्मिरूपी प्रजापति से देव तथा असुर दोनों प्रकार का पदार्थ उत्पन्न होता है। इसका तात्पर्य है कि दृश्य एवं अदृश्य दोनों प्रकार का पदार्थ एक ही उपादान पदार्थ से उत्पन्न होता है।
२. इस सृष्टि में छन्द रश्मियाँ देव पदार्थ के रूप में न्यून मात्रा में तथा असुर पदार्थ के रूप में अधिक मात्रा में विद्यमान होती हैं।
३. ईश्वर तत्त्व रूपी प्रजापति से प्रेरित मनस् एवं वाक् तत्त्व असुर पदार्थ को माया तथा अन्धकार प्रदान करते हैं अर्थात् यह पदार्थ माया तथा अन्धकार से युक्त होता है। 'माया' का अर्थ करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं— प्रज्ञापिका विद्युत् (तु.म.द.य.भा.१३.४४), मात्यन्तर्भवतीति माया (उ.को.४.११०)। इसका आशय है कि असुर तत्त्व ऐसी प्रखर विद्युत् से युक्त होता है, जो अन्धकारयुक्त होती हुई उस असुर पदार्थ में समाती किंवा उसमें अन्तर्निहित होती है।
४. असुर पदार्थ में मनस्तत्त्व की मात्रा देव पदार्थ की अपेक्षा अधिक होती है। हमें इसका तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि इस पदार्थ में मनस्तत्त्व की अधिकता होती है, परन्तु उस मनस्तत्त्व के अन्दर वाक् तत्त्व ('ओम्' रश्मियों) की देव पदार्थ की अपेक्षा न्यूनता होती है, इसी कारण यह पदार्थ देव पदार्थ की अपेक्षा प्रकाशहीन होता है।
५. जिस किसी संसर्ग-यजन क्रिया में देव पदार्थ भाग लेते हैं, उसी क्रिया में असुर पदार्थ भी भाग लेते हैं। इसका आशय है कि सृष्टि के प्रत्येक कर्म में आकर्षण व धारण बल

के साथ-२ प्रतिकर्षण व प्रक्षेपण बल भी अनिवार्यतः सक्रिय होता है। कहीं-२ इन दोनों पदार्थों का संग्राम किंवा संघर्ष होता है, तो कहीं-२ दोनों पदार्थ मिलकर सृष्टि रचना में अपनी-२ भूमिका साथ-२ भी निभाते हैं। केवल आकर्षण व धारण बल के ही आधार पर सृष्टि रचना कदापि सम्भव नहीं है। इस सृष्टि में कभी भी दो वा दो से अधिक पदार्थ (लोक, कण वा रश्मि आदि) किसी भी प्रबलतम आकर्षण बल के प्रभाव से पूर्णतः मिलकर एक नहीं हो सकते। यहाँ तक कि वे परस्पर सर्वथा स्पर्श भी नहीं कर सकते, बल्कि उनके मध्य कुछ न कुछ अवकाश अवश्य रहता है। इसके साथ ही इस सृष्टि में छेदन, भेदन, संयोजन एवं वियोजन का क्रम भी सर्वत्र चलता रहता है। इन कर्मों में देव व असुर दोनों ही प्रकार के पदार्थों का योगदान रहता है।

६. असुर पदार्थ नाना रूपों में विद्यमान होता है। इन रूपों की चर्चा हम प्रधान असुर तत्त्व के विवेचन के पश्चात् करेंगे।

७. देव एवं असुर पदार्थ में से देव पदार्थ की उत्पत्ति पहले तथा असुर पदार्थ की उत्पत्ति उसके पश्चात् होती है। देव पदार्थ किसी भी लोक वा कण आदि पदार्थ को प्रकृष्ट गति व आकर्षण बल प्रदान करते हैं, तो असुर पदार्थ इन पदार्थों को दूर हटाने का कार्य करते हैं अर्थात् इनमें प्रक्षेपक वा प्रतिकर्षक बल की अधिकता होती है।

८. 'ओम्' रश्मिविहीन मनस्तत्त्व भी असुर तत्त्व का रूप होता है, क्योंकि उस स्थिति में यह प्रायः प्रकाशयुक्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह पदार्थ 'असु' अर्थात् प्राण रश्मियों में विशेष रूप से रमण करता है अर्थात् प्राण रश्मियों में छन्द रश्मियों की अपेक्षा मनस्तत्त्व की मात्रा अधिक होती है।

९. यह पदार्थ रूपरहित वायु अर्थात् अप्रकाशित वायु रूप होता है, जो अपवाद रूप कुछ परिस्थितियों के अतिरिक्त कभी प्रकाशित अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता।

१०. यह ऐसी विद्युत् का रूप होता है, जो केवल प्राण रश्मियों से ही उत्पन्न तथा उन्हीं में रमण करने वाली होती हैं। इसका आशय यह है कि इस पदार्थ में आसुरी छन्द रश्मियों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की छन्द रश्मियाँ विद्यमान नहीं होतीं, बल्कि केवल प्राण रश्मियाँ ही विद्यमान होती हैं।

इन आर्ष वचनों पर विचार करने के उपरान्त हम 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ के आधार पर असुर पदार्थ के विषय में कुछ बिन्दुओं को उद्धृत करते हैं—

१. जो छन्द रश्मियाँ मनस्तत्त्व से प्रेरित नहीं हो पातीं, वे आसुरी रश्मियों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं।
२. सृष्टि प्रक्रिया में कुछ छन्द रश्मियों का कुछ सार भाग आकाश में रिस जाता है। फिर वे सार भाग से रहित हुई अथवा सार भाग की न्यूनता वाली छन्द रश्मियाँ ही असुर तत्त्व के रूप में प्रकट होती हैं किंवा उस असुर तत्त्व को उत्पन्न करती हैं। इस बात से यह संकेत मिलता है कि आसुरी रश्मियों का निर्माण अन्य रश्मियों से कुछ सार भाग के रिसने से होता है।
३. जब व्यान रश्मियाँ मनस्तत्त्व के द्वारा पूर्णतः संगत व प्रेरित नहीं होतीं, तब प्राणापान एवं प्राणोदान रश्मियाँ असुर रश्मियों का रूप धारण कर लेती हैं। इस दशा में वे अप्रकाशित रहकर प्रतिकर्षण व प्रक्षेपण बलों से विशेष युक्त होती हैं।
४. इस सृष्टि में जो पदार्थ मन एवं वाक् तत्त्व ('ओम्' रश्मि) के मिथुन द्वारा प्रेरित नहीं होते, वे संयोगादि प्रक्रियाओं से पृथक् अप्रकाशित स्वरूप वाले असुर तत्त्व का ही रूप होते हैं।
५. प्रलयकाल की प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर असुर पदार्थ निरन्तर बलिष्ठ होना प्रारम्भ हो जाता है तथा उसको नष्ट व नियन्त्रित करने वाली रश्मियाँ निरन्तर दुर्बल वा नष्ट होती जाती हैं। इससे विभिन्न लोक आदि पदार्थों का विनाश होने लगता है। सुपरनोवा आदि के विस्फोट में भी असुर तत्त्व प्रबल होता है।
६. विभिन्न गायत्र्यादि छन्द रश्मियों के साथ सदैव अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ संयुक्त रहती हैं। जिन छन्द रश्मियों के साथ अनुष्टुप् छन्द रश्मियाँ संयुक्त नहीं होतीं, वे रश्मियाँ असुर रश्मियों में परिवर्तित हो जाती हैं। अनुष्टुप् छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त छन्द रश्मियाँ ही देव (दृश्य) पदार्थ का निर्माण करने में सक्षम होती हैं, अन्यथा वे निष्क्रिय रूप में भी इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त रह सकती हैं और असुर तत्त्व के रूप में भी परिवर्तित हो सकती हैं।
७. सभी छन्द रश्मियों के साथ मनस्तत्त्व एवं मूल वाक् तत्त्व के अतिरिक्त सभी प्राथमिक प्राण रश्मियाँ विद्यमान होती हैं। इनमें से प्राण व अपान रश्मियाँ दोनों सिरों पर तथा अन्य प्राण रश्मियाँ छन्द रश्मियों के मध्य में स्थित होती हैं। जिन छन्द रश्मियों के साथ प्राण रश्मियाँ परस्पर बिखरी हुई अवस्था में विद्यमान होती हैं, वे छन्द रश्मियाँ देव

पदार्थ को उत्पन्न करती हैं तथा जिन छन्द रश्मियों में प्राण परस्पर अति निकटता से संयुक्त होता है, वे आसुरी छन्द रश्मियों में परिवर्तित होकर असुर पदार्थ को उत्पन्न करती हैं।

८. प्राण एवं अपान तत्त्व का पारस्परिक सामंजस्य सृष्टि रचना का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। जब ऐसा नहीं हो पाता है, उस समय विभिन्न प्राण रश्मियाँ छन्द रश्मियों के साथ समुचित संयोग नहीं कर पाएँगी और इसके परिणामस्वरूप वे प्राण रश्मियाँ सूक्ष्म असुर रश्मियों में परिवर्तित हो जाएँगी।

९. असुर पदार्थ अपने प्रतिकर्षण बल के प्रभाव से विभिन्न लोकों के मध्य समुचित अवकाश बनाए रखने में सहयोगी बनकर उन्हें धारण वा स्थायित्व प्रदान करने में भी सहयोगी होता है।

१०. असुर तत्त्व में भी विशेष प्रकार की विध्वंसक व प्रतिकर्षक विद्युत् विद्यमान होती है। इस ब्रह्माण्ड में इस पदार्थ की भी धाराएँ सर्वत्र निरन्तर बहती रहती हैं।

११. जो छन्द रश्मियाँ अपनी धारक धाय्या संज्ञक छन्द रश्मियों से युक्त नहीं हो पातीं तथा जो प्राण रश्मियाँ मरुद् रश्मियों के साथ युग्म नहीं बना पातीं, वे आसुरी पदार्थ को जन्म देने वाली हो जाती हैं।

इस सम्पूर्ण प्रकरण से यह स्पष्ट होता है कि इस सृष्टि में उस पदार्थ, जिससे यह सृष्टि बनी है, के अतिरिक्त दृश्य पदार्थ की अपेक्षा बहुत बड़ी मात्रा में एक ऐसा पदार्थ भी विद्यमान होता है, जो अदृश्य वा अप्रकाशित होता है। दृश्य पदार्थ सृष्टि में नाना लोकों की सृष्टि का मुख्य उपादान है, जबकि अदृश्य पदार्थ किसी भी लोक का निर्माण नहीं कर सकता। इतना होने पर भी अदृश्य पदार्थ की दृश्य ब्रह्माण्ड बनाने में अनिवार्य भूमिका होती है। वैदिक वाङ्मय में दृश्य पदार्थ को देव तथा अदृश्य पदार्थ को असुर कहा जाता है। वर्तमान विज्ञान भी दो प्रकार के पदार्थों को स्वीकार करता है। वह अप्रकाशित पदार्थ को डार्क मैटर व डार्क एनर्जी नाम देता है। वर्तमान भौतिकी इन डार्क पदार्थों को अभी तक अच्छी प्रकार परिभाषित नहीं कर सकी है और न ही इनके कार्य व अस्तित्व को ही पूर्णतया सिद्ध वा स्पष्ट कर सकी है।

डार्क मैटर के विषय में वर्तमान विज्ञान के मत को दर्शाने हेतु हम कुछ वैज्ञानिकों को उद्धृत करते हैं—

“To explain the lumps of galaxies, one inevitably requires large amounts of invisible dark matter in the form of unusual particles. The most popular models are CDM (Cold Dark Matter) and HDM (H ot Dark Matter).”

(Discovery of Cosmic Fractals, Pg. 147 By Yurij Baryshev, Pekka Teerikorpi)

इसी विषय में अमरीकी भौतिकशास्त्री जॉन ग्रिबिन का कथन है—

“Two kinds of dark matter we reffered to earlier are known as ‘hot’ and ‘cold’ dark matter. Neutrinos are hot, in the sense that they move around at a sizable fraction of the speed of light. But what we need to explain the pattern of galaxies on the sky is a profusion of particles of slow-moving cold dark matter, or CDM.”

(The origin of Future- ten questions for the next ten years, Pg. 105)

वर्तमान विज्ञान इस ब्रह्माण्ड में 4% दृश्य पदार्थ व दृश्य ऊर्जा, 26% सीडीएम तथा 70% डार्क एनर्जी मानते हैं। वे जिसे होट डार्क मैटर नाम देते हैं, उस न्यूट्रिनो के विषय में सीडीएम की अपेक्षा अधिक जानते हैं। वे सीडीएम के अनेक कणों की कल्पना करते हैं, जिन्हें वीकली इंटरेक्टिंग पार्टिकल्स कहते हैं, पुनरपि अभी तक वे किसी भी वीकली इंटरेक्टिंग पार्टिकल को डिटेक्ट नहीं कर पाए हैं। ध्यातव्य है कि डार्क एनर्जी के स्वरूप एवं उत्पत्ति के विषय में वर्तमान विज्ञान स्वयं अन्धकार में ही है। मेरी भारत के अनेक भौतिकशास्त्रियों से चर्चा हुई है, परन्तु सीडीएम पर वे यही कहते हैं कि अभी सब कुछ डार्क अर्थात् अन्धेरे में ही है अर्थात् अभी तक कुछ जाना नहीं गया है। वैज्ञानिकों के अनुसार सीडीएम ही सभी लोकों व गैलेक्सियों को थामे हुए है। डार्क एनर्जी के विषय में वैज्ञानिकों का मत है कि यह एनर्जी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रसार कर रही है। बिग बैंग के समय से ब्रह्माण्ड निरन्तर विस्तृत होता जा रहा है।

वर्तमान विज्ञान के डार्क सब्सटेंस (डार्क मैटर एवं डार्क एनर्जी) की संक्षिप्त चर्चा से यह बात स्पष्ट है कि वर्तमान विज्ञान डार्क एनर्जी के स्वरूप व कार्य के विषय में नितान्त भ्रम में है। अब हम अपने वैदिक अप्रकाशित पदार्थ (डार्क सब्सटेंस) के विषय में पूर्वोक्त क्रम को आगे बढ़ाते हैं—

हम पूर्वोद्धृत ऐतरेय व्याख्यान के वचनों के आधार पर असुर पदार्थ (वैदिक डार्क मैटर) को निम्नानुसार वर्गीकृत कर सकते हैं—

१. ऐसी छन्द रश्मियाँ जो मनस्तत्त्व किंवा मन एवं वाक् तत्त्व के मिथुन से सम्यक् प्रकार से प्रेरित नहीं हो पातीं, वे जब प्राण रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, तब उनसे असुर तत्त्व की उत्पत्ति होती है।
२. ऐसी छन्द रश्मियाँ जिनका कुछ सार भाग आकाश में रिस गया है, वे जब प्राण रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, तब भी वे असुर तत्त्व को उत्पन्न करती हैं।
३. ऐसी छन्द रश्मियाँ जो धाय्या संज्ञक छन्द रश्मि अथवा अनुष्टुप् छन्द रश्मि से रहित होती हैं, वे प्राण रश्मियों के साथ मिलकर असुर तत्त्व को जन्म देती हैं।
४. ऐसी छन्द रश्मियाँ, जो अव्यवस्थित रूप से विभिन्न प्राण रश्मियों के साथ संयुक्त होती हैं, वे भी असुर तत्त्व को उत्पन्न करती हैं।
५. ऐसी प्राणापान किंवा प्राणोदान रश्मियाँ जो मनस्तत्त्व के साथ सम्यक् संगत नहीं हुए व्यान प्राण के साथ संगत होती हैं, तब वे प्राणापान अथवा प्राणोदान रश्मियाँ सूक्ष्म असुर रश्मियों को उत्पन्न करती हैं।
६. ऐसी प्राण रश्मियाँ, जो छन्द अथवा मरुत् रश्मियों के साथ संगत नहीं हो पाती हैं, वे भी सूक्ष्म असुर रश्मियों को जन्म देती हैं।

डार्क मैटर के समान पदार्थ

यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त प्रथम चार प्रकार का असुर तत्त्व कणीय अवस्था को प्राप्त करता है। इन कणों के मध्य आकर्षण बल अत्यल्प मात्रा में होता है। यह वर्तमान विज्ञान के डार्क मैटर से मिलता-जुलता पदार्थ है। इनमें छन्द रश्मियाँ स्वयं दुर्बल बन्धन से युक्त होने के कारण सबल बन्धनयुक्त दृश्य पदार्थ (देव पदार्थ) के कणों के प्रति आकर्षण का नगण्य भाव दर्शाती हैं, पुनरपि इनका प्राण रश्मियों के साथ मेल होने से ये सघन रूप प्राप्त करके कणों के रूप में प्रकट अवश्य होती हैं। हमारे मत में इन कणों में ऐसी सघनता नहीं होती, जैसी कि दृश्य पदार्थ (देव पदार्थ) के कणों के मध्य होती है। इस कारण ये कण सृष्टि का प्रत्यक्ष अंग नहीं बन पाते।

यह पदार्थ दृश्य पदार्थ से आकृष्ट भले ही न हो अथवा नगण्य हो, परन्तु इनका परस्पर

स्वल्प आकर्षण अवश्य होता है, अन्यथा सम्पूर्ण असुर पदार्थ बिखर जाता तथा कुछ भी कार्य सम्पादित नहीं कर पाता। आज डार्क मैटर द्वारा गैलेक्सियों के धारण में सहयोग की बात की जाती है, वह धारण गुण भी उस समय विद्यमान नहीं हो सकता, जब उन कणों में परस्पर आकर्षण बल शून्य होता। ध्यातव्य है कि असुर कणों का दृश्य कणों के साथ भी आकर्षण सर्वथा शून्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो जाता, तब भी उनको धारण करना सम्भव नहीं हो पाता। इन कणों को डिटेक्ट करना इस कारण कठिन है, क्योंकि इनके कण दुर्बल बन्धन वाली रश्मियों से बने होने से अपेक्षाकृत बहुत कम सघन होते हैं।

वर्तमान विज्ञान डार्क मैटर के विषय में अभी अनुसन्धानरत है। उसे हमारे इस असुर पदार्थ के स्वरूप को समझने से अपने अनुसन्धान में अवश्य सहयोग मिलेगा। सृष्टि के सभी पदार्थ डिटेक्ट हो ही जायें, यह आवश्यक नहीं है। विज्ञान को सर्वत्र प्रायोगिक (एक्सपेरिमेंटल) बनाने का प्रयास करना तथा उसी सीमा में रहना वास्तविक विज्ञान को संकुचित बनाना है। तर्क, युक्ति आदि के आधार पर भी थ्योरेटिकल फिजिक्स को पर्याप्त विस्तार दिया जा सकता है। हाँ, इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि विज्ञान के अनुसन्धान से प्रयोग, प्रेक्षण व परीक्षण को ही निकाल देना चाहिए, परन्तु इस सीमा से बाहर भी विचार आवश्यक है।

वैदिक विज्ञान में उपरिवर्णित असुर तत्त्व के प्रथम चार प्रकार का पदार्थ हमने वर्तमान विज्ञान के डार्क मैटर के लगभग समकक्ष माना है। वैदिक असुर तत्त्व (डार्क मैटर) की चार श्रेणियों दर्शायी हैं, जबकि वर्तमान विज्ञान के द्वारा परिकल्पित डार्क मैटर की श्रेणियों के विषय में अभी कोई मत हमारी जानकारी में नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि वर्तमान विज्ञान होट डार्क मैटर नाम से न्यूट्रिनो का ग्रहण करता है तथा शेष डार्क मैटर को सीडीएम नाम देता है। हमारी दृष्टि में न्यूट्रिनो वैदिक असुर तत्त्व का भाग नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह संयोज्य शक्ति से रहित नहीं होता। यद्यपि वह विभिन्न कणों के साथ प्रायः इंटरेक्ट नहीं होता, परन्तु इलेक्ट्रॉन, म्यूऑन एवं टाउ नामक कणों का उनके अपने-२ न्यूट्रिनो के साथ अति निकट सम्बन्ध होता है।

वैदिक असुर तत्त्व की चार श्रेणियाँ निश्चित ही सर्वथा समान गुण वाली नहीं हो सकतीं। हमारी दृष्टि में प्रथम श्रेणी के रूप में वर्णित असुर तत्त्व सबसे दुर्बल होता है, क्योंकि वह मन एवं वाक् तत्त्व से किंचित् भी प्रेरित नहीं होता। हमारी दृष्टि में जब देव पदार्थ एवं असुर पदार्थ का संघर्ष होकर असुर पदार्थ खण्ड-२ होकर आकाश में मिश्रित हो जाता है, उस

समय उसका यह दुर्बलतम रूप प्रकट होता है। हमारी चतुर्थ श्रेणी का असुर तत्त्व, जिसमें छन्द रश्मियाँ अव्यवस्थित प्राण रश्मियों के साथ मिलन करती हैं, सर्वाधिक तीक्ष्ण होता है, क्योंकि इसमें छन्द रश्मियाँ अव्यवस्थित प्राण रश्मियों के द्वारा नियन्त्रित नहीं रह पातीं। इस प्रकार के असुर तत्त्व का देव पदार्थ से अनेकत्र संघर्ष चलता रहता है। शेष दो प्रकार के असुर पदार्थ (क्रमांक २ व ३) दुर्बल होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त रहते हैं। सम्भव है कि ये अपने द्रव्यमान के कारण विभिन्न लोकों को प्रभावित करके थामने में अपनी भूमिका निभाते हों।

डार्क एनर्जी के समान ऊर्जा

वैदिक असुर तत्त्व (डार्क मैटर) के पश्चात् अब आसुरी ऊर्जा (डार्क एनर्जी) की चर्चा करते हैं। असुर पदार्थ के पूर्वोक्त क्रमांक ५ व ६ में वर्णित श्रेणी का पदार्थ आसुरी ऊर्जा का रूप होता है, ऐसा हमारा मत है। इनमें से प्रथम ऊर्जा मन से अनियन्त्रित व्यान से सम्बद्ध प्राणापान व प्राणोदान से निर्मित होती है तथा दूसरी ऊर्जा बिना छन्द रश्मियों के केवल प्राण रश्मियों के रूप में होती है। ये दोनों प्रकार की ऊर्जा अप्रकाशित ऊर्जा का रूप होती है। वर्तमान विज्ञान जिसे डार्क एनर्जी कहता है, उससे इसकी इतनी साम्यता है कि वैदिक डार्क एनर्जी भी प्रतिकर्षण प्रभाव दर्शाती है। इसका कारण यह है कि इसमें केवल प्राण रश्मियाँ ही होती हैं, इनके मिथुन बनाने वाली छन्द रश्मियाँ विद्यमान नहीं होतीं। वर्तमान विज्ञान डार्क एनर्जी के स्वरूप से अधिकांशतः अपरिचित है और न उसे इस बात का ही ज्ञान है कि डार्क एनर्जी का प्रभाव प्रतिकर्षक ही क्यों होता है? हमारा वैदिक विज्ञान इसके विषय में पर्याप्त व स्पष्ट प्रकाश डालता है।

प्रश्न— वैदिक असुर ऊर्जा, जो प्रत्येक संयोग प्रक्रिया में बाधा डालने का प्रयास करती है, का इस सृष्टि रचना में क्या उपयोग है?

उत्तर— असुर ऊर्जा वर्तमान विज्ञान के कथित बिग बैंग का कारण नहीं होती और न ब्रह्माण्ड के कथित प्रसार के लिए उत्तरदायी होती है। हाँ, यह बड़े-२ लोकों एवं कॉस्मिक मेघों में विस्फोट वा विभाजन में अपनी भूमिका अवश्य निभाती है। विशाल खगोलीय मेघ के बिखरने से किसी तारे व ग्रहों के निर्माण तथा उनका परस्पर दूर हटकर निश्चित कक्षाओं

में व्यवस्थित होने की विभिन्न क्रियाओं की शृंखला में भी इसकी प्रतिकर्षक व प्रक्षेपक भूमिका होती है। दो सूक्ष्म कणों से लेकर विशाल लोकों तक के मध्य संयोग के समय यह ऊर्जा बाधक बनने का प्रयास करती है, परन्तु दृश्य ऊर्जा के प्रहार से इसका प्रयास विफल हो जाता है, पुनरपि कणों वा लोकों के पारस्परिक संघात में भी यह सूक्ष्म ऊर्जा उनके मध्य एक अन्तराल (अवकाश) बनाए रखने में सहायक होती है। यदि ऐसा नहीं होता, तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एक सघनतम संघात को प्राप्त होकर न्यूनतम आयतन को प्राप्त कर लेता।

इस प्रकार वैदिक डार्क एनर्जी इस सृष्टि रचना के प्रत्येक कर्म में विभाजक, प्रक्षेपक व प्रतिकर्षक प्रभाव के द्वारा सर्वत्र अपनी अनिवार्य भूमिका निभाती है। जब यह तीक्ष्ण रूप को प्राप्त कर लेती है, तब विस्फोटक एवं बाधक रूप प्राप्त कर लेती है।

प्रश्न— क्या असुर पदार्थ के वैदिक विज्ञान में और भी कुछ रूप वा नाम हैं?

उत्तर— असुर पदार्थ के अन्य भी कुछ नाम वैदिक वाङ्मय में आते हैं। पाप, राक्षस, भ्रातृव्य आदि कुछ नाम 'वेदविज्ञान-आलोक:' में अनेक बार आए हैं। इनके विषय में हमने उस ग्रन्थ में चर्चा की है और इनके स्वरूप को भी दर्शाया है। इस कारण हम यहाँ उसका पिष्टपेषण नहीं करना चाहते। ये सभी पदार्थ असुर तत्त्व के ही रूप हैं।

प्रश्न— आपने देव रश्मियों (छन्द वा प्राण) के द्वारा असुर पदार्थ के बनने की प्रक्रिया दर्शायी है। क्या सम्पूर्ण असुर पदार्थ की इसी प्रकार उत्पत्ति होती है? क्या सभी आसुरी छन्द रश्मियों का निर्माण पूर्वोक्त प्रक्रिया वा किसी विकृति के द्वारा ही होता है किंवा देव पदार्थ (छन्द व प्राण) रश्मियों की भाँति आसुरी छन्द रश्मियों का निर्माण भी एक व्यवस्थित प्रक्रिया के द्वारा होता है?

उत्तर— आपका प्रश्न नितान्त उचित व स्वाभाविक है। उचित प्रक्रिया के द्वारा भी आसुरी छन्द रश्मियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार असुर तत्त्व, विशेषकर आसुरी ऊर्जा दोनों प्रकार से उत्पन्न होती है। आसुरी छन्द रश्मियों से उत्पन्न ऊर्जा भी आसुरी ऊर्जा कहलाती है, जिसकी प्रक्रिया देव ऊर्जा (दृश्य ऊर्जा) के निर्माण के समान समझें।

प्रश्न— जिस प्रकार किन्हीं कारणों से उत्पन्न पूर्वोक्त विकृतियों के कारण देव छन्दादि

रश्मियाँ असुर पदार्थ को उत्पन्न करने वाली हो जाती हैं, वैसे क्या इस सृष्टि में कहीं असुर पदार्थ भी दृश्य (देव) पदार्थ में परिवर्तित होता है?

उत्तर— हाँ, तारों के निर्माण की प्रक्रिया में एक चरण ऐसा भी आता है, जहाँ असुर पदार्थ देव पदार्थ में परिवर्तित हो जाता है। जब खगोलीय मेघों के अन्दर सम्पीडन की क्रिया के द्वारा विभिन्न लोकों का निर्माण हो रहा होता है, उस समय पदार्थ में विशाल ज्वालाओं से युक्त अग्नि विद्यमान होता है। इस समय डार्क एनर्जी का कुछ भाग विभिन्न तीक्ष्ण छन्द रश्मियों से क्रिया करके दृश्य ऊर्जा में बदल जाता है। ध्यातव्य है कि यह प्रक्रिया कहीं-२ अपवाद रूप में ही होती है, न कि यह एक सामान्य प्रक्रिया है।

विशेष ज्ञातव्य— इस ग्रन्थ में असुर पदार्थ को वैदिक डार्क मैटर एवं वैदिक डार्क एनर्जी के स्थान पर डार्क मैटर एवं डार्क एनर्जी ही लिखा गया है। पाठक इससे वर्तमान भौतिकी में वर्णित डार्क मैटर व डार्क एनर्जी का ग्रहण न करें, यह ध्यान रहे।

विद्युत् का स्वरूप

विद्युत् किंवा आवेश क्या है? यह वर्तमान भौतिकी में स्पष्ट नहीं है। चार्ज के विषय में कहा जाता है—

"A property of some elementary particles that gives rise to an interaction between them."

(Oxford dictionary of Physics, Pg. 69)

अर्थात् कुछ मूलकणों के पारस्परिक आकर्षण-प्रतिकर्षण बल का उत्पादक गुण ही आवेश कहलाता है। वर्तमान भौतिक विज्ञान पृथक्-२ स्तरों पर पृथक्-२ प्रकार के चार्ज की कल्पना करता है। वह क्वार्क्स के मध्य कार्यरत चार्ज को फ्लेवर चार्ज तथा क्वार्क्स एवं ग्लुऑन्स के मध्य कलर चार्ज की विद्यमानता की चर्चा करता है। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि में मास भी एक प्रकार का चार्ज ही है। ये सभी चार्ज दो वस्तुओं के मध्य इंटरेक्शन का कारण बनते हैं। उधर विद्युत् की परिभाषा भी वर्तमान विज्ञान में स्पष्ट नहीं है और उसका स्वरूप भी सर्वथा अस्पष्ट है।

अब हम वैदिक भौतिकी की दृष्टि से विद्युत् के विषय में कुछ चर्चा करते हैं। इस विषय

में ऋषियों का कथन है—

१. तपो विद्युत्। (जै.ब्रा.३.३७३)
२. बलमिति विद्युति। (तै.आ.९.१.२; तै.उ.३.१०.३)
३. विद्युत् सावित्री। (जै.उ.४.१२.१.९)
४. वीव वा इदमद्युतदिति। सैषा विद्युदभवत्। (जै.ब्रा.३.३८०)
५. विद्युद्वा ऽअपां ज्योतिः (श.ब्रा.७.५.२.४९)

इन वचनों से निम्नलिखित आशय प्रकट होता है—

१. जिससे क्रियाशीलता व ऊष्मा की उत्पत्ति होती है, उस पदार्थ को विद्युत् कहते हैं। विद्युत् पदार्थ का नाम है और आवेश उसका गुण है।
२. जिससे बल गुण का उदय होता है, उस पदार्थ को विद्युत् कहते हैं।
३. विद्युत् प्रत्येक कण आदि पदार्थ को उत्पन्न व प्रेरित करती है।
४. विद्युत् 'वी' की भाँति द्योतित होने से विद्युत् कहाती है। ऋषि दयानन्द ने 'वीव' शब्द का अर्थ ऋग्वेद ७.५५.२ के भाष्य में 'पक्षीव' किया है। इससे संकेत मिलता है कि विद्युदावेशित कणों का व्यवहार पक्षी के समान होता है। जिस प्रकार पक्षी तीव्रता से अकस्मात् उड़ते व संक्षिप्ततम व सरल मार्ग को अपनाते हैं, वही व्यवहार विभिन्न आवेशित कण करते हैं। यहाँ 'वी' धातु के विभिन्न अर्थों को दृष्टिगत रखकर विद्युत् आवेशित कणों के व्यवहार को समझने का यत्न करते हैं—

   जाना — इससे गमन-आगमन व्यवहार उपर्युक्तवत् सिद्ध होता है।
   आक्रमण करना — जिस प्रकार पक्षी किसी अन्य पक्षी पर अकस्मात् तेजी से आक्रमण करता है, उसी प्रकार आवेशित कणों में इंटरेक्शन होता है।
   फेंकना, दौड़ाना — जैसे पक्षी दूसरे पक्षी को मारकर भगाता है, वैसा ही व्यवहार समान आवेशित कणों में होता है।
   भक्षण करना — जिस प्रकार पक्षी अपने भोजन को तत्काल निगल लेता है, उसी प्रकार आवेशित कण अपने संयोज्य लघु कण को अपने में सहसैव अवशोषित कर लेता है।

५. विद्युत् 'आपः' अर्थात् प्राणापानादि रश्मियों की ज्योतिरूप प्रकट होकर भासती है।

विद्युत् के इस स्वरूप पर विचार करें, तो विदित होता है कि इस सृष्टि में विद्युत् पृथक्-२ स्तर पर पृथक्-२ स्तर की होती है। वैदिक विज्ञान महत्तत्त्व से ही आकर्षण आदि गुणों का प्रादुर्भाव मानता है, इसी कारण इसे ही कारण विद्युत्, जो सूक्ष्मतम रूप में होती है, कहा जाता है। उसके पश्चात् प्राण व अपान, प्राण व मरुत्, प्राण व छन्द आदि के मिथुन बनने से कार्य विद्युत् की उत्पत्ति होती है। वर्तमान विज्ञान का किसी भी प्रकार का इंटरेक्शन इन युग्मों से सूक्ष्म किंवा इनके समकक्ष पदार्थों को नहीं मिला सकता। हाँ, जिसे वह फील्ड कहता है और उसके फील्ड पार्टिकल्स को वैक्यूम एनर्जी से उत्पन्न होने की कल्पना करता है, वह वैक्यूम एनर्जी अवश्य इन पदार्थों का ही सम्मिश्र रूप है। इन मिथुनों से ही इस सृष्टि में आकर्षण-प्रतिकर्षण, धारण-क्षेपण आदि क्रियाओं में वृद्धि होती है।

वर्तमान विज्ञान के विभिन्न स्तरों के चार्ज वस्तुतः प्राण व मरुद् वा छन्द रश्मियों के विभिन्न स्तरों के मेल के कारण ही उत्पन्न वा प्रतीत होते हैं। इन सबके मेल में मूल कारण प्राण व वाक् अर्थात् विभिन्न प्राण रश्मियों का 'ओम्' छन्द रश्मि से हुआ मिथुन ही है। मूल बल 'ओम्' छन्द रश्मि का ही होता है और यह रश्मि ईश्वर द्वारा प्रेरित व निर्मित होती तथा सतत उससे सम्बन्ध बनाए रखती है। इस सम्बन्ध का विच्छेद कभी नहीं हो सकता। जब यह सम्बन्ध विच्छेद हो जायेगा, तब 'ओम्' रश्मि समाप्त होकर सभी रश्मियाँ पुनः सभी मूलकण और क्रमशः सम्पूर्ण लोक नष्ट होकर मूल उपादान कारण पदार्थ प्रकृति में परिवर्तित हो जायेंगे। इसलिए विद्युत् की मूल उत्पत्ति ईश्वर तत्त्व किंवा तदुत्पन्न व तत्प्रेरित 'ओम्' रश्मि से ही होती है।

इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि इस सृष्टि में जो भी जिस भी प्रकार का बल है, उसके मूल में 'ओम्' रश्मि ही है। 'ओम्' रश्मि के बल का कारण 'ओम्' नामक चेतनतत्त्व अर्थात् परमात्मा है। इस कारण सभी मूलों का मूल स्रोत ईश्वर ही है, किसी भी जड़ पदार्थ में अपना कोई बल नहीं होता और न हो सकता। हाँ, अन्य चेतन तत्त्व जीवात्मा में अपना पृथक् बल अवश्य होता है।

पाठकगण! विद्युत् के विषय में कुछ विवेचन अग्नि महाभूत प्रकरण में पढ़ चुके हैं।

ऊर्जा का स्वरूप

वर्तमान वैज्ञानिक जगत् ऊर्जा का भरपूर उपभोग करता है, परन्तु वह इसके स्वरूप के

विषय में प्राय: अनभिज्ञ है। इस विषय में हम वर्तमान विज्ञान का मत रिचर्ड पी. फेनमैन के शब्दों में 'अग्नि' महाभूत विषय में उद्धृत कर चुके हैं। ऊर्जा के अनेक रूपों को वर्तमान विज्ञान स्वीकार करता है, यथा— स्थितिज ऊर्जा, गतिज ऊर्जा, विद्युत् चुम्बकीय ऊर्जा, डार्क एनर्जी, वैक्यूम एनर्जी, ध्वनि, ऊष्मा आदि। ये ऊर्जाएँ विभिन्न परिस्थितियों में एक-दूसरे में परिवर्तित होती रहती हैं। इस परिवर्तन का क्रियाविज्ञान (मैकेनिज्म) क्या है, इसे वर्तमान विज्ञान स्पष्ट रूप से नहीं जानता। इस परिवर्तन का कारण क्या है, यह भी विज्ञान नहीं जानता। वस्तुत: जब तक ऊर्जा के स्वरूप व संरचना के विषय में स्पष्ट ज्ञान नहीं होगा, तब तक उसके मैकेनिज्म को जानना असम्भव है।

ऊर्जा का वैदिक स्वरूप

आइये, हम सर्वप्रथम 'ऊर्जा' शब्द पर विचार करते हैं। यह शब्द 'ऊर्ज बलप्राणनयो:' धातु से निष्पन्न होता है। इससे बल एवं प्राण से युक्त पदार्थ ही ऊर्जा कहलाता है। अब बल के विषय में ऋषियों के कथन पर विचार करते हैं-

१. बलं कस्मात् बलं भरं भवति बिभर्ते: (निरु.३.९)
२. बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति (निरु.८.२)
३. आत्मा वै बलम् (काठ.संक.७२.५ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
४. बलं विश्वेदेवा: (मै.सं.४.७.८)

इन वचनों का आशय है—

१. बल वह गुण है, जो किसी पदार्थ का धारण व पोषण करता है।
२. बल के कारण पदार्थ उसकी ओर गतिशील होते हैं, विशेषकर आकर्षण बल के कारण।
३. बल किसी पदार्थ के अन्दर आत्मारूप होकर विचरता है।
४. सभी देव अर्थात् प्राण व छन्दादि रश्मियाँ बलरूप होती हैं। इनके भी मूल में चेतन परमात्मा व आत्मा ही बलरूप होते हैं।

इस प्रकार ऊर्जा वह पदार्थ है, जिसके कारण विभिन्न पदार्थ धारण किये जाते वा गति करते हैं। इसके साथ ही ऊर्जा के कारण ही पदार्थों का अस्तित्व बना वा सार्थक रहता है। यह ऊर्जा मूलत: चेतन तत्त्व (ईश्वर अथवा जीवात्मा) के द्वारा प्रकृतिरूपी जड़ पदार्थ में उत्पन्न होती है। जड़ जगत् में यह 'ओम्' रश्मि व मनस्तत्त्व के रूप में प्रकट होती है।

उसके पश्चात् प्राण व छन्द वा मरुदादि रश्मियों के रूप में वैदिक स्वरूप वाली ऊर्जा उत्पन्न होती है। इस ऊर्जा की तुलना वर्तमान भौतिकी द्वारा ज्ञात वा प्रयुक्त ऊर्जाओं से करना सम्भव नहीं है। इनके विषय में हम पूर्व में लिख चुके हैं। प्राण और मरुद् वा छन्द रश्मियों का मिथुन ही वर्तमान विज्ञान द्वारा जानी गई ऊर्जाओं की उत्पत्ति का कारण है।

अब हम वर्तमान विज्ञान द्वारा जानी गयी ऊर्जाओं के विषय में क्रमशः वैदिक दृष्टिकोण से विचार करते हैं—

१. वैक्यूम एनर्जी — वर्तमान विज्ञान इसी के अन्दर विभिन्न फील्ड पार्टिकल्स की उत्पत्ति की बात को स्वीकारता है। ये पार्टिकल्स इसी से ही उत्पन्न होते हैं, ऐसा भी माना जाता है, परन्तु यह एनर्जी स्वयं किस रूप में किससे निर्मित होती है तथा इससे फील्ड पार्टिकल्स कैसे निर्मित होते हैं, यह वर्तमान विज्ञान को ज्ञात नहीं है। हमारी दृष्टि में सम्पूर्ण स्पेस में सूत्रात्मा वायु एवं विभिन्न प्रकार की प्राण, मरुत् व छन्द रश्मियों का मिश्रण भरा रहता है, जिनकी उत्पत्ति व स्वरूप को हम पूर्व में वर्णित कर चुके हैं। रश्मियों का यह मिश्रण ही वैक्यूम एनर्जी का रूप है। दो संयोजनीय पदार्थों के निकट आने पर उनके मध्य स्थित वैक्यूम एनर्जी से कैसे फील्ड पार्टिकल्स उत्पन्न होते हैं, यह विज्ञान 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में अनेकत्र वर्णित है। इस विषय में किसी पृथक् ग्रन्थ में विस्तार से लिखने का प्रयास करेंगे। यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त है कि दोनों पदार्थों से उत्सर्जित प्राण व मरुद् रश्मियाँ वैक्यूम एनर्जी के रूप में विद्यमान प्राण व मरुत् व गायत्र्यादि छन्द रश्मियों के मेल से फील्ड पार्टिकल्स को उत्पन्न करती हैं। वे पार्टिकल्स काल्पनिक (वर्चुअल) नहीं होते, परन्तु इनकी आयु अत्यल्प होती है। इनकी उत्पत्ति की लम्बी व व्यवस्थित प्रक्रिया है, जिसे 'वेदविज्ञान-आलोकः' ग्रन्थ में देखा जा सकता है।

ध्यातव्य है कि प्राण व मरुत् एवं प्राण व छन्द के मिथुन ही बल व ऊर्जा का रूप होते हैं, एकाकी कोई रश्मियाँ वैक्यूम एनर्जी का रूप नहीं हो सकतीं। यह एनर्जी सम्पूर्ण स्पेस को एकरस रूप में भरे रहती है। इसे वैक्यूम एनर्जी इस कारण कहा जाता है, क्योंकि यह ब्रह्माण्ड में सम्पूर्ण वैक्यूम अर्थात् रिक्त स्थान को भरे रहती है। सामान्य रूप से इसमें कोई फ्लक्चुएशन्स नहीं होता, परन्तु जैसे ही दो कणों वा पिण्डों के मध्य आकर्षण व प्रतिकर्षण बलों को उत्पन्न करना होता है अर्थात् जैसे ही वे दो पदार्थ परस्पर निकट आते हैं, वैसे ही उनके मध्य विद्यमान वैक्यूम एनर्जी में फ्लक्चुएशन्स होने लगता है। यह फ्लक्चुएशन्स न

होवे, तो आकर्षण व प्रतिकर्षण बल और फील्ड पार्टिकल्स उत्पन्न ही न हों। इस फ्लक्चुएशन्स में मूल रूप से चेतन तत्त्व ईश्वर की भूमिका होती है। उसकी प्रेरणा के बिना ऐसा होना सम्भव नहीं है।

२. डार्क एनर्जी — इसके विषय में हम पूर्व में असुर ऊर्जा विषय में लिख चुके हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि ब्रह्माण्ड के प्रसार व महाविस्फोट से सृष्टि का प्रारम्भ करने वाली कोई डार्क एनर्जी इस ब्रह्माण्ड में न तो कभी विद्यमान थी और न अब ही है। वैदिक डार्क एनर्जी की संरचना, स्वरूप एवं उसके गुणधर्म का विवेचन हम पूर्व में कर चुके हैं।

३. स्थितिज ऊर्जा — हम इस बात से अवगत हैं कि प्रत्येक कण वा पिण्ड विभिन्न छन्द, मरुत् व प्राण रश्मियों के मेल से उत्पन्न होता तथा उसी स्वरूप में वह विद्यमान होता है, भले ही वह गतिशील हो वा स्थिर हो। उसमें ये रश्मियाँ संघात रूप में विद्यमान होती ही हैं। इनके अभाव में उस कण, क्वाण्टा वा पिण्ड का कोई अस्तित्व नहीं है। उस कण वा पिण्ड को सूत्रात्मा वायु व बृहती छन्द रश्मियाँ सब ओर से आवृत्त किए रहती हैं किंवा ये रश्मियाँ ही प्राण व छन्दादि रश्मियों को संघनित करके उस कण वा पिण्ड को उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायिनी होती हैं। कोई भी कण वा पिण्ड सदैव उस स्थिति में रहना चाहता है, जिसमें रश्मियों के मध्य न्यूनतम इंटरेक्शन वा तनाव होवे। विराम अवस्था में किसी कण वा पिण्ड के परितः प्राण व अपान रश्मियों की भी विद्यमानता होती है, जिनमें से अपान रश्मियाँ उसके अन्दर की ओर एवं प्राण रश्मियाँ बाहर की ओर स्पन्दित होती रहती हैं।

जब उस कण वा पिण्ड पर कोई बाहरी बल लगाया जाता है, उस समय बल लगाने वाला कारक उस पिण्ड में ऊर्जा का संचरण करता है। यह ऊर्जा उस कण वा पिण्ड में संचित होकर उनमें विद्यमान प्राण व छन्दादि रश्मियों के विन्यास को प्रभावित व परिवर्तित करती है। जब हम किसी स्प्रिंग को खींचते वा दबाते हैं अथवा किसी पत्थर को हाथ से ऊपर उठाते हैं, उस समय स्प्रिंग वा पत्थर के अन्दर विद्यमान प्राण व छन्द रश्मियों का विन्यास प्रभावित वा परिवर्तित हो जाता है। जब हम स्प्रिंग को छोड़ देते हैं, तब उसके अन्दर विद्यमान प्राण वा छन्दादि रश्मियों का विन्यास पुनः अपने पूर्व रूप को प्राप्त करने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया के चलते स्प्रिंग में कम्पन होने लगता है।

उधर जब हम पत्थर को हाथ से नीचे गिराते हैं, तब पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण बल उसे

नीचे की ओर आकृष्ट करने लगता है अर्थात् उस पिण्ड पर वह बल कार्य करने लगता है। इससे उस पिण्ड के अन्दर व बाहर का रश्मि विन्यास फिर प्रभावित व परिवर्तित होने लगता है। इससे उसकी स्थितिज ऊर्जा गतिज ऊर्जा में परिवर्तित होने लगती है।

स्थिर पिण्ड गतिमान पिण्ड
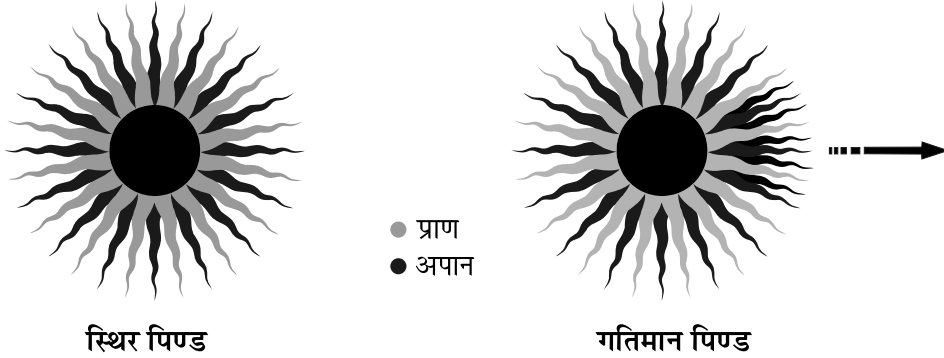
४. गतिज ऊर्जा — उपर्युक्तानुसार जब हम पत्थर को नीचे गिराते हैं अथवा हम किसी पत्थर को फेंकते हैं, उस समय उस पत्थर पर पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण बल अथवा हमारा प्रक्षेपक बल कार्य करता है। इससे उस पत्थर में विद्यमान विभिन्न छन्द व प्राणादि रश्मियों का विन्यास परिवर्तित होने लगता है। हमारी दृष्टि में इन दोनों परिस्थितियों में निम्न क्रमानुसार प्रभाव होता है—

(अ) जब पत्थर नीचे की ओर गिरता है, तब पृथिवी के द्रव्यमान व गुरुत्वाकर्षण बल के रूप में विद्यमान प्राण रश्मियाँ व त्रिष्टुप् छन्दादि रश्मियाँ पत्थर में विद्यमान अपान रश्मियों को अपनी ओर आकृष्ट करने लगती हैं। इससे जो अपान रश्मियाँ पत्थर के अन्दर की ओर जाती हुई स्पन्दित हो रही थीं, वे गुरुत्व बल की ओर उन्मुख होती हुई स्पन्दित होने लगती हैं। अपान रश्मियाँ क्रियाप्रधान होने से वह पत्थर पृथिवी की ओर गति करने लगता है। जैसे-२ वह पत्थर पृथिवी के निकट आता जाता है, वैसे-२ पृथिवी की प्राण व त्रिष्टुप् रश्मियों का पत्थर की अपान रश्मियों के प्रति आकर्षण का गुण बढ़ता जाता है, यही कारण है कि पृथिवी का गुरुत्वाकर्षण बल उस पत्थर में त्वरण उत्पन्न करता है, न कि वह पत्थर समान गति से गिरता है। वर्तमान विज्ञान इस मैकेनिज्म को नहीं समझ पाया।

(ब) जब हम उस पत्थर को किसी दिशा में फेंकते हैं, तब हमारे हाथ का प्रक्षेपक बल उस पत्थर के बाहर एवं अन्दर विद्यमान रश्मि विन्यास को प्रभावित व परिवर्तित करने लगता है।

हमारे प्रक्षेपक बल में अपान रश्मियों की प्रधानता होती है। इससे उस पत्थर का विन्यास इस प्रकार हो जाता है कि पत्थर के अन्दर की ओर स्पन्दित होती हुई अपान रश्मियाँ प्रक्षेपक बल की दिशा में स्पन्दित होने लगती हैं। इस कारण वह पत्थर उस दिशा में गतिशील हो उठता है। उसके गतिशील रहते हुए पृथिवी के द्रव्यमान व गुरुत्वाकर्षण बल की प्राण व त्रिष्टुप् आदि रश्मियाँ पूर्वोक्तानुसार अपना प्रभाव दिखलाने लगती हैं, जिससे वह पत्थर वर्तुलाकार (पेराबोलिक) मार्ग का अनुसरण करता हुआ अन्ततः नीचे गिर जाता है।
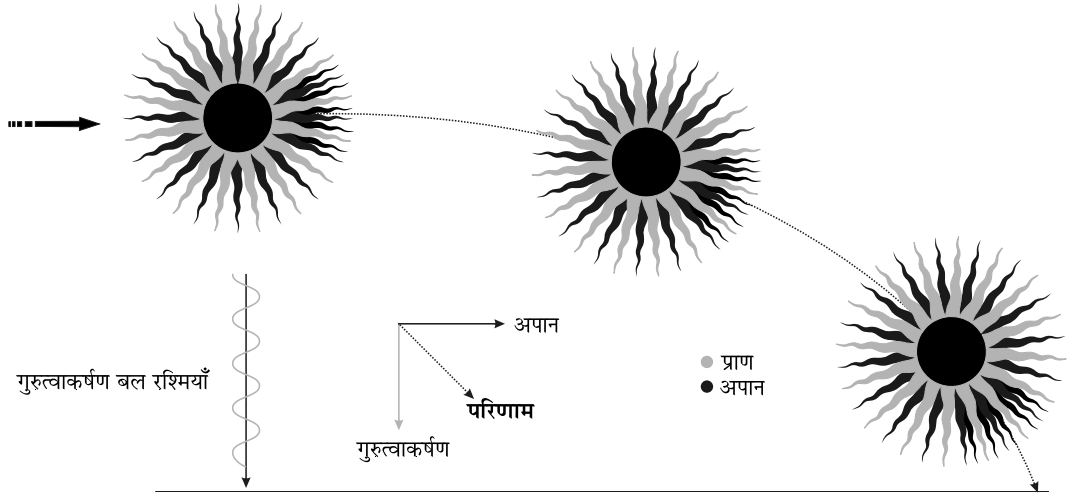
प्रश्न— जब पत्थर नीचे गिरता है, तब पृथिवी से टकराने अथवा किसी दीवार पर पत्थर मारने से ऊष्मा, प्रकाश व ध्वनि की भी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार पत्थर की गतिज ऊर्जा ऊष्मा, प्रकाश व ध्वनि ऊर्जा में कैसे परिवर्तित होती है? स्थितिज ऊर्जा के गतिज ऊर्जा में परिवर्तन का मैकेनिज्म तो आपने ऊपर बताया, इसी प्रकार ध्वनि आदि में इस परिवर्तन का मैकेनिज्म क्या है?

उत्तर— आइये, इसे इस प्रकार समझें। जब पत्थर किसी वस्तु से टकराता है, तब उस वस्तु के चारों ओर विद्यमान रश्मियों की पत्थर के चारों ओर विद्यमान वस्तु से टक्कर होती है, विशेषकर उस पत्थर के बाहरी भागस्थ क्रियाशील अपान रश्मियाँ उस वस्तु की रश्मियों से अधिक उलझकर दोनों ही वस्तुओं की सभी रश्मियों को क्षुब्ध कर देती हैं। इस विक्षोभ व संघर्षण में कुछ रश्मियाँ संघनित होकर फोटोन का रूप धारण करके प्रकाश के रूप में

दिखाई देती हैं। कुछ रश्मियाँ दोनों वस्तुओं के अणुओं को कम्पित करके उन्हें ताप प्रदान करती हैं, तो कुछ छन्द रश्मियाँ परस्पर उलझकर ऐसी वैखरी ध्वनि का रूप धारण करती हैं, जो तीव्र ध्वनि के रूप में सुनाई देती हैं। इस संघर्षण में दोनों ही वस्तुओं के अन्दर रश्मियों का विन्यास व सूत्रात्मा प्राण व बृहती रश्मियों का आवरण विकृत हो जाता है, जिससे वे वस्तुएँ टूटी हुई वा विकृत दिखाई देती हैं वा दे सकती हैं अर्थात् वे टूट जाती हैं वा टूट सकती हैं।

प्रश्न— हम किसी पत्थर की अपेक्षा किसी कम घनत्व की वस्तु को कम वेग से ही क्यों फेंक पाते हैं, भले ही हम बल समान लगायें?

उत्तर— जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके हैं कि किसी पिण्ड को फेंकने पर उस पिण्ड के अन्दर व बाहर विद्यमान प्राण व छन्दादि रश्मियों का विन्यास परिवर्तित हो जाता है। इस परिवर्तन में अपान रश्मियों की दिशा प्रक्षेपक बल की दिशा में होने से उसकी गति उसी दिशा में होती है। जब पिण्ड अधिक सघन होता है, तब उसमें अपान रश्मियों की मात्रा अधिक होने तथा उनके द्वारा प्राण नामक प्राण रश्मियों तथा उनकी अनुचरी छन्द वा मरुद् रश्मियों के भी उन्हीं की ओर उन्मुख होने के कारण सघनतर पिण्ड अधिक वेग से गति करता है।

इसके विपरीत जब पिण्ड हल्का होता है और आकार में यदि वह सघन पिण्ड के समान हो, तो उसमें प्राण तथा छन्दादि रश्मियों की मात्रा व घनत्व कम होते हैं, परन्तु आकाश किंवा हवा में विद्यमान अवरोधक रश्मियाँ उतनी ही मात्रा में विद्यमान होती हैं, जितनी मात्रा में पूर्वोक्त अधिक सघन पिण्ड के सम्मुख विद्यमान होती हैं। इस कारण अवरोधक बल तो दोनों पिण्डों पर समान लगता है, परन्तु हमारे हाथ द्वारा प्रक्षेपण बल से स्थानान्तरित ऊर्जा की मात्रा न्यून ही हो पाती है। वस्तुतः कम मात्रा में विद्यमान रश्मियाँ प्रक्षेपक अपान रश्मियों को कम मात्रा में ही संचित कर पाती हैं तथा अपान रश्मियाँ उस पिण्ड में भी कम मात्रा में होने से वेग की मात्रा सघनतर पिण्ड की अपेक्षा न्यूनतर होती है। इसी प्रकार इस हल्के पिण्ड की टक्कर से ऊष्मा, ध्वनि व प्रकाश की मात्रा भी अपेक्षाकृत न्यून ही होती है।

५. ध्वनि ऊर्जा — 'भाषा एवं ज्ञान की उत्पत्ति' नामक अध्याय में हम वाणी के अनेक रूपों तथा चार स्तरों के विषय में विस्तार से लिख चुके हैं। वर्तमान विज्ञान वाणी के वैखरी रूप को ही ध्वनि ऊर्जा नाम देता है। कोई भी ध्वनि परा, पश्यन्ती और मध्यमा के स्तर से गुजरती हुई वैखरी अवस्था को प्राप्त करती है। हम यहाँ वैखरी की ही संक्षिप्त चर्चा करते हैं। वर्तमान विज्ञान ध्वनि को किसी पदार्थ में दबाव के रूप में ही मानता है। जो पदार्थ जितना सघन होता है, उसमें ध्वनि उतनी ही अधिक गति से प्रवहित होती है। यह बात उचित है, परन्तु वर्तमान विज्ञान को ज्ञात नहीं कि किसी पदार्थ में दबाव अथवा फ्लक्चुएशन्स को उत्पन्न करने वाला पदार्थ क्या है? दो पिण्डों की टक्कर से ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है, यह हम लिख चुके हैं। यहाँ हम विचार करते हैं कि जब हम बोलते हैं, तब वायुमण्डल में दबाव कैसे उत्पन्न होता है?

वैदिक विज्ञान की मान्यता है कि हमारा स्वरयन्त्र मध्यमा छन्द रश्मियों को वैखरी में परिवर्तित करके बाहर उत्सर्जित करता है। वे छन्द रश्मियाँ वायुमण्डल अथवा किसी अन्य पदार्थ रूपी माध्यम में विद्यमान विभिन्न छन्द रश्मियों के साथ संयुक्त होकर वायुमण्डल अथवा अन्य पदार्थ में दबाव को उत्पन्न करती हैं। इसी दबाव की गति को वर्तमान विज्ञान ध्वनि तरंग कहता है। जब पदार्थ सघन होगा, तब उसमें छन्द रश्मियों की सघनता के कारण दबाव क्षेत्र अधिक बनेंगे, जिससे उनकी गति अधिक प्रतीत होगी अर्थात् ध्वनि तरंग की गति अधिक होगी। निर्वात में स्थित छन्द रश्मियाँ विरलावस्था में विद्यमान प्राण व छन्दादि रश्मियों में वह दबाव किंवा फ्लक्चुएशन्स उत्पन्न नहीं कर सकतीं, जो हमें कान द्वारा सुनाई दे सके। इसका कारण यह है कि हमारे कान रश्मियों के फ्लक्चुएशन्स को ग्रहण नहीं कर पाते हैं, जबकि अणुओं के फ्लक्चुएशन्स का अनुभव करने में समर्थ होते हैं। इससे हमें यह भ्रम होता है कि ध्वनि के लिए किसी पदार्थ रूपी माध्यम का होना अनिवार्य है। वस्तुतः यह हमारे कान के सुनने की क्षमता की एक सीमा के कारण होता है, यथार्थ में ऐसा नहीं है।

पाठकगण! शेष ऊर्जा यथा— विद्युत् ऊर्जा एवं विद्युत् चुम्बकीय तरंगों के विषय में अग्नि महाभूत के विषय में पढ़ सकते हैं।

प्रश्न— जब सभी ऊर्जाओं का मूल शक्तिदाता ईश्वर है, तब क्यों न ईश्वर को ऊर्जा ही

मान लें?

उत्तर— यदि आपको 'ऊर्जा' शब्द से इतना अधिक प्रेम है, तो मान सकते हैं कि ईश्वर भी एक प्रकार की ऊर्जा है, परन्तु हम पूछते हैं कि क्या ऊर्जा में बुद्धि या विवेक भी होता है? क्या ऊर्जा को स्वयं कुछ करने की समझ व करने का प्रयोजन ज्ञात होता है? क्या ऊर्जा में किसी काम को करने की इच्छा व स्वतन्त्रता होती है वा हो सकती है? इन प्रश्नों के उत्तर में आप यही कहेंगे कि ब्रह्माण्ड की किसी भी ऊर्जा में ये गुण नहीं हैं, जबकि इन गुणों के अभाव में इस सृष्टि का तो क्या, एक साधारण पिण्ड का भी निर्माण नहीं हो सकता। यदि हम शरीर की एक कोशिका, एक एटम, क्वार्क, फोटोन आदि किसी की संरचना पर विचार करें, तो हमें उसमें अप्रतिम बुद्धि का चमत्कार दिखाई देता है। यह अप्रतिम बुद्धि वाला सर्वोच्च तत्त्व ही ईश्वर कहलाता है। ऊर्जा ही ईश्वर है, यह कहना नितान्त अज्ञानता है। हाँ, इसे इस रूप में कहें कि ईश्वर ही हर ऊर्जा का मूल प्रेरक वा स्रोत है, तब उचित है।

यदि ईश्वर को ऊर्जा कहने का ही हठ हो, तो मान लें, परन्तु वह चेतन ऊर्जा है, इसी प्रकार जीवात्मा भी चेतन ऊर्जा है। इस ऊर्जा में न कोई तरंगदैर्घ्य है, न कोई आवृत्ति और न आयाम। ईश्वरीय ऊर्जा सर्वत्र, सर्वथा व निरपेक्ष रूप से एकरस भरी है। वही सभी द्रव्य, ऊर्जा, आकाश, प्राण व छन्दादि रश्मियों, मन व 'ओम्' रश्मियों, काल तत्त्व व मूल प्रकृति की आधार व नियन्त्रक है। वह स्वाभाविक ज्ञान, बल, क्रिया व इच्छा से सर्वथा परिपूर्ण है। वह पूर्ण, सर्वव्यापक, शाश्वत एवं सर्वशक्तिशाली है। सबका नियन्त्रक होने से ही उसका नाम ईश्वर है। मैं अपने सुधी पाठकों को यही परामर्श दूँगा कि ईश्वर को ऊर्जा नाम न दें, तभी उचित होगा, भले ही उसे चेतन ऊर्जा ही क्यों न कहें। इससे वर्तमान वैज्ञानिक सोच वाले भ्रमित हो सकते हैं। उच्च विवेकशील पाठक यदि ऐसा कहते हैं, तो दोष नहीं, परन्तु पहले ईश्वर के स्वरूप को भली-भाँति समझकर मस्तिष्क में बिठा लेवें, अन्यथा नास्तिकता का भाव उत्पन्न हो सकता है।

इन्द्र

पौराणिक प्रचलित कथाओं में इन्द्र को यों तो देवराज कहा जाता है, परन्तु उन्हें लम्पट व कामी के रूप में प्रचारित किया जाता है। वस्तुतः वैदिक वाङ्मय तथा भारतीय इतिहास में 'इन्द्र' पद तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

१. सृष्टि रचयिता ईश्वर तत्त्व
२. ऐतिहासिक देवराज इन्द्र, जो महान् पराक्रमी, जितेन्द्रिय व धर्मात्मा पुरुष थे।
३. आधिदैविक पदार्थ इन्द्र।

यहाँ हम केवल आधिदैविक इन्द्र पदार्थ की चर्चा करते हैं। इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

१. अग्निहोत्रेणदर्शपूर्णमासाभ्यामिन्द्रमसृजत। (कौ.ब्रा.६.१५)
२. अथ यत्र (अग्निः) वर्षिष्ठं ज्वलति तद्धेन्द्रो भवति। (काश.३.१.१.१ - ब्रा.उ.को. से उद्धृत)
३. अयं वाऽइन्द्रो योऽयं (वातः) पवते (श.ब्रा.१४.२.२.६)
४. इन्द्रस्यैवैतच्छन्दो यत् त्रिष्टुप्। (शां.आ.१.२)
५. इन्द्रो बलं बलपतिः। (श.ब्रा.११.४.३.१२; तै.ब्रा.२.५.७.४)
६. इन्द्रो वै देवानामधिराजः। (मै.सं.२.२.११)
७. इन्द्रो देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः। (कौ.ब्रा.६.१४; ऐ.ब्रा.७.१६)
८. इन्द्रो वै मरुतः सान्तपनाः। (गो.उ.१.२३)
९. ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी। (मै.सं.३.१०.६; ऐ.ब्रा.२.१४)
१०. प्राणापानौ वा अस्य (इन्द्रस्य) हरी तौ हीदं सर्वं हर्तारौ हरतः। (जै.ब्रा.२.७९)
११. क्षत्रं वा इन्द्रः (मै.सं.१.१०.१३; श.ब्रा.२.५.२.२७; क.सं.४६.३)
१२. इन्द्रः इरां दृणातीति वा। इरां ददातीति वा। इरां दधातीति वा। इरां दारयते, इति वा। इरां धारयते, इति वा। इन्दवे द्रवतीति वा। इन्दौ रमते, इति वा। इन्धे भूतानीति वा (निरु.१०.८)
१३. मरुत्वान् वा इन्द्रः। (जै.ब्रा.१.११६)
१४. वाग् इन्द्रः (श.ब्रा.८.७.२.६), प्राण एवेन्द्रः (श.ब्रा.१२.९.१.१४)

इन बिन्दुओं पर विचार करने पर निम्नानुसार निष्कर्ष प्राप्त होता है—

१. दर्शपूर्णमास तथा अग्निहोत्र के मेल से इन्द्र तत्त्व उत्पन्न होता है। दर्शपूर्णमास के विषय में एक ऋषि का मत है— मन एव पूर्णमा...वागेव दर्श (श.ब्रा.११.२.४.७)। उधर अग्निहोत्र के विषय में कहा है— अग्निहोत्रं दशहोता (काठ.सं.९.१३; मै.सं.१.९.५)।

इसका आशय है कि मनस्तत्त्व एवं 'ओम्' रश्मि रूप वाक् प्राणापानादि दस प्राण रश्मियों [प्राणो वै दशहोता (मै.सं.१.९.५)] के साथ मिलकर इन्द्रतत्त्व को बनाते हैं। वस्तुतः विद्युत् का तीक्ष्ण रूप ही इन्द्र कहलाता है। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद भाष्य १.८७.५ में 'इन्द्रम्' पद का अर्थ 'विद्युदाख्यमग्निम्' किया है, तो ऋग्वेद भाष्य १.७.१ में 'महाबलवन्तं वायुम्' अर्थ किया है। इससे संकेत मिलता है कि ऐसी विद्युत्, जिसमें वायु अर्थात् प्राण रश्मियों की प्रचुरता हो, इन्द्र कहलाती है। यह इसका मूल रूप है।

२. जब विद्युत् अत्यन्त विशाल स्तर पर जलने लगती है, उस स्वरूप को भी इन्द्र कहते हैं।
३. इन्द्र तत्त्व निरन्तर प्रवहमान वायु अर्थात् प्राण व छन्दादि रश्मियों के रूप में वर्तमान होता है।
४. इसमें त्रिष्टुप् छन्द रश्मियों की प्रधानता होती है।
५. यह तत्त्व अत्यन्त बलवान् होता है तथा अन्य पदार्थों के बलों का रक्षक तथा पालक होता है।
६. यह अन्य सभी प्रकाशित पदार्थों के ऊपर शासन करता है।
७. यह सभी पदार्थों में सर्वाधिक ओज व बल से युक्त होता है।
८. विभिन्न सन्तप्त मरुत् रश्मियाँ ही इन्द्रस्वरूप होती हैं।
९. ऋक् व साम रश्मियाँ इन्द्र तत्त्व की दो हरणशील रस्सियाँ हैं।
१०. प्राण व अपान रश्मियाँ इन्द्र तत्त्व की दो हरणशील रस्सियाँ हैं।
११. इन्द्र तत्त्व क्षत्र रूप अर्थात् तीव्र भेदक शक्तिसम्पन्न होता है।
१२. [इरा = इरा अन्ननाम (निघं.२.७), इरा = इलेति मे मतम्। इला = पशव इला (जै.ब्रा. १.३००,३०७), अयं वै (पृथिवी) लोक इला (जै.ब्रा.१.३०७)] इन्द्र नामक तीक्ष्ण विद्युत् संयोज्य कणों वा छन्दादि रश्मियों को फाड़ती अर्थात् विखण्डित करती, उन्हें धारण करती, सोम अर्थात् सूक्ष्म मरुद् रश्मियों में रमण करती तथा उनकी ओर उन्मुख होकर दौड़ती है। इसके साथ ही विभिन्न पदार्थों को जलाती वा प्रकाशित करती है।
१३. इन्द्र नामक विद्युत् में अनेक प्रकार की मरुद् रश्मियाँ विद्यमान होती हैं।
१४. यह विद्युत् विभिन्न छन्द एवं प्राण रश्मियों के मिथुनों से निर्मित होती तथा उनसे समृद्ध होती है।

सारांशतः विभिन्न विद्युदावेशित किरणें वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगें जब अति तीव्र ऊर्जा

से सम्पन्न होकर देदीप्यमान होती हुई विभिन्न एटम्स, मोलिक्यूल्स आदि कणों तथा बड़े-२ मेघ समूहों व लोकों तक को तोड़ने की क्षमता से युक्त होती हैं, तब ऐसी ही तीक्ष्ण विद्युत् तरंगें इन्द्र कहलाती हैं। ये रश्मियाँ वैदिक डार्क एनर्जी के तीक्ष्ण व अवांछित प्रहार को नष्ट करतीं तथा कॉस्मिक मेघों को विखण्डित करती हैं। सूर्यादि लोकों के अन्दर ऐसी तीक्ष्ण तरंगों का भण्डार होता है, इस कारण इन देदीप्यमान लोकों को भी इन्द्र कहते हैं।

सोम

इसके विषय में ऋषियों का कथन है—

१. पशवो वै सोम। (तै.सं.६.१.९.७)
२. मिथुनं वा अग्निश्च सोमश्च, सोमो रेतोधा अग्नि प्रजनयिता (काठ.सं.८.१०; क.सं.७.६)
३. प्राणः सोमः (श.ब्रा.७.३.१.२)
४. योऽयं वायुः पवत ऽ एष सोम। (श.ब्रा.७.३.१.१)
५. सोमो रात्रिः (श.ब्रा.३.४.४.१५)
६. इनके अतिरिक्त वेद में भी कहा है— सोमः अन्तरिक्षं दाधार (ऋ.६.४७.४)

इन वचनों का निष्कर्ष निम्नानुसार प्राप्त होता है—

१. विभिन्न मरुद् रश्मियाँ ही सोम कहाती हैं।
२. मरुत् रूप सोम रश्मियाँ विभिन्न प्राण वा विद्युत् चुम्बकीय तरंगों रूपी अग्नि के साथ युग्म बनाती हैं, जिनमें सोम वृषारूप तथा दूसरा पदार्थ (अग्नि) योषा रूप व्यवहार करता है।
३. मरुत् रूप सोम रश्मियाँ प्राणवत् व्यवहार भी करती हैं।
४. विभिन्न सूक्ष्म छन्द व मरुत् रश्मियाँ सोम का ही रूप हैं।
५. सोम रूप रश्मियाँ अप्रकाशित अवस्था में होती हैं।
६. सोम रश्मियाँ आकाश तत्त्व को धारण वा आकर्षित करती हैं।

इसके अतिरिक्त ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में 'सोम' शब्द के निम्नानुसार अर्थ किए हैं—

१. उत्पन्न पदार्थसमूहः (तु.म.द.ऋ.भा.१.२१.१)

२. कारणाख्यो वायुः (म.द.ऋ.भा.१.९३.५)
३. मरुत् (म.द.ऋ.भा.६.७२.३)
४. शान्तगुणयुक्तः (म.द.ऋ.भा.३.३३.१२)
५. विद्युत् (म.द.ऋ.भा.६.७२.२)
६. सर्वोत्पादकः (म.द.ऋ.भा.१.९१.४)

इन वचनों से प्रमाणित होता है कि मरुद् रश्मियों की प्रधानता वाली सोम रश्मियाँ प्राण नामक प्राण रश्मियों से भी युक्त होती हैं। इन रश्मियों में शान्तगुणयुक्त विद्युत् विद्यमान रहती है, जिसे अति सूक्ष्म विद्युत् कह सकते हैं। सोम रश्मियाँ ऐसे सूक्ष्म रूप में होती हैं, जिन्हें वायु का कारणरूप कहा गया है। इससे सिद्ध है कि इसमें बड़ी छन्द रश्मियाँ विद्यमान नहीं होतीं। सोम रश्मियों में ऊष्मा की मात्रा नगण्य होती है। इन्द्र रूपी तीक्ष्ण विद्युत् चुम्बकीय तरंगें अथवा विद्युदावेशित तरंगें इन्हीं सोम रश्मियों का निरन्तर भक्षण करती हैं, इसे ही इन्द्र का सोमपान कहा जाता है। देवराज इन्द्र सोमरस पीकर मादकता में मस्त रहता है, ऐसी मिथ्या कथाओं के प्रचारकों को वेदविद्या का कुछ भी भान नहीं है। शोक है कि ऐसे ही नादान कथित विद्वानों की आज इस देश व विश्व में महिमा हो रही है। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि जो विद्वान् ऐतरेय ब्राह्मण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सोमयाग मानते हैं, वे यह बात अच्छी प्रकार विचार लें कि ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय सृष्टि विज्ञान है और सोमयाग इस सृष्टि को ही कहते हैं। इसका कारण यह है कि मूल प्रकृति से उत्पन्न नाना सोम रश्मियों के यजन व संगमन से ही इस सृष्टि का निर्माण होता है।

अब तक हम वैदिक विज्ञान की दृष्टि से मूल उपादान पदार्थ से लेकर मूलकणों, दृश्य ऊर्जा (अग्नि), एटम्स, मोलिक्यूल्स एवं डार्क मैटर व डार्क एनर्जी तक (वस्तुतः वैदिक डार्क मैटर एवं वैदिक डार्क एनर्जी) की उत्पत्ति, आन्तरिक संरचना एवं स्वरूप पर संक्षिप्त चर्चा कर चुके हैं। ये ऐसे पदार्थ हैं, जिनके विषय में वर्तमान विज्ञान गहन अन्धकार में है। मूल पदार्थ, काल, दिशा व आकाश के विषय में प्रायः अनजान है, जबकि वैदिक भौतिकी इन विषयों पर गम्भीर प्रकाश डालती है। यहाँ तक वर्णित पदार्थों के बनने की प्रक्रिया अपेक्षाकृत अत्यन्त जटिल व रहस्यमयी होने से हमें उसकी विस्तृत विवेचना करनी पड़ी, परन्तु इसके आगे कॉस्मिक मेघों का निर्माण, गैलेक्सियों व तारों का निर्माण, उनका स्थायित्व तथा कक्षीय परिभ्रमण व अक्षीय घूर्णन, तारों व गैलेक्सियों के केन्द्रों की आन्तरिक संरचना

आदि के विषय में यद्यपि वर्तमान भौतिकी विस्तृत प्रकाश डालती है, परन्तु इन विषयों में भी अनेक समस्याएँ विद्यमान हैं, जिनका सफल समाधान वर्तमान भौतिक वैज्ञानिकों के पास नहीं है।

कॉस्मिक मेघों का निर्माण कार्य कैसे प्रारम्भ होता है? ब्रह्माण्ड में बिखरे सूक्ष्म पदार्थ में संघनन क्रिया प्रारम्भ होकर तारों के केन्द्रीय बिन्दुओं का निर्माण कैसे प्रारम्भ होता है? कैसे मात्र गुरुत्वाकर्षण बल के कारण यह कार्य हो पाता है? बिखरे पदार्थ में गुरुत्वाकर्षण बल इतना प्रभावी कैसे हो जाता है कि लोकों के निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो सके? तारों के केन्द्रीय भागों के निर्माण की प्रारम्भिक प्रक्रिया किसी प्रकार प्रारम्भ हो भी जाये, तो उन भागों में नाभिकीय संलयन के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ कैसे उत्पन्न होती हैं? यह सम्पूर्ण विज्ञान वर्तमान भौतिकविदों को विदित नहीं है। वर्तमान भौतिकी चार प्रकार के बलों यथा— गुरुत्वाकर्षण बल, विद्युत् चुम्बकीय बल, प्रबल नाभिकीय बल एवं निर्बल बल को ही मूल बल मानता है, किन्तु उसे इन बलों के गम्भीर क्रियाविज्ञान का पूर्ण बोध नहीं है।

इधर वैदिक भौतिकी न्यूनतम नौ बलों को मूल बल मानती है। इसके साथ ही उन बलों के सम्पूर्ण क्रियाविज्ञान की भी विवेचना करती है। सभी बल मूलतः ईश्वर तत्त्व के बल से ही बल प्राप्त करते हैं तथा सभी ऊर्जाएँ मूलतः ईश्वर द्वारा ही प्रेरित होती हैं, इस गम्भीर विज्ञान से वर्तमान भौतिकी न केवल नितान्त अनभिज्ञ है, अपितु इस तथ्य का उपहास भी करती है। यही कारण है कि वर्तमान भौतिकी अपने प्रत्येक सिद्धान्त को एक ऐसे छोर पर ले जाकर खड़ा कर देती है, जहाँ से आगे बढ़कर कुछ जानने का कोई मार्ग उसे नहीं सूझता। तब उसे मूलभूत वा सैद्धान्तिक भौतिकी में अनुसन्धान के लिए कुछ भी समझ नहीं आता। यही कारण है कि वर्तमान सैद्धान्तिक भौतिकशास्त्री आज निराशा के अन्धकार में डूबते जा रहे हैं। वर्तमान भौतिकी विद्युत् चुम्बकीय तरंगों से सूक्ष्म किसी पदार्थ के विषय में विचार भी नहीं करती, जबकि वैदिक भौतिकी के लिए ये तरंगें बहुत स्थूल रचना है।

...without new discoveries it’s hard to keep a younger generation interested: “If both the LHC and the upcoming cosmological surveys find no new physics, it will be difficult to motivate new theorists. If you don't know where to go or what to look for, it's hard to see in which direction your research should go and which ideas you should explore.”

(In Theory: Is theoretical physics in crisis? Posted by Harriet Kim Jarlett on 18 May 2016.)

हमारे विज्ञपाठक! इन सभी विषयों को हम यहाँ समझाएँ, यह सम्भव व उचित प्रतीत नहीं होता। 'वेदविज्ञान-आलोकः' एवं 'वेदार्थविज्ञानम्' ग्रन्थों में विभिन्न स्थलों पर इन सभी बिन्दुओं पर विस्तार से चर्चा की गई है। ये सभी विषय उतने गूढ़ नहीं हैं, जितने कि मूलकणों से पूर्व की उत्पत्ति क्रियाओं का विज्ञान। इस कारण हम इन विषयों का विवेचन ग्रन्थ के कलेवर वृद्धि के भय से छोड़कर इस अध्याय का समापन करते हैं।

* * * * *
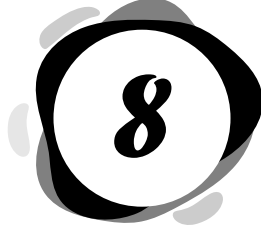
वेद का यथार्थ स्वरूप

अध्याय ५ में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि भाषा व ज्ञान दोनों की उत्पत्ति जगत् के चेतन कर्त्ता परमात्मा द्वारा ही की गयी। इस प्रक्रिया का कुछ विस्तार हम पूर्व में बता चुके हैं कि कैसे सृष्टि उत्पत्ति के समय भिन्न-२ छन्द (वाइब्रेशन) प्राण उत्पन्न हुए और सृष्टि की प्रथम पीढ़ी के चार ऋषियों ने कैसे अन्तरिक्ष से इन छन्दों को ग्रहण किया? इस अध्याय में हम इस विषय की चर्चा करेंगे कि वेद क्या है और ब्रह्माण्ड में इनकी उत्पत्ति कैसे हुई? वर्तमान में उपलब्ध वेद संहिताओं का स्वरूप क्या है? वेद के छन्द, देवता, ऋषि, स्वर आदि क्या हैं? इनकी वेदार्थ एवं सृष्टि विज्ञान में क्या उपयोगिता है? वेद का मानव जाति के लिए क्या उपयोग है एवं वेद को मानव मात्र के बीच प्रतिष्ठित करने के क्या उपाय हो सकते हैं? इन सब विषयों के साथ वेदार्थ की प्रक्रिया, ऋषि दयानन्द, आचार्य सायण आदि वेद भाष्यकारों के वेदभाष्यों की तुलना आदि विषयों के साथ-२ हमारी त्रिविध वेदभाष्य शैली पर भी प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

वेदार्थ मीमांसा

वेद उन छन्द रश्मियों का समूह वा संग्रह है, जो अग्नि, वायु आदि चार महर्षियों के द्वारा मानव सृष्टि की उत्पत्ति के प्रारम्भ में इस ब्रह्माण्ड से ग्रहण किया जाता है, यह बात हम 'भाषा व ज्ञान विज्ञान की उत्पत्ति' नामक अध्याय में विस्तार से लिख चुके हैं। हमने वहाँ इस बात की भी चर्चा की है कि इस ब्रह्माण्ड के निर्माण में ऐसी अनेक छन्द रश्मियाँ (मन्त्र) भी उत्पन्न होती हैं, जिन्हें वे चार महर्षि ग्रहण नहीं करते। वे मन्त्र वेद संहिताओं में विद्यमान नहीं हैं। ऐसे अनेक मन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थों एवं आश्वलायन श्रौत्र सूत्रादि में मिलते हैं। श्री पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने 'वैदिक छन्दो-मीमांसा' नामक ग्रन्थ में ऐसे

मन्त्रों को याज्ञिक प्रक्रिया के पोषक आचार्यों की रचना बताकर अवैदिक घोषित किया है। हम पूज्य पण्डित जी की विद्या को नमन करते हुए भी यह कहना चाहते हैं कि यह पण्डित जी का नितान्त भ्रम है।

ब्राह्मण ग्रन्थकार महर्षि साधारण आचार्य नहीं थे। वे इस सृष्टि तथा वेद दोनों के ही तलस्पर्शी विद्वान् एवं साक्षात्कृतधर्मा थे। उन्होंने ब्रह्माण्ड में स्पन्दित होती हुई उन ऋचाओं को स्वयं समाधिस्थ अवस्था में ग्रहण करके सृष्टि विज्ञान के गूढ़ रहस्यों को समझा और संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया। हमें ऐसा नहीं मान लेना चाहिए कि चार संहिताओं में विद्यमान मन्त्र रूपी छन्द रश्मियाँ ही इस ब्रह्माण्ड को बनाने हेतु पर्याप्त हैं। वस्तुतः पण्डित जी ने वैदिक छन्द विज्ञान पर कुछ भी चिन्तन नहीं किया, अन्यथा उन्हें यह भ्रम नहीं होता। श्री पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने अवश्य इस विषय पर कुछ चिन्तन किया है और उनके चिन्तन से ही मुझे वैदिक छन्द विज्ञान पर गम्भीरता से विचारने की प्रेरणा भी मिली है, पुनरपि सम्भवतः उन्होंने ऐसे विषयों पर विचार नहीं किया। उन्होंने इस विषय में कुछ झलक मात्र दी है, सविस्तार कुछ नहीं कहा।

वेद ब्रह्माण्ड का ग्रन्थ

कुछ सहस्र वर्ष पूर्व से ही वेद का यथार्थ स्वरूप संसार से लुप्त हो गया। इसे इस भारत देश, जिसे कभी आर्य्यावर्त्त कहा जाता था, के साथ-२ कथित हिन्दू जाति एवं उसके कथित धर्म से जोड़कर देखा जाने लगा तथा देखा जा रहा है। इस सबका कारण मात्र यही था कि भारतवर्ष से वेद एवं ब्राह्मणादि ग्रन्थों का यथार्थ विज्ञान लुप्त हो चुका था। वेद मन्त्रों का उपयोग मात्र कुछ साम्प्रदायिक कर्मकाण्डों तथा कुछ धार्मिक परम्पराओं के निर्वहन की सीमा में संकुचित कर दिया गया।

जो वेद उन छन्दों का समूह है, जो सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया के प्रारम्भ होने के साथ-२ मूल कारण पदार्थ में वाइब्रेशन्स के रूप में उत्पन्न हुए थे, लेकिन बड़े शोक का विषय है कि उन छन्दों के समूह वेद को वर्ग, देश व सम्प्रदाय के क्रूर बन्धनों में बाँध दिया गया। जिन वैदिक ऋचाओं से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, जिसमें प्राणिमात्र के शरीर भी सम्मिलित हैं, निर्मित हुआ, वह वेद इतना संकुचित वा हेय कैसे बन गया? यह एक लम्बी दुर्भाग्यपूर्ण कहानी है, जिस पर लिखना हम यहाँ आवश्यक नहीं समझते। हम संसार के प्रबुद्धजनों को यह अवश्य

कहना चाहते हैं कि ब्रह्माण्ड में उत्पन्न विभिन्न लोक, गैलेक्सियाँ, एटम, मोलिक्यूल्स, सूक्ष्म कण, विकिरण, प्राणी-शरीर एवं वनस्पति आदि पदार्थ क्या किसी देश, वर्ग, जाति वा सम्प्रदाय से बँधे हैं? क्या इनकी विद्या=विज्ञान किसी क्षेत्र, वर्ग आदि तक सीमित है? यदि ऐसा नहीं है, तब इन सबमें व्याप्त तथा इनकी उत्पत्ति की उपादान कारणभूत वैदिक ऋचाओं (छन्द रश्मि रूप वाइब्रेशन्स) को साम्प्रदायिक वा जातीयता से सम्बद्ध क्यों माना जा रहा है? क्यों वेद को ब्रह्माण्ड भर का ग्रन्थ नहीं माना जा रहा है? क्यों 'ओम्' की पवित्र ध्वनि, जो इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सर्वप्रथम उत्पन्न एवं सबकी प्रेरक रश्मि है, को हिन्दुओं से जोड़कर साम्प्रदायिक सीमाओं में बाँधा जा रहा है? क्यों इस महान् वैज्ञानिक एवं सबके मूल कारण पदार्थ रूप 'ओम्' रश्मि का विरोध किया जा रहा है? कोई इसे अपने सम्प्रदाय से जोड़ता है, तो कोई इसे पराया मानकर विरोध करता है, यह सब वेदविद्या के स्वरूप के विषय में नितान्त भ्रम व अज्ञान की स्थिति के कारण हो रहा है।

अभी हाल में विश्वप्रसिद्ध अमेरिकी वैज्ञानिक संस्थान नासा की रिपोर्ट के विषय में सुना कि उन्होंने ब्रह्माण्ड में 'ओम्' ध्वनि को व्याप्त हुआ पाया है। हमने इस ग्रन्थ में इससे आगे बढ़कर 'ओम्' रश्मि के विस्तृत क्रियाविज्ञान का रहस्योद्‌घाटन किया है, जिसे जानकर विश्व के वैज्ञानिकों को महान् आश्चर्य होगा। हमारा विश्वास है कि जैसे-२ वर्तमान विज्ञान विकसित होता जाएगा और वह साम्प्रदायिक संकीर्णता से पूर्णतः मुक्त होता जायेगा, वैसे-२ उसे 'ओम्' के साथ-२ इस ब्रह्माण्ड में सहस्रों वैदिक ऋचाओं की विद्यमानता का भी बोध हो सकेगा। उस समय विश्व का कोई भी वैज्ञानिक किंवा विचारशक्ति वाला व्यक्ति वैदिक पदों को ब्रह्माण्ड में व्याप्त मानने तथा वेद नामक ग्रन्थ को न केवल मानवमात्र, अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में विद्यमान सभी बुद्धिजीवी प्रजातियों का ग्रन्थ मानने को विवश होगा। इसके साथ ही वह इस महान् ग्रन्थ को अवश्य सश्रद्ध पढ़ना चाहेगा।

वह व्यक्ति वेद के साथ-२ इससे प्रसूत विभिन्न आर्षग्रन्थों (मनुस्मृति, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, दर्शन, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, कल्पसूत्रादि ग्रन्थों) में हमारी ही भाँति श्रद्धा रखेगा। तब उसे इस सत्य का भी बोध होगा कि वैदिक संस्कृत के शब्द नित्य रहते हुए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं, इससे वैदिक संस्कृत भाषा ही ब्रह्माण्ड की एकमात्र मूल भाषा है। इस कारण इसके पठन-पाठन का भी विश्व के लिए सभी मानव मिलकर उद्योग करेंगे, यह हमारा विश्वास है। इसके लिए संसार भर के प्रबुद्ध महानुभावों को अपने-

२ सम्प्रदाय, वर्ग आदि की मान्यताओं की स्वयं निष्पक्ष विवेचना करनी होगी तथा संकुचित मानसिकता को त्यागकर उदार हृदय एवं प्रखर वैज्ञानिक मस्तिष्क से निष्पक्ष चिन्तन करके मानव एकता का मार्ग प्रशस्त करने का पावन संकल्प लेना होगा।

वैदिक ऋचाओं का सृष्टि प्रक्रिया में योगदान

हम पूर्व में यह चर्चा कर चुके हैं कि वैदिक ऋचाएँ वस्तुत: सृष्टि के उपादान पदार्थ में उत्पन्न सूक्ष्म वाइब्रेशन्स का रूप होती हैं। ये वाइब्रेशन्स वा लहरें ही संसार के समस्त मूर्तिमान् पदार्थों का निर्माण करती हैं। जिस प्रकार पूर्ण शान्त जल में किसी बाहरी बल के कारण लहरें उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार प्रकृति-महत्-अहंकार व मनस्तत्त्व में ईश्वर तत्त्व द्वारा प्रेरित सूक्ष्म 'ओम्' रश्मियों के बल के कारण सूक्ष्म लहरें (वाइब्रेशन) उत्पन्न होती हैं। जिस प्रकार जल में उत्पन्न लहरें जल से परिपूर्ण तथा उसी से बनी होती हैं, उसी प्रकार वैदिक ऋचा रूपी छन्द रश्मियाँ मनस्तत्त्वादि में उत्पन्न तथा उसी से परिपूर्ण होती हैं। जिस प्रकार जल की तरंगों में जल के अतिरिक्त तरंगों को उत्पन्न करने वाली ऊर्जा भी विद्यमान होती है, उसी प्रकार वैदिक ऋचाओं में मनस्तत्त्वादि के अतिरिक्त इन वाइब्रेशन्स को उत्पन्न करने वाली 'ओम्' रश्मियाँ एवं उनके भी मूल ईश्वर तत्त्व की विशेष ऊर्जा भी सदैव विद्यमान होती है। इस प्रकार ईश्वर तत्त्व का मूल बल वा ऊर्जा तो सदैव सबके साथ निश्चित रूप से विद्यमान होती है। यदि वह न हो, तो सृष्टि के किसी जड़ पदार्थ में कोई भी प्रवृत्ति न हो सके।

ऋचाओं का प्रभाव

उधर वैदिक ऋचाओं के विभिन्न छन्दों का इस सृष्टि पर क्या-२ प्रभाव होता है? प्रत्येक पदार्थ इन रश्मियों के द्वारा किस-२ प्रकार निर्मित व प्रभावित होता है? यह हम पूर्व में सविस्तार लिख चुके हैं। अब हम उसी विषय को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं—

किसी ऋचा के छन्द के प्रभाव के साथ-२ उस ऋचा में विद्यमान प्रत्येक पद और उन पदों के प्रत्येक अक्षर का भी अपना विशिष्ट प्रभाव होता है। यदि ऐसा नहीं होता, तो समान छन्द वाली सभी ऋचाओं की सृष्टि निर्माण में समान भूमिका होती। ऐसी स्थिति में सृष्टि

उत्पत्ति प्रक्रिया में एक छन्द वाली अनेक ऋचाओं की उत्पत्ति की आवश्यकता ही नहीं होती, जबकि हमें यह ज्ञात है कि वेद एवं सृष्टि में एक ही छन्द वाली सहस्रों ऋचाएँ विद्यमान हैं। इस कारण प्रत्येक ऋचा के छन्द के प्रभाव के साथ-२ प्रत्येक पद व अक्षर की पृथक्-२ भूमिका अनिवार्यतः होती है। ईश्वर का कोई भी कार्य निरर्थक नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि उसकी अत्युच्च बुद्धिपूर्वक रचना है।

पदों का प्रभाव

इस सृष्टि में जब कोई पद रूप रश्मि वा अवयव उत्पन्न होता है, उस समय वह पद जिस ऋचा (छन्द रश्मि) में विद्यमान होता है, उसके प्रभाव में अपनी भूमिका का निर्वहन करने के साथ-२ अपना स्वतन्त्र प्रभाव भी दर्शाता है। वस्तुतः सभी पदों का स्वतन्त्र प्रभाव ही उस ऋचा के प्रभाव के रूप में प्रकट होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि पदों के विन्यास व छन्द के भेद की भी भूमिका अनिवार्यतः होती है। हम यहाँ पदों के प्रभाव पर विचार करते हैं। उदाहरण के रूप में मान लें कि इस सृष्टि में उत्पन्न किसी ऋचा में 'अग्निः' नामक पद विद्यमान है, तब इसके प्रभाव के कारण वह ऋचा अर्थात् छन्द रश्मि अग्नि अर्थात् किसी भी प्रकार की विद्युत् चुम्बकीय तरंगों अथवा विद्युदावेश किंवा ऊष्मा वा प्रकाश को उत्पन्न, प्रेरित वा समृद्ध अवश्य करेगी। हमने अग्नि महाभूत के द्वारा जिन-२ भी पदार्थों का ग्रहण किया है, वे-२ पदार्थ 'अग्नि' पद के प्रभाव से उत्पन्न, प्रेरित वा समृद्ध होंगे।

ऋचा व उसके पदों के प्रभाव को जानने की प्रक्रिया

वैदिक ऋचाओं के रूप में उत्पन्न छन्द रश्मियों के सृष्टि पर प्रभाव का उन ऋचाओं के आधिदैविक अर्थ से साक्षात् एवं नित्य सम्बन्ध है। इस कारण किसी ऋचा का आधिदैविक अर्थ जाने बिना उसका सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव जानना असम्भव है। इस प्रभाव को जानने के चरण निम्नानुसार हैं—

१. छान्दस प्रभाव — हम पूर्व में गायत्री आदि के साथ-२ उसके विभिन्न रूपों का प्रभाव बतला चुके हैं। विज्ञ पाठक उसके आधार पर किसी भी ऋचा का छान्दस प्रभाव स्वयं सहजतया समझ सकते हैं।

२. दैवत प्रभाव — प्रत्येक ऋचा का देवता उसका प्रतिपाद्य विषय होता है। उस ऋचा के

इस सृष्टि पर प्रभाव की दृष्टि से देवतावाची पद यह संकेत देता है कि उस ऋग् रूपी छन्द रश्मि का प्रमुख प्रभाव वा परिणाम क्या होता है? उदाहरण के रूप में मान लें कि किसी ऋचा का देवता अग्नि है, तब इस छन्द रश्मि के प्रभाव से अग्नि महाभूत समृद्ध व सक्रिय होगा और उस ऋचा का प्रमुख प्रभाव वा परिणाम यही होगा। अन्य छान्दस प्रभाव एवं पदों का पृथक्-२ विशेष प्रभाव पृथक् होगा। इतना होने पर भी पदों का प्रभाव देवतावाची पदार्थ को समृद्ध व सक्रिय करने वाला तो अवश्य ही होगा।

३. पदों का प्रभाव— यह जानने हेतु प्रत्येक पद का पृथक्-२ आधिदैविक अर्थ जानना अनिवार्य है। इसके साथ ही प्रत्येक पद के प्रत्येक अक्षर का भी प्रभाव जानना अनिवार्य है। ध्यातव्य है कि पद प्रायः शब्द व धातु अथवा निपात रूप होते हैं। इन तीनों का ही अर्थ तद्वत् ही प्रभाव दर्शाता है।

प्रश्न— शब्द रूप पद विभिन्न विभक्तियों तथा वचनों में हो सकते हैं तथा विभिन्न धातुरूप भिन्न-२ वचन व पुरुष में हो सकते हैं। ऐसी दृष्टि में उन पदों का आधिदैविक प्रभाव पृथक्-२ कैसे जाना जा सकेगा किंवा सबका प्रभाव समान होगा?

उत्तर— किसी भी ऋचा में जिस पद के जो विभक्ति, वचन वा पुरुष होते हैं, उनका प्रभाव भी प्रायः तद्वत् समझा जाना चाहिए। इसे हम निम्नानुसार समझ सकते हैं—

१. अग्निः — इस पद के प्रभाव से अग्नि तत्त्व कर्तृरूप होकर ऋचा की कारणरूप ऋषि प्राण रश्मियों से प्रेरित होता हुआ ऋचा में विद्यमान किसी कर्म कारक में विद्यमान पद रूप पदार्थ को क्रियापद रूप प्रभाव से युक्त करता है। ये दोनों पदार्थ उस समय सृष्टि में या तो निर्मित हो रहे होते हैं किंवा विद्यमान होते हैं। वहीं यह प्रभाव उत्पन्न होता है।

२. अग्निम् — इस पद के प्रभाव से अग्नि तत्त्व उस ऋचा में कर्मरूप में विद्यमान होकर किसी अन्य कर्त्तृरूप पदवाची पदार्थ के द्वारा प्रभावित होता हुआ क्रियापद रूपी प्रभाव से युक्त होता है। इन दोनों प्रकार के पदार्थों के विषय में भी पाठक यथावत् समझें।

३. अग्निना — इस पद के प्रभाव से अग्नि तत्त्व उस ऋचा में विद्यमान किसी कर्त्तृरूप पदवाची पदार्थ का साथी वा सहयोगी बनकर कर्मरूप पदवाची पदार्थ पर क्रियापद रूपी प्रभाव को दर्शाता अथवा ऐसा करने में सहयोग प्रदान करता है।

४. अग्नये — इस पद के प्रभाव से ऋचा में विद्यमान कर्त्तृरूप पदवाची पदार्थ अग्नि पदवाची पदार्थ को ऋचा में विद्यमान क्रियापदवाची प्रभाव वा किसी अन्य पदार्थ से युक्त करता है।

५. अग्नेः — यह पद पञ्चमी व षष्ठी विभक्ति का एकवचन है। इससे इसके दो प्रभाव होते हैं—

(अ) व्याकरण शास्त्र में पञ्चमी विभक्ति का जिस-२ रूप में प्रयोग माना गया है, उस-२ रूप में यह अपना प्रभाव दर्शाता है। उदाहरणस्वरूप अग्नि नामक पदार्थ से किसी कर्त्तृवाची पदरूपी पदार्थ का पृथक् होना, कम्पित होना आदि।

(ब) व्याकरण शास्त्र में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग सम्बन्ध को दर्शाता है। अन्य भी अपवाद रूप में जो-२ प्रयोग हैं, उस-२ रूप में यह तद्वत् प्रभाव दर्शाता है। यह प्रभाव कर्त्ता वा कर्मवाची पद रूप पदार्थों से सम्बन्ध रखता है।

६. अग्नौ — व्याकरण शास्त्र में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग जहाँ-२ जिस-२ रूप में होता है, वैसा-२ प्रभाव इस 'अग्नौ' पद का समझना चाहिए। इसका सम्बन्ध ऋचा में विद्यमान कर्त्तृवाची व कर्मवाची पद रूप पदार्थों से निश्चित ही मानना चाहिए।

७. अग्ने — यह सम्बोधनवाची पद ऋचा में विद्यमान किसी पदवाची पदार्थ किंवा उस ऋचा की कारण रूप ऋषि प्राण रश्मियों के द्वारा प्रेरित वा सक्रिय किया जाता है, यही इस सम्बोधनवाची पद का प्रभाव है।

इस प्रकार हमने शब्द रूप पदों के प्रयोग दर्शाए। अब वचनों के प्रभाव के विषय में हम इतना ही लिखना चाहेंगे कि 'अग्नी' पद के प्रभाव से दो प्रकार के अग्नि तत्त्व के उपर्युक्त प्रभाव उत्पन्न होते वा हो सकते हैं। इसी प्रकार अन्य विभक्तियों व वचनों में भी समझें।

अब हम क्रियापदवाची प्रभावों पर विचार करते हैं। हम उदाहरण के रूप में 'वह प्रापणे' धातु से लेकर निम्नानुसार प्रभाव दर्शाते हैं—

वहति — इस क्रियापद के प्रभाव से ऋचा में विद्यमान कर्त्तृ पदवाची पदार्थ कर्म पदवाची पदार्थों को वहन करता किंवा उनमें व्याप्त होने लगता है।

वहसि — इस क्रियापद के प्रभाव से ऋचा में विद्यमान कर्त्तृ पदवाची एवं कर्म पदवाची

पदार्थों के उपर्युक्त व्यवहार ऋचा अर्थात् छन्द रश्मि की कारण रूप ऋषि प्राण रश्मियों की प्रेरणा से सम्पादित होते हैं।

वहामि — इस क्रियापद के प्रभाव से ऋचा रूप छन्द रश्मि की कारण रूप ऋषि प्राण रश्मियाँ ही कर्त्तृ रूप प्रभाव दर्शाती हैं तथा वे रश्मियाँ छन्द रश्मियों के एक भाग के रूप में व्यवहार करती हैं।

ये वर्तमान काल की क्रियाओं के उदाहरण हैं। यदि क्रिया भूतकाल में हो, तब उससे सिद्ध होगा कि उस ऋचा के उत्पन्न होने पर वह क्रिया अपने प्रभाव को पूर्ण कर चुकेगी। जब क्रिया भविष्यत् काल में हो, तब क्रिया का प्रभाव आगे भी जारी रहेगा। जब क्रिया लिङ् वा लोट् में हो, तब इसका अर्थ यह होगा कि उस ऋचा की उत्पादिका ऋषि प्राण रश्मियाँ कर्त्तृ रूप में पदार्थ को प्रेरित करके क्रियापदवाची प्रभाव को दर्शाने का प्रयास करेंगी।

विज्ञ पाठक द्विवचन तथा बहुवचन वाची पदों का प्रभाव पूर्ववत् स्वयं समझ सकते हैं।

प्रश्न— वेदों में विभिन्न प्रकार के व्यत्यय माने जाते हैं। अनेक कार्य पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध भी होते हैं, ऐसा स्वयं महर्षि पाणिनि ने स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में विभिन्न पदों का प्रभाव क्या व्यत्ययानुसार परिवर्तित भी होता है किंवा सृष्टि प्रक्रिया के प्रभाव में व्यत्ययादि की उपयोगिता वा सत्ता नहीं है?

उत्तर— वेद में व्यत्ययादि का अपना एक गम्भीर विज्ञान है। हम सभी प्रकार के व्यत्ययों का विज्ञान पृथक्-२ वर्णित करके इस ग्रन्थ के कलेवर में वृद्धि नहीं करना चाहते। केवल उदाहरण के रूप में हम क्रियापद में एक व्यत्यय पर यहाँ विचार करते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकऽआसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ (यजुर्वेद २३.१)

यह मन्त्र यजुर्वेद में अन्यत्र दो स्थानों १३.४; २५.१० पर तथा ऋग्वेद १०.१२१.१ में भी विद्यमान है। इसमें 'दाधार' क्रियापद में व्यत्यय है। यजु.२३.१ के भाष्य में ऋषि दयानन्द ने इसका भाष्य 'धृतवान् धरति धरिष्यति वा' किया है। यह पद लिट् (परोक्ष भूतकाल) लकार का है, जबकि इसका अर्थ तीनों कालों में यथावत् सिद्ध होता है। वेदार्थ की दृष्टि से विचारें, तब यह वेद के अर्थ की गम्भीरता है, क्योंकि एक ही क्रियापद से तीन अर्थ एक

साथ प्रकाशित हो रहे हैं। यदि यह व्यत्यय नहीं होता, तो ईश्वर के धारण कर्म को समझाने हेतु तीन क्रियापदों का प्रयोग करना पड़ता। इससे या तो तीन ऋचाओं की आवश्यकता होती किंवा एक ही ऋचा में तीन क्रियापदों का उपयोग करना पड़ता। इससे ऋचा का छन्द परिवर्तित हो जाता। इस प्रकार विस्तृत अर्थ प्रकाशित करने हेतु कम से कम पदों के प्रयोग का विज्ञान ही व्यत्यय कहलाता है। वेद में सभी विज्ञानादि विधाएँ सूत्र रूप में होने से व्यत्ययों की अत्यावश्यकता वा अनिवार्यता होती ही है।

अब हम यह विचारते हैं कि इससे सृष्टि प्रक्रिया में ऋचा के प्रभाव में क्या अन्तर आएगा? हमारी दृष्टि में यहाँ भूतकाल की क्रिया होने का पूर्वोक्त प्रभाव तो होगा ही, इसके साथ-२ भविष्य व वर्तमान काल का प्रभाव भी दर्शाएगा। इस प्रकार एक ही छन्द रश्मि का दीर्घकालिक प्रभाव होगा। कुछ धारण कर्म सम्पन्न हो चुके, कुछ हो रहे हैं और कुछ होने वाले हैं। यह प्रभाव व्यत्यय विज्ञान के द्वारा केवल 'दाधार' पद से जाना जा सकता है। यदि यहाँ व्यत्यय नहीं होता, तो ऋचा का प्रभाव, विशेषकर धारण कर्म पूर्णता को प्राप्त करने वाला होता अर्थात् धारण कर्म होकर समाप्त हुआ, आगे नहीं होगा, ऐसा सिद्ध होता, जो मिथ्या ही होता। वेद में कहाँ व्यत्यय है और कहाँ नहीं है, यह बात शुद्ध-विज्ञानात्मा ऋषि ही जान सकते हैं। हमने ऋषि दयानन्द के भाष्य के आधार पर व्यत्यय को स्वीकार किया है। इसके साथ ही सामान्य युक्ति के आधार पर भी यहाँ व्यत्यय सहज सिद्ध हो जाता है।

हमने यहाँ क्रियापद के काल का व्यत्यय दर्शाया है। इसी प्रकार विज्ञ पाठक विभक्ति, वचन, वर्ण आदि सभी प्रकार के व्यत्ययों के विज्ञान का यथावत् बोध स्वयं कर सकते हैं।

४. ऋषि का प्रभाव— हम पूर्व में यह लिख चुके हैं कि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के समय तथा अन्यत्र भी ऋषि रूप सूक्ष्म प्राण रश्मियों से ही नाना ऋचा अर्थात् छन्द रश्मियों की उत्पत्ति होती है। इसका तात्पर्य यह है कि जब किसी ऋचा=छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है, उस समय वा उसके पूर्व ही उसकी कारण रूप कोई ऋषि प्राण रश्मि अवश्य विद्यमान होती है। इस कारण किसी भी छन्द रश्मि में उसकी उपादान कारणभूत ऋषि प्राण रश्मियों का यत्किंचित् प्रभाव भी वैसे ही अवश्य विद्यमान होता है, जैसे पिता-माता का प्रभाव सन्तान में तथा कारण पदार्थ का प्रभाव कार्यरूप पदार्थ में होता है। इसके साथ ही उस छन्द रश्मि के प्रभाव के साथ-२ उसके निकट ही विद्यमान उसकी कारण रूप ऋषि प्राण रश्मियों का

भी कुछ न कुछ प्रभाव उस प्रक्रिया पर अवश्य होगा। हमने इस ग्रन्थ में विभिन्न ऋषि प्राण रश्मियों का स्वरूप सार रूप में दर्शाया है, पाठक उसी प्रकार विभिन्न ऋषि प्राण रश्मियों के स्वरूप को जानकर उसका प्रभाव स्वयं जान सकते हैं।

वेदार्थ प्रक्रिया एवं विभिन्न ऋचाओं का प्रभाव

ऋषि दयानन्द की संसार को सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने सहस्रों वर्ष पश्चात् वेदार्थ की यथार्थ प्रक्रिया से संसार को अवगत कराया। दुर्भाग्यवश उन्हें न तो वेदार्थ हेतु पर्याप्त समय मिला और न ही अनुकूल परिस्थिति। इस कारण वे जैसा चाहते थे, वैसा वेदभाष्य नहीं कर पाए। कुछ पूर्वाग्रही किंवा भावुक महानुभाव मेरी इस बात के यथार्थ को जाने बिना विवादी बनने को समुद्यत रहते हैं। वे नहीं जानते कि वेद विद्या का गम्भीर अध्ययन व अनुसन्धान अति भावुकता एवं पूर्वाग्रहग्रस्तता से नहीं हो सकता। इसके लिए समुचित धैर्य, बौद्धिक उदारता एवं विशेष प्रखरता, पूर्ण निष्पक्षता, गम्भीर तर्क च ऊहा, परमेश्वर पर दृढ़ विश्वास, अर्थ-कामादि के प्रति अनासक्त भाव, व्यापक अध्ययन एवं उचित साधना की अपेक्षा होती है।

ऋषि दयानन्द के प्यारे अनुयायियो! आप उनके वेदभाष्य को पर्याप्त, पूर्ण व अन्तिम मानकर उनके साथ अन्याय कर रहे हैं। उनकी परिस्थिति को समझे बिना हम अपने अल्पज्ञान के आधार पर तत्काल कोई धारणा बना लेते हैं। उधर अन्य वैदिक विद्वान् वेदार्थ में प्रवेश भी नहीं कर पाए हैं। हमारे इस मत का प्रमाण प्रज्ञावान् पाठकों को आगामी उद्धरणों से स्वतः मिल जाएगा। हम यहाँ ऋषि दयानन्द की परिस्थिति पर कुछ लिखना आवश्यक समझते हैं।

आर्य विद्वान् आचार्य विश्वश्रवा व्यास ने 'ऋग्वेदमहाभाष्य' के पृष्ठ १४ पर लिखा है—

"(ऋषि दयानन्द की दृष्टि में) इतने अति विस्तृत वेदभाष्य करने में एक-एक वेद पर एक-एक सौ वर्ष लगेगा अर्थात् ऐसा वेदभाष्य करने में चार सौ वर्ष का समय अपेक्षित है।"

उधर आचार्य विश्वश्रवा इसके पूर्व इसी पृष्ठ पर लिखते हैं—

"संवत् १९३३ में नियमित रूप में विस्तृत वेदभाष्य और भूमिका का लेखन कार्य ऋषि ने प्रारम्भ कर दिया।"

हम जानते हैं कि ऋषि दयानन्द संवत् १९४० में दिवंगत हुए थे, इस प्रकार उन्हें वेदभाष्य करने हेतु ७-८ वर्ष का समय मिला, जबकि उन्हें ४०० वर्ष का समय अपेक्षित था। ७-८ वर्ष में भी अनेक कार्य करते एवं अनेकत्र भ्रमण करते हुए वेदभाष्य किया। ऐसी स्थिति में इस वेदभाष्य को पूर्ण, पर्याप्त एवं अन्तिम मानकर बैठ जाना और उससे आगे कुछ भी विचार न करना, यह स्वयं ऋषि के साथ-२ वेद विद्या का भी अपमान है। वस्तुतः ऋषि दयानन्द का भाष्य सांकेतिक है, परन्तु मुझ जैसे अध्येताओं के लिए मार्गदर्शक के समान है। अस्तु।

अब हम वेदार्थ प्रक्रिया पर संक्षिप्त विचार करते हैं। वेदार्थ में प्रकरण एवं देवता ज्ञान की अनिवार्यता एवं इन दोनों के ज्ञान में ऊहा एवं तर्क की अपरिहार्यता की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। वेदार्थ में छन्द, ऋषि एवं षड्जादि स्वरों के ज्ञान की प्रायः आवश्यकता नहीं होती, परन्तु आधिदैविक अर्थ करते समय इनका ज्ञान भी कुछ अंशों में परोक्षरूपेण उपयोगी है, इसका संकेत हमारे आधिदैविक भाष्य में मिल जाएगा। अब हम कुछ मन्त्रों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हैं—

१. न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३कपृत्।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥

[ऋ.10.86.16]

सायणभाष्य—

हे इन्द्र स जनो नेशे मैथुनं कर्तुं नेष्टे न शक्नोति यस्य जनस्य कपृच्छेपः सक्थ्या सक्थिनो अंतरा रंबते लंबते। सेत् स एव स्त्रीजन ईशे मैथुनं कर्तुं शक्नोति यस्य जनस्य निषेदुषः शयानस्य रोमशमुपस्थं विजृंभते विवृतं भवति। यस्य च पतिरिन्द्रो विश्वास्मादुत्तरः।

पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री भाष्य—

पदार्थ — (न) नहीं (सः) वह जीव (ईशे) अपने इन्द्रिय आदि पर शासन वा वश कर सकता है (यस्य) जिसका (कपृत्) प्रजनन इन्द्रिय निरन्तर (सक्थ्याः) स्त्री के जघनों के (अन्तरा) अन्दर (रम्बते) लटकता रहता है (सः) वह (इत्) ही (ईशे) वश में रखता है (निषेदुषः) सदा दृढ़ स्थिर (यस्य) जिसका (रोमशम्) प्रजनन इन्द्रिय (विजृम्भते) तेज से तमतमाता और स्थिर रहता है। (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (विश्वस्माद्) सब पदार्थों

से (उत्तरः) सूक्ष्म और उत्कृष्ट है।

भावार्थ— वह मनुष्य वा जीव अपनी इन्द्रियों पर शासन और वश नहीं प्राप्त कर सकता है, जो सदा स्त्री के साथ संभोग में ही लगा रहता है। हाँ, इन्द्रियों को वह वश में कर सकता है, जो ब्रह्मचर्य आदि तपों से अपनी इन्द्रिय को दृढ़ स्थिर रखता है। परमैश्वर्यवान् प्रभु सब पदार्थों से सूक्ष्म और उत्कृष्ट है।

२. न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते।
सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥

[ऋ.10.86.17]

सायणभाष्य—

स जनो नेशे मैथुनं कर्तुं नेष्टे यस्य जनस्य निषेदुषः शयानस्य रोमशमुपस्थं विजृंभते विवृतं भवति। सेत् स एव जन ईशे मैथुनं कर्तुं शक्नोति यस्य जनस्य कपृत् प्रजननं सक्थ्या सक्थिनी अंतरा रंबते लंबते। सिद्ध्यमन्यत्। पूर्वोक्तव्यतिरेकोऽत्र द्रष्टव्यः। पूर्वस्यामृचि यियप्सुरिन्द्रा-णीन्द्रं वदति अत्र त्वयियप्सुरिन्द्र इन्द्राणीं वदतीत्यविरोधः॥

पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री भाष्य

पदार्थ — (न) नहीं (सः) वह (ईशे) समर्थ होता है पत्नी के साथ संभोग और सन्तति जनन में (निषेदुषः) सोये हुए (यस्य) जिस गृहस्थ का (रोमशम्) प्रजनन इन्द्रिय (विजृम्भते) संभोग से पूर्व ही खुलकर रेतच्युत हो जाता है, (सः, इत्) वह ही इस कार्य में (ईशे) समर्थ होता है (यस्य) जिसका (कपृत्) प्रजनन इन्द्रिय (सक्थ्या) सक्थि के (अन्तरा) अन्दर (रम्बते) लम्बा और खड़ा होकर अन्दर तक पहुँचता है, (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर (विश्वस्मात्) सब पदार्थों से (उत्तरः) सूक्ष्म और उत्कृष्ट है।

भावार्थ — पत्नी के संभोग और सन्तति जनन में वह नहीं समर्थ होता है कि सोये हुए जिसका इन्द्रिय संभोग से पूर्व क्षरितवीर्य हो जाता है। वह समर्थ होता है, जिसका प्रजनन इन्द्रिय योनि के अन्दर लम्बा खड़ा अन्दर तक प्रविष्ट होता है। परमैश्वर्यवान् प्रभु सब पदार्थों से सूक्ष्म और उत्कृष्ट है।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक भाष्य—

सं. अन्वयार्थ — इष्टं गार्हस्थ्यमधिकरोति (यस्य कपृत्) यस्य सुखं पृणाति ददाति यत्तदङ्गम् 'पृणाति दानकर्मा' [निघं.3.20] कपूर्वकात् पृ धातो क्विपि रूपं तुक् च (सक्थ्या-अन्तरा रम्बते) सक्थिनी अन्तरा लम्बते (सः-इत्-ईशे) स एव गार्हस्थ्यमधिकरोति (यस्य निषेदुषः) यस्य निषदतो निकटं शयानस्य (रोमशं विजृम्भते) रोमशमङ्गं विजृम्भणं करोति विशिष्टं गात्रविनाम करोति (न सः-ईशे) न हि स खलु गार्हस्थ्यमधिकरोति (यस्य निषेदुषः-रोमशं विजृम्भते) यस्य निकटं शयानस्य रोमशमङ्गं गात्रविनाम करोति (सः-इत्-ईशे) स एव गार्हस्थ्यमधिकरोति (यस्य सक्थ्या-अन्तरा कपृत्-रम्बते) यस्य निकटं शयानस्य सक्थिनी अन्तरा सुखदायकमङ्गं लम्बते रोमशाङ्गस्य विजृम्भणं सुखप्रदाङ्गस्य योनौ लम्बनञ्च।

भा. अन्वयार्थ — (न सः-ईशे) वह नहीं स्वामित्व करता है, न ही गृहस्थभाव को प्राप्त करता है, (यस्य कपृत्) जिसका सुख देने वाला अंग (सक्थ्या-अन्तरा लम्बते) दोनों सांथलों-जंघाओं के मध्य में लम्बित होता है (सः-इत्-ईशे) वह ही गृहस्थ कर्म पर अधिकार करता है (यस्य निषेदुषः) जिस निकट शयन करते हुए का (रोमशं विजृम्भते) रोमों वाला अंग विजृम्भण करता है-फड़कता है (न सः-ईशे) वह गृहस्थ कर्म पर अधिकार नहीं करता है (यस्य निषेदुषः-रोमशं विजृम्भते) जिसके निकट शयन किए हुए का रोमों वाला अंग फड़कता है (सः-इत्-ईशे) वह ही गृहस्थ कर्म पर अधिकार करता है (यस्य सक्थ्या-अन्तरा कपृत्-लम्बते) जिसका निकट शयन करने पर सांथलों-जंघाओं के बीच में सुखदायक अंग विजृम्भित होता है, वह ही गृहस्थ कर्म पर अधिकार करता है।

बड़े शोक का विषय है कि ऋषि दयानन्द के अनुयायी कहाने वाले इन दोनों आर्य विद्वानों ने वेदभाष्य करने के अति उत्साह में ऋषि दयानन्द की यौगिक शैली का अनुसरण कर पाने की प्रतिभा के अभाव में घोर अश्लील सायणभाष्य का ही यथावत् ग्रहण करके वेद को कलंकित कर डाला। ध्यातव्य है कि विदेशी भाष्यकार ग्रिफिथ, जिसकी वेदार्थ में कोई योग्यता नहीं थी तथा जिसकी वेद एवं भारत के प्रति भावना भी अच्छी नहीं थी, उसने इन मन्त्रों के भाष्य को अश्लील एवं असभ्यतापूर्ण समझकर छोड़ दिया। उसने ऋग्वेद भाष्य के इस सूक्त में पाद टिप्पणी में लिख दिया—

"I pass over stanzas 16 and 17, which I cannot translate into decent English."

आश्चर्य है कि इन उपर्युक्त दोनों आर्य विद्वानों को इसमें असभ्यता व अश्लीलता प्रतीत नहीं हुई। ध्यातव्य है कि यह काम-विज्ञान प्रतिपादक कोई गम्भीर अर्थ नहीं है। विज्ञान की अपनी एक भाषा व विषय प्रतिपादन की गम्भीरता होती है, जिसे वैज्ञानिक बुद्धि वाला पुरुष ही जान सकता है, साहित्यिक व्यक्ति उस गम्भीरता को कभी प्राप्त नहीं कर सकता, उसे प्रत्येक अश्लील एवं लम्पटता की बात में काम-विज्ञान दिखाई देता है वा दे सकता है। हम संसार के वेदज्ञ कहे जाने वाले विद्वानों को घोषणापूर्वक कहना चाहते हैं कि ऐसा अर्थ करने वालों ने वेदार्थ में प्रवेश ही नहीं किया है। अस्तु।

श्री पण्डित जयदेव शर्मा, विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ भाष्य—

(यस्य कपृत्) जिसका सुखग्राही अन्त:करण (सक्थ्योः अन्तरा) आसक्तिजनक राग-द्वेषादि के बीच (रम्बते) लटक जाता, मुग्ध हो जाता है, (न सः इत् ईशे) वह शासन नहीं कर सकता। प्रत्युत (निसेदुषः) नित्य और निरन्तर निगूढ़ रूप से विद्यमान (यस्य) जिसका बनाया हुआ (रोमशम्) लोम के समान किरणों वाला सूर्य बिम्ब (विजृम्भते) गर्वपूर्वक तमतमाता है, वही (इन्द्रः) सब जगत् का स्वामी (विश्वस्मात् उत्तरः) सबसे उत्कृष्ट है।

श्री पण्डित जयदेव शर्मा, विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ भाष्य—

(न सा ईशे) वह प्रकृति अधीश्वरी (यस्य रोमशम्) नहीं है जिसका कि लोम के समान ओषधि-वनस्पति वर्ग (विजृम्भते) नाना प्रकार से भूमि पर उगता है। (सः इत् ईशे) वो ही प्रभु सब पर शासन करता है (यस्य) जिसका दिया सुख तथा (क-पृत्) पालन सामग्री (सक्थ्या अन्तरा) परस्पर सम्मिलित आकाश और भूमि दोनों के बीच (रम्बते) विद्यमान है। (इन्द्रः विश्वस्मात् उत्तरः) वह प्रभु ही सबसे उत्कृष्ट है।

श्री पण्डित शिवशंकर जी काव्यतीर्थ 'वैदिक इतिहासार्थ निर्णय' ग्रन्थ से—

पुनः इन्द्राणी उत्तेजना को बढ़ाती हुई कहती है कि हे इन्द्र! आपने जो आश्वासजनक बातें कही हैं, वे सब ठीक हैं, परन्तु विषयी पुरुष संसार में कुछ विशेष कार्य नहीं कर सकता। आप उन अज्ञानी पुरुषों के कुकर्मों में इस प्रकार लिप्त हैं कि अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करनी आपके लिये दुस्तर है। ऐ स्वामिन्! देखिये! (सः + न + ईशे) वह पुरुष जगत् का शासन नहीं कर सकता, (यस्य + कपृत् + सक्थ्या + अन्तरा + रम्बते) जिसका कपृत् अर्थात्

कपाल=शिर सर्वदा नीचे को झुकता है, किन्तु (सः + इत् + ईशे) वही पुरुष जगत् का शासन करता (निषेदुषः + यस्य + रोमशम् + विजृम्भते) अपने गृह पर बैठे हुए भी जिस पुरुष का ज्ञान पृथिवी पर सूर्यवत् प्रकाशित होता रहता है। (विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः) सक्थि = जंघा, जाँघ। 'सक्थि क्लीवे पुमानूरुः' कपृत् = कपाल, शिर, माथा। कं सुखं पृणातीति कपृत् = जो सुख का पालन करे। कपाल शब्द का भी यही अर्थ है— 'कं सुखं पालयतीति कपालः'। कहीं 'क' यह नाम ही शिर का है, जैसे— केश। अतः कपाल और कपृत् एकार्थक हैं।

श्री पण्डित शिवशंकर जी काव्यतीर्थ 'वैदिक इतिहासार्थ निर्णय' ग्रन्थ से—

पुनः उक्त अर्थ को दूसरे प्रकार से कहती है। यह ऋचा ठीक 16 वीं ऋचा से उल्टी प्रतीत होती है, परन्तु भाव और शब्दार्थ में भेद है। यथा (सः + न + ईशे) वह पुरुष ऐश्वर्यवान् नहीं हो सकता (निषेदुषः + यस्य + रोमशम् + विजृम्भते) बैठे हुए जिस पुरुष का ज्ञान-विज्ञान जम्भाई ले रहा है अर्थात् जैसे आलसी पुरुष बैठा हुआ जम्भाई लिया करता है। उससे पुरुषार्थ का कोई कार्य बन नहीं पड़ता, तद्वत् जो विद्वान् पढ़-लिख के भी सदा आलस्य में बैठा हुआ जम्भाई लेता रहता। मानो उसकी विचारी विद्या भी उसके साथ जम्भाई लेती रहती है, ऐसे पुरुष ऐश्वर्यशाली नहीं हो सकते। किन्तु (सः+ईशे) निश्चय ही वही 'ऐश्वर्यशाली' होता है (यस्य + कपृत् + सक्थ्या + अन्तरा + रम्बते) जिसका शिर अर्थात् जिसकी दृष्टि दोनों जाँघों के बीच झुकी हुई है अर्थात् केवल विद्या के अध्ययन से कुछ लाभ नहीं, किन्तु जिसकी दोनों जंघाओं में पूरा बल है। जिसकी दोनों जंघाएँ कभी भ्रष्ट नहीं हुई हैं, जिसका इन्द्रिय दूषित नहीं हुआ है, जो सदा इन्द्रियरक्षार्थ सावधान है, जो सदा देखता रहता है कि मेरा कोई इन्द्रिय कलंकित तो नहीं हुआ, वही ऐश्वर्यशाली हो सकता है इत्यादि। पुरुषार्थसूचक दोनों ऋचाएँ हैं।

इन आर्य विद्वानों का भाष्य शिष्ट व कुछ ग्राह्य तो है, परन्तु इससे भी वेदार्थ की गम्भीरता व्यक्त नहीं होती।

दोनों मन्त्रों पर मेरा त्रिविध भाष्य—

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३कपृत्।

सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ [ऋ.10.86.16]

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते।
सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ [ऋ.10.86.17]

अब हम इन दोनों मन्त्रों पर अपना त्रिविध भाष्य प्रस्तुत करते हैं—

अत्र प्रमाणानि (आधिदैविक पक्ष में)

इन्द्रः = कालविभागकर्त्तासूर्यलोकः (म.द.ऋ.भा.1.15.1), महाबलवान् वायुः (म.द.ऋ.भा.1.7.1), विद्युदाख्यो भौतिकाऽग्निः (म.द.ऋ.भा.1.16.3)। इन्द्राणी = इन्द्रस्य सूर्यस्य वायोर्वा शक्तिः (म.द.ऋ.भा.1.22.12)। वृषा = वीर्यकारी (म.द.ऋ.भा.3.2.11), वेगवान् (म.द.ऋ.भा.2.16.6), परशक्तिबन्धकः (म.द.ऋ.भा.2.16.4)। वृषाकपिः = वृषा चाऽसौ कपिः। कपिः = कम्पतेऽसौ (उ.को.4.145), आदित्यः (गो.उ.6.12)। कपृत् = क+पृत्, 'पदादिषु मांस्पृत्स्नूनामुपसंख्यानम्' (वा.अष्टा.6.1.63) से पृतना को पृत् आदेश। पृतना = सेना (आप्टेकोष), संग्रामनाम (निघं.2.17), कः = प्राणः = प्राणो वाव कः (जै.उ.4.11.2.4)। सक्थि = सजतीति (उ.को.3.154), षञ्ज संङ्गे = आलिंगन करना, सटे रहना (सं.धा.को. पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक), सक्थिभ्यां क्रौञ्चौ-अजायेताम् (जै.ब्रा.2.267)। क्रौञ्चः = रज्जुः (तां.ब्रा.13.9.17)। रज्जुः = रश्मिः। रश्मयः = रज्जवः किरणा वा (म.द.य.भा.29.43), रश्मेव = (रश्मा + इव) = किरणवद् रज्जुवद् वा (म.द.ऋ.भा.6.67.1), प्राणाः रश्मयः (तै.ब्रा.3.2.5.2)। रोमशः = लोमशः (रेफस्य लत्वम्), लोमाः = छन्दांसि वै लोमानि (श.ब्रा.6.4.1.6), पशवो वै लोम (तां.ब्रा.13.11.11), प्राणा = छन्दांसि (तु.मै.सं.3.1.9)। रम्बते = लम्बते (रेफस्य लत्वम्) क्वचित् रम्बते भी रहेगा। निषेदुः = निषण्णाः (निरु.13.10), नितरां दृढ़स्थित, विश्रान्त, नतमुख, खिन्न, कष्टग्रस्त। ऋषयः = ज्ञापकाः प्राणाः (म.द.य.भा.15.11), प्रापका वायवः (तु.म.द.य.भा.15.10), बलवन्तः प्राणाः (म.द.य.भा.15.13), प्राणा वा ऋषयः (ऐ.ब्रा.2.27; श.ब्रा.7.2.3.5), धनञ्जयादयः सूक्ष्मस्थूलावायवः प्राणाः (म.द.य.भा.15.14)

अत्र प्रमाणानि (आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक पक्ष में)

इन्द्रः = राजा (म.द.ऋ.भा.6.29.6), विद्वान्मनुष्यः (म.द.य.भा.26.4), जीवः (म.द.

ऋ.भा.3.32.10)। कपृत् = कम् सुखनाम (निघं.3.6), अन्नम् (निरु.6.35), उदकनाम (निघं.1.12), सुखस्वरूपः परमेश्वरः (म.द.य.भा.5.18)। पृत् = पृत्सु संग्रामनाम (निघं.2.17)। सेना = सिन्वन्ति बध्नन्ति शत्रून् याभिस्सा (तु.म.द.य.भा.17.33)। बलम् (म.द.ऋ.भा.2.33.11), सेश्वरा समानगतिर्वा (निरु.2.11)। क्रौञ्चम् = वाग् वै क्रौञ्चम् (तां.ब्रा.11.10.19), रश्मिः = ज्योतिः (म.द.ऋ.भा.1.35.7), यमनात् (निरु.2.15), अन्नम् (श.ब्रा.8.5.3.3), एते वै विश्वेदेवाः रश्मयः (श.ब्रा.2.3.1.7)। देवः = धनं कामयमानः (म.द.ऋ.भा.7.1.25)। लोम = अनुकूलवचनम् (म.द.य.भा.23.36)। रोमा = रोमाणि औषध्यादीनि (म.द.ऋ.भा.1.65.4)।

मेरा आधिदैविक भाष्य—

१. (यस्य) जब सूर्य के अन्दर (कपृत्) विभिन्न प्रकार के प्राणों की सेना अर्थात् धारा (स्ट्रीम) एवं उनका संघर्षण वा इंटरेक्शन उस (अन्तरा, सक्थ्या) सूर्य के केन्द्रीय व बहिर्भाग को जोड़ने वाले उत्तरी व दक्षिणी दृढ़ भागों, जिनसे विभिन्न प्रकार के विकिरणों व प्राणों (वाइब्रेशन्स) की धाराएँ (स्ट्रीम्स) उत्पन्न होती रहती हैं, के बीच (रम्बते=लम्बते) पिछड़ कर ठहर सी जाती है अथवा फैलकर मन्द पड़ जाती है। उस समय (न, सः, ईशे) वह इन्द्रतत्त्व अर्थात् सूर्य में स्थित बलवान् वैद्युत वायु समस्त सूर्य किंवा दोनों भागों के बीच की गति व संगति में तालमेल-सामंजस्य रखने में असमर्थ हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य के दोनों भागों अर्थात् नाभिकीय संलयन युक्त केन्द्रीय भाग, जिसमें सतत अपार ऊर्जा उत्पन्न होती रहती है, जिसे सूर्य की भट्टी कह सकते हैं एवं बहिर्भाग की जो पृथक्-2 घूर्णन गति होती है और दोनों के मध्य जो एक ऐसा संधि क्षेत्र होता है, जिसके सिरे उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव की ओर होते हैं, के बीच सन्तुलन खोने लगता है। इस कारण समस्त सूर्य पर संकट आ सकता है। अब इसी मन्त्र में आगे कहते हैं कि ऐसी अनिष्ट स्थिति कब नहीं बनती और कब यह सूर्य सन्तुलित व अनुकूलन की स्थिति में होता है?

(यस्य, निषेदुषः) जिस निरन्तर दृढ़ तेजस्वी उपर्युक्त इन्द्र के प्राणों की सेना अर्थात् वाइब्रेशन्स की स्ट्रीम्स (रोमशम्=लोमशम्) विभिन्न छन्द रूपी प्राणों तथा मरुत् अर्थात् सूक्ष्म पवनों से अच्छी प्रकार सम्पन्न होकर (विजृम्भते) विशेषरूपेण जागकर अर्थात् सक्रिय होकर अपने बल व तेज से सम्पन्न होती है, (सः, इत्, ईशे) तब यह इन्द्र अर्थात् विद्युदग्नियुक्त

वायु सूर्य के दोनों भागों की गति व स्थिति को नियन्त्रित रखने में समर्थ होता है। यह प्राण सेना स्ट्रीम उपर्युक्त सक्थि अर्थात् सूर्य के दोनों भागों को मिलाने वाले उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों की ओर स्थित संधि भागस्थ दृढ़ भागों के बीच ही उत्पन्न व सक्रिय होती है। (विश्वस्मात्, इन्द्रः, उत्तरः) यह इन्द्र तत्त्व अर्थात् विद्युदग्नियुक्त तेजस्वी बलवान् वायु अन्य तेजस्वी पदार्थों की अपेक्षा उत्कृष्ट व बलवत्तम है। यही बलपति है तथा सृष्टि यज्ञ को उत्कृष्टता से तारने वाला है। (ऋग्वेद 10.86.16)

भावार्थ — जब सूर्य के केन्द्रीय व बहिर्भाग को जोड़ने वाली दृढ़ स्तम्भ रूपी उत्तरी व दक्षिणी प्राण धाराएँ मन्द हो जाती हैं, तब सूर्य के दोनों भागों में सन्तुलन खोकर सूर्य का अस्तित्व संकटग्रस्त हो सकता है और जब वे दोनों धाराएँ विशेष रूप से सक्रिय व सशक्त होती हैं, तब सूर्य का सन्तुलन उचित प्रकार से बना रहता है।

२. (यस्य) जब सूर्य के अन्दर (कपृत्) विद्युदग्नियुक्त वायु के विभिन्न प्राणों की सेना (स्ट्रीम) उस (अन्तरा, सक्थ्या) सूर्य के केन्द्रीय व बहिर्भाग के मध्य स्थित उनको जोड़ने वाले उत्तरी व दक्षिणी दृढ़ भागों, जिनमें विभिन्न प्रकार के प्राणों (वाइब्रेशन्स) की धाराएँ उत्पन्न होती रहती हैं, के बीच (रम्बते=लम्बते) चिपककर उनको अपने नियन्त्रण में लेकर ऊपरी भाग को ऊपर ही लटकाने व धारण करने में समर्थ होती है, तब (सः, इत्, ईशे) वैद्युत अग्नि युक्त वायु रूपी इन्द्र इन्हें अर्थात् सूर्य के दोनों भागों को संतुलित रखने में समर्थ होता है अर्थात् उस समय सूर्य का बहिर्भाग उसके केन्द्रीय भाग, जिसमें नाभिकीय संलयन की प्रक्रिया सतत चलती है, (यस्य, निषेदुषः) के ऊपर सन्तुलन बनाये रखते हुए सतत फिसलता रहता है, परन्तु यदि (रोमशम् = लोमशम्) प्रशस्त बलयुक्त छन्द, प्राण व मरुत् अर्थात् सूक्ष्म पवन (विजृम्भते) खुलकर फैल जाते हैं, जिससे उनका प्रभाव मन्द पड़ जाता है। जैसे किसी पानी की धारा को जब तीव्र दाब से फेंका जाता है, तो उसमें मारक क्षमता तेज होती है। वह पत्थर को भी छेद सकती है, किसी प्राणी को भी मार सकती है, परन्तु जब वही धारा बड़े छिद्र में से प्रवाहित कर दी जाये, तो वह खुलकर फैल जायेगी और उसका मारक वा छेदक प्रभाव मन्द वा बंद पड़ जाता है। उसी मन्दता की यहाँ चर्चा है।

(न, सः, ईशे) उस समय वह इन्द्र तत्त्व अर्थात् विद्युदग्नियुक्त वायु सूर्य के उन दोनों भागों पर सन्तुलन-सामंजस्य खो सकता है, जिससे सूर्य का अस्तित्व संकट में पड़ सकता

है। (विश्वस्मात्, इन्द्र, उत्तरः) यह इन्द्र तत्त्व ही अखिल उत्पन्न पदार्थ समूह रूपी संसार में सबसे श्रेष्ठतम व बलवत्तम है तथा यह समस्त अन्न अर्थात् संयोज्य परमाणुओं को उत्कृष्टता से तारते हुए जगत् की रचना में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। (ऋग्वेद 10.86.17)

भावार्थ — जब सूर्य के केन्द्रीय व बहिर्भाग के बीच प्रवाहित उत्तरी व दक्षिणी प्राण धाराएँ तीव्र बलवती होती हैं, तब दोनों भागों के बीच की गति व अवकाश का सन्तुलन व सामंजस्य बना रहता है, परन्तु जब वे धाराएँ इधर-उधर बिखरकर दुर्बल हो जाती हैं, तब दोनों भागों के मध्य असंतुलन उत्पन्न होकर सूर्य के अस्तित्व पर संकट आ सकता है।

इन दोनों ऋचाओं का सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव—

आर्ष व दैवत प्रभाव — इसका ऋषि वृषाकपि इन्द्र तथा इन्द्राणी है। इसका तात्पर्य है कि विद्युद्वायुयुक्त तीव्र बलवान् सूर्यलोक के भीतरी भाग में स्थित प्राथमिक प्राण रश्मियों से इस छन्द रश्मि की उत्पत्ति होती है। इस समय प्राथमिक प्राण रश्मियाँ प्रबल रूप में विद्यमान होने से ये छन्द रश्मियाँ विशेष बलवती होती हैं, इस कारण इनके प्रभाव से भी विशेष बल उत्पन्न होता है। इनका देवता इन्द्र होने से इन छन्द रश्मियों के द्वारा सूर्यादि तारों के मध्य विभिन्न विद्युत् बलों की समृद्धि होती है अर्थात् विद्युदावेशित कणों की ऊर्जा में भारी वृद्धि होती है।

छान्दस प्रभाव — इनका छन्द निचृत् पंक्ति होने से तारों के बहिर्भाग से विभिन्न कणों को तारों के केन्द्रीय भाग में ले जाया जाता है और ऐसा करते हुए बाहरी व आन्तरिक भाग में भारी क्षोभ उत्पन्न होता है, पुनरपि उन कणों की पारस्परिक संयोज्यता में वृद्धि होती है। इनका पंचम स्वर सभी क्रियाओं को सतत विस्तृत करने में सहायक होता है।

ऋचाओं का प्रभाव — इन दोनों छन्द रश्मियों का प्रभाव तारों के केन्द्रीय भाग (जिसमें नाभिकीय संलयन की क्रिया होती है) तथा उसके ऊपर विद्यमान शेष सम्पूर्ण विशाल भाग के मध्य संधि क्षेत्र में होता है। ये दोनों भाग परस्पर कुछ असमान गति से एक-दूसरे पर फिसलते रहते हैं। संधि भाग के उत्तरी व दक्षिणी भागों में विभिन्न प्राण व छन्द रश्मियों की सुदृढ़ धाराएँ विद्यमान रहती हैं, जो दोनों भागों को परस्पर एक मर्यादित दूरी पर बनाये रखने के साथ-2 विशाल भाग को दृढ़ता से थामे रखती हैं। उन धाराओं में इन छन्द रश्मियों की

भी विशेष भूमिका होती है। इनके प्रभाव से वे सुदृढ़ धाराएँ क्रमशः दुर्बल एवं सबल रूप प्राप्त करती रहती हैं। इस कारण तारे का विशाल भाग संधि भाग के ऊपर कभी कुछ निकट, तो कभी कुछ दूर होता रहता है अर्थात् दोलन करता रहता है। इसका तात्पर्य है कि केन्द्रीय भाग एवं शेष विशाल भाग के मध्य विद्यमान संधि भाग स्प्रिंग की भाँति सूक्ष्म मात्रा में कभी फैलता, तो कभी सिकुड़ता रहता है। इस क्षेत्र में विद्युत् चुम्बकीय बलों की विशेष प्रधानता व सक्रियता होती है।

मेरा आधिभौतिक भाष्य—

१. (यस्य) जिस राजा का (कपृत्) सेनाबल अथवा उसका अन्न-धन का भण्डार (सक्थ्या, अन्तरा) सभी विद्वानों वा धन की कामना करने वाले प्रजाजनों के मध्य उभरते राग-द्वेष रूप संघर्ष के मध्य (रम्बते) पिछड़ जाता है अथवा उनकी विशेष आसक्ति का कारण बन जाता है। (सः, न, ईशे) वह ऐश्वर्यहीन राजा अपने देशवासियों पर शासन नहीं कर सकता है अर्थात् उसके राष्ट्र में अराजकता उत्पन्न हो जाती है, परन्तु (यस्य, निषेदुषः) निरन्तर स्थिरता में आश्रित जिस राजा का सेनाबल अथवा अन्न-धन संसाधन (रोमशम्) जब प्रशस्तरूपेण सब प्रजाजनों के लिए अनुकूल वचनयुक्त एवं प्रचुर औषधि, पशु आदि से सम्पन्न होता है तथा (विजृम्भते) सब प्रजाजनों के लिये यथायोग्य रीति से वितरित किया जाता है तथा यह वितरण व्यवस्था सदा सुचारुरूपेण चलती रहती है, (सः, इत्, ईशे) वही राजा अपने राष्ट्र पर सब ऐश्वर्यों से युक्त होकर शासन कर सकता है। (विश्वस्मात्, इन्द्र, उत्तरः) ऐसे समग्र ऐश्वर्यसम्पन्न राजा का शासन अन्य सभी व्यवस्थाओं से श्रेष्ठ होता है। (ऋग्वेद 10.86.16)

भावार्थ — राजा को चाहिए कि वह सम्पूर्ण राष्ट्र के लिये अनुकूल वचनों से युक्त होकर अपनी प्रजा के मध्य पनप रहे राग-द्वेषजन्य असन्तोष एवं संघर्ष को दूर करने का सतत प्रयत्न करे। साथ ही अपने बल व धन का सम्पूर्ण प्रजा के हित में यथायोग्य नियोजन करे।

२. (यस्य, निषेदुषः) जिस विश्रान्त एवं कष्टग्रस्त राजा का (रोमशम्) प्रशस्त अन्न, औषधि व पश्वादि संसाधन (विजृम्भते) अव्यवस्थितरूपेण खुला रहता है अर्थात् जिसके राज्य में अपव्ययता व वितरण की अव्यवस्था होती है। (न, सः, ईशे) वह ऐश्वर्यहीन राजा अपने राष्ट्र पर शासन करने में समर्थ नहीं होता है। (सः, इत्, ईशे) वही राजा ऐश्वर्यवान् होकर अपने राष्ट्र पर समुचित रीति से शासन कर सकता है, (यस्य, कपृत्) जिसका सेनाबल तथा

अन्न-धन भण्डार (सक्थ्या, अन्तरा) सभी विद्वानों व प्रजाजनों के मध्य उत्पन्न राग-द्वेषजन्य संघर्ष के मध्य (रम्बते) उस राग-द्वेष की भावना को हराकर अर्थात् दूर करके प्रजाजनों को उससे ऊपर उठाता है। फिर वह राजा सभी प्रजाजनों में उस बल व धनादि पालन सामग्री का दृढ़ता से यथायोग्य वितरण करता हुआ अपने पालन कर्म से सभी प्रजाजनों के हृदय में बस जाता है। (विश्वस्मात्, इन्द्र, उत्तरः) ऐसा ऐश्वर्यवान् राजा अपने प्रजाजनों को अपने अन्नादि पदार्थों के द्वारा सर्वविध दुःखों से तारने वाला होता है। (ऋग्वेद 10.86.17)

भावार्थ — ऐश्वर्य के इच्छुक राजा को चाहिए कि वह अपने राष्ट्र को बाहरी आक्रमणादि कष्टों से सुरक्षित रखते हुए पूर्ण पुरुषार्थ के साथ अपने अन्न-धन आदि पालन सामग्री का अपव्यय वा अव्यवस्थित वितरण कदापि न होने दे, बल्कि अपने प्रजाजनों के अन्दर पनप रहे राग-द्वेषजन्य असन्तोष एवं संघर्ष को उचित पालनादि क्रियाओं व आवश्यक होने पर उचित दण्ड का आश्रय लेकर दूर करके सबका हित करने की सदैव चेष्टा करता रहे, जिससे वह सबका पितृवत् प्रिय बना रहे।

मेरा आध्यात्मिक भाष्य—

१. (यस्य) जिस विद्वान् पुरुष का (कपृत्) मन एवं सुखकारी प्राणों का समूह (सक्थ्या, अन्तरा) राग-द्वेषादि द्वन्द्वों में आसक्ति एवं कोलाहल के मध्य (रम्बते) चिपका रहता है अर्थात् उन्हीं में रत रहता है, (न, सः, ईशे) वह अपनी इन्द्रियों पर शासन नहीं कर सकता, बल्कि (यस्य, निषेदुषः, रोमशम्) दृढ़ व ब्रह्मवर्चस् से तेजस्वी होकर अपने अन्तःकरण को प्रणव तथा गायत्र्यादि छन्दरूप वेद की पवित्र ऋचाओं में प्रशस्त रूप से रमण करते हुए (विजृम्भते) स्वयं को परमपिता सुखस्वरूप परमेश्वर के आनन्द में विस्तृत कर देता है, (सः, इत्, ईशे) वही योगी पुरुष अपनी इन्द्रियों पर शासन कर पाता है। (विश्वस्मात्, इन्द्र, उत्तरः) ऐसा जितेन्द्रिय विद्वान् अन्य प्राणियों में सबसे श्रेष्ठ होता है। (ऋग्वेद 10.86.16)

भावार्थ — विद्वान् पुरुष को चाहिए कि अपने को योगयुक्त करके परमपिता परमात्मा में रमण करने के लिए अपने अन्तःकरण को राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से दूर हटाकर प्रणव तथा गायत्र्यादि ऋचाओं के विधिपूर्वक जप द्वारा परमेश्वर की उपासना करने हेतु अपनी इन्द्रियों पर जय प्राप्त करे।

२. (यस्य, निषेदुषः, रोमशम्) जिस निरन्तर विश्रान्त व खिन्न रहते हुए विद्वान् पुरुष का अन्तःकरण विभिन्न गायत्र्यादि ऋचाओं का जप करते समय अर्थात् उपासना का अभ्यास करते समय (विजृम्भते) इधर-उधर फैलने लगता है अर्थात् अस्थिर होकर इधर-उधर भागता है, (न, सः, ईशे) वह विद्वान् अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता है, बल्कि (यस्य, कपृत्) जिसका मन तथा सुखकारी प्राण समूह (सक्थ्या, अन्तरा) विभिन्न द्वन्द्वों तथा सांसारिक व्यवहार के बीच (रम्बते) स्थिर होकर तपता हुआ एक स्थान पर दृढ़ रहता हुआ निरन्तर परमेश्वर के जप में संलग्न रहता है, (सः, इत्, ईशे) वही विद्वान् योगी बनकर अपनी इन्द्रियों पर शासन करके समग्र ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। (विश्वस्मात्, इन्द्र, उत्तरः) ऐसा योगी स्वयं को सब दुःखों से तारकर अन्य प्राणियों को भी दुःखों से तारने वाला होता है। (ऋग्वेद 10.86.17)

भावार्थ — मुमुक्षु विद्वान् पुरुष को चाहिए कि ईश्वरोपासना वा जप करते समय मन को एकाग्र करके निरन्तर परमेश्वर में मग्न रहे तथा ऐसा करते हुए अपने सम्पूर्ण द्वन्द्वों को जीतकर स्वयं मोक्ष को प्राप्त करके दूसरे प्राणियों को भी दुःखों से दूर करने का प्रयत्न करता रहे।

३. त्वं सूकरस्य दर्दृहि तव दर्दर्तु सूकरः।
स्तोतॄनिंद्रस्य रायसि किमस्मान्दुच्छुनायसे नि षु स्वप॥ [ऋ.7.55.4]

सायणभाष्यम्

हे सारमेय त्वं सूकरस्य वराहस्य॥ द्वितीयार्थे षष्ठी॥ दर्दृहि। विदारय। सूकरोऽपि तव दर्दर्तु। विदारयतु। युवयोर्नित्यवैरित्वात्। अस्मान्मा दशेत्यर्थः॥ स्तोतॄनित्यर्धर्चः पूर्वस्यामृचि व्याख्यातः॥

H.H. Wilson

Do the rend the hog: let the hog rend thee: Why dost thou assail the worshippers of Indra? Why dost thou intimidate us? go quitly to sleep.

Ralph T.H. Griffith

Be on the guard against the boar, and let the boar beware of thee. At

Indra's singers barkest thou? Why dost thou seek to terrify us? Go to sleep.

इन दोनों ही विदेशी भाष्यकारों ने सायणाचार्य का ही अनुकरण किया है। वस्तुतः पाश्चात्य वेदभाष्यकारों में वह योग्यता ही नहीं थी कि वे वेदादि शास्त्रों का भाष्य कर सकें। दुर्भाग्यवश न केवल पाश्चात्य देश, अपितु आर्य्यावर्तीय (भारतीय) कथित प्रबुद्ध वर्ग इन्हीं को विशेष प्रामाणिक मानता है। आचार्य सायण की भी वेदार्थ में कोई योग्यता नहीं थी। इन तीनों के भाष्य का सार है—

"हे शूकर व कुत्तो! तुम परस्पर लड़ो, एक-दूसरे को मारो, काटो। इन्द्र के उपासकों वा स्तुति करने वालों पर आक्रमण क्यों करते हो? हमें क्यों कष्ट देते हो? जाओ, चुपचाप सो जाओ।"

संसार के प्रबुद्ध जनो! क्या आपको इन कथित वेदभाष्यकारों के भाष्य में कुछ भी सार्थक बात दिखाई देती है? अब हम इस मन्त्र का ऋषि दयानन्द का आधिभौतिक भाष्य प्रस्तुत करते हैं—

पदार्थः — (त्वम्) (सूकरस्य) यः सुष्ठु करोति (दर्दृहि) भृशं वर्धय (तव) (दर्दर्तु) भृशं वर्द्धताम् (सूकरः) यः सम्यक् करोति (स्तोतृन्) विदुषः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यस्य (रायसि) रा इवाचरसि (किम्) (अस्मान्) (दुच्छुनायसे) (नि) (सु) (स्वप)।

भावार्थः — हे गृहस्थ त्वमैश्वर्यं संचित्य धर्मे व्यवहारे संवीय विदुषः सत्कृत्य श्रीमानिवाचरास्मान् प्रति किमर्थं श्वेवाचरति नीरोगस्सन् प्रतिसमयं सुखेन शयस्व।

पदार्थ — हे गृहस्थ जिस (सूकरस्य) सुन्दरता से कार्य करने वाले (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य्यवान् (तव) तुम्हारे (सूकरः) कार्य को अच्छे प्रकार करने वाला (दर्दर्तु) निरन्तर बढ़े (त्वम्) आप (रायसि) लक्ष्मी के समान आचरण करते हो और जो सब को (दर्दृहि) निरन्तर उन्नति दें अर्थात् सब की वृद्धि करें (स्तोतृन्) स्तुति करने वाले विद्वान् (अस्मान्) हम लोगों को (किम्) क्या (दुच्छुनायसे) दुष्ट कुत्तों में जैसे वैसे आचरण से प्राप्त होते हो, उस घर में सुख से (नि, षु, ष्वप) निरन्तर सोओ।

भावार्थ — हे गृहस्थ! आप ऐश्वर्य का संचय कर धर्म व्यवहार में अच्छे प्रकार विस्तार कर और विद्वानों का सत्कार कर श्रीमानों के समान आचरण करो, हम लोगों के प्रति

किसलिये कुत्ते के समान आचरण करते हो, नीरोग होते हुए प्रति समय सुख से सोओ।

इस मन्त्र पर मेरा मत—

अब हम इस मन्त्र पर विचार करते हैं। इस मन्त्र का देवता इन्द्र, ऋषि वसिष्ठ, छन्द बृहती तथा स्वर मध्यम है। इस ऋचा तथा इसमें आए हुए कुछ पदों पर विचार करते हैं—

सूकरः = यः सुष्ठु करोति (म.द.भा.)

दृ विदारणे = प्रभूत वृद्धि करना [दर्दर्तु= भृशं वर्द्धताम् (म.द.भा.)। दर्दृहि = अत्यन्तं वर्धय (म.द.ऋ.भा.3.30.21)]

रायसि = रा इवाचरसि (म.द.भा.)

दुच्छुनायसे = दुष्टेष्वेवाचरसि (म.द.ऋ.भा.7.55.3)

सारमेय = [सरमा = सरणात् (निरु.11.24), या सरति सा सरला नीतिः (म.द.ऋ.भा.4.16.8), समानरमणा (म.द.ऋ.भा.5.45.7)] स्वार्थ में तद्धित।

मेरा आधिदैविक भाष्य—

(त्वम्) [सारमेय-पूर्व ऋचा से अनुवृत्त] इन्द्र तत्त्व के साथ-2 रमण करने वाली मरुद् रश्मियाँ [इन्द्रो वै मरुतः क्रीडिनः (गो.उ.1.23), मरुतो ह वै क्रीडिनो वृत्रᳪ हनिष्यन्तमिन्द्रमागतं तमभितः परिचिक्रीडुर्महयन्तः। (श.ब्रा.2.5.3.20)] (सूकरस्य) जो अपने सभी कार्य अच्छी प्रकार तथा तीव्रतापूर्वक करता है, ऐसे उस इन्द्र तत्त्व=तीक्ष्ण वायु मिश्रित विद्युत् को (दर्दृहि) प्रभूत मात्रा में समृद्ध करती हैं। इसके साथ ही वे मरुद् रश्मियाँ, विशेषकर प्राणापान रश्मियाँ उस तीक्ष्ण इन्द्र तत्त्व रूपी विद्युत् का असुर तत्त्व आदि बाधक पदार्थों के निवारण हेतु उचित विभाग भी करती हैं, जिससे वह इन्द्र तत्त्व संयोजक पदार्थों को सम्यक् रूपेण सम्पीडित कर सके। (तव) उन मरुद् रश्मियों को (सूकरः) सुष्ठुकारी व शीघ्रकारी इन्द्र तत्त्व भी (दर्दर्तु) नाना प्रकार से उपयुक्त दिशाओं में विभक्त करता है, जिससे वे नाना परमाणुओं के मध्य संयोजन क्रियाएँ करने में सक्षम बनती हैं।

वे मरुद् रश्मियाँ एवं इन्द्र तत्त्व (स्तोतॄन्, इन्द्रस्य) उस इन्द्र संज्ञक विद्युत् के द्वारा प्रकाशित व सक्रिय परमाणु आदि पदार्थों को (किम्, रायसि) [रायः = पशवो वै रायः

(श.ब्रा.3.3.1.8)] छन्दादि रश्मियों के समान तरंग के तुल्य व्यवहार करने के लिए क्यों प्रेरित वा विवश करते हैं? यहाँ 'किम्' पद को प्रश्नवाची न मानकर प्राणवाची 'कः' का द्वितीया रूप मानना अधिक उपयुक्त है। इस प्रकार यहाँ कहा गया है कि इस छन्द रश्मि की कारणरूप ऋषि रश्मियाँ विभिन्न प्राण रश्मियों को मरुद् रश्मियों के साथ और उनके अनुकूल व्यवहार हेतु प्रेरित करती हैं। (अस्मान्, दुच्छुनायसे) यहाँ हमें से तात्पर्य इस ऋचा की कारणरूप वसिष्ठ ऋषि अर्थात् प्राण रश्मियाँ दुष्ट असुर रश्मियों के अन्दर [इव = पादपूरणार्थ] सर्वतः विचरती हुई (नि, षु, स्वप) नितराम् व्याप्त हो जाती हैं, जिससे असुर तत्त्व क्षीण बल होकर प्रसुप्तवत् आकाश तत्त्व में लीन हो जाता है।

भावार्थ — इन्द्र रूपी विद्युत् को विभिन्न मरुद् रश्मियाँ, जो उसके साथ क्रीड़ा करती हुई सी निरन्तर गमन करती हैं, अनुकूलता व प्रचुरतापूर्वक समृद्ध करती हैं। इसके साथ ही विभिन्न पदार्थों के संयोग व वियोग के समय विद्युत् बलों का उचित विभाग भी करती हैं। उधर इन्द्र रूपी विद्युत् भी परमाणुओं के संयोग व वियोग की प्रक्रिया के समय मरुद् रश्मियों का उचित विभाग करती है, जिससे उनके मध्य अनुकूल आकर्षणादि बल उत्पन्न हो सकें। वे मरुद् रश्मियाँ एवं विद्युत् दोनों ही संयोग वा वियोग करने वाले परमाणुओं को उस प्रक्रिया के समय तरंगीय गति के समान गति प्राप्त कराते हैं। इसके साथ ही इस प्रक्रिया में संयोजक बलों से युक्त प्राण नामक प्राण रश्मियाँ संयोग प्रक्रिया में बाधक बन रही डार्क एनर्जी के अन्दर व्याप्त होकर उन्हें नितान्त दुर्बल बना देती हैं। इससे वह सर्वथा क्षीणबल डार्क एनर्जी बिखर कर और आकाश में मिलकर निष्क्रिय हो जाती है।

इस ऋचा का सृष्टि प्रक्रिया पर प्रभाव—

आर्ष व दैवत प्रभाव — इसकी उत्पत्ति वसिष्ठ अर्थात् प्राण नामक प्राण रश्मियों से होती है। [वसिष्ठः = प्राणा वै वसिष्ठ ऋषिः (श.ब्रा.8.1.1.6)] इससे सिद्ध है कि इस छन्द रश्मि के उत्पन्न होने के पूर्व विद्यमान प्राण रश्मियाँ इस छन्द रश्मि को प्रभावित व सक्रिय करने में भी सहायक होती हैं। इसका देवता इन्द्र होने से इन्द्र तत्त्व समृद्ध होता है अर्थात् विद्युत् बलों की तीक्ष्णता बढ़ जाती है।

छान्दस प्रभाव — इसका छन्द बृहती होने से यह विभिन्न परमाणुओं को बाँधकर अपेक्षाकृत बड़े अणुओं के निर्माण में सहायक होती है। इसका स्वर मध्यम होने से यह छन्द रश्मि

संयोज्य परमाणुओं के बाहरी आवरण, जो सूत्रात्मा वायु रश्मियों का होता है, के मध्य प्रविष्ट होकर अपना बन्धक प्रभाव दर्शाती है।

ऋचा का प्रभाव — जब दो विद्युत् आवेशित कणों को परस्पर निकट लाया जाता है, उस समय उनके चारों ओर विद्युत् चुम्बकीय बल उत्पन्न हो जाता है। उन बल रश्मियों के चारों ओर सूक्ष्म मरुद् रश्मियाँ निरन्तर क्रीड़ा करती हुई गमन करती हैं। वे ऐसी मरुद् रश्मियाँ विद्युत् आवेश के उचित बलों को समृद्ध करती हैं। इससे ऋणावेशित कण आकाश तत्त्व में खिंचाव उत्पन्न करने लगता है। यही ऋणावेशित कण अपने अन्दर से उत्सर्जित मरुद् रश्मियों को उचित रीति से विभक्त करके धनावेशित कणों से उत्सर्जित धनञ्जय आदि प्राण रश्मियों को आकृष्ट करने में सहयोग करता है। वे रश्मियाँ अर्थात् फील्ड रश्मियाँ दोनों संयोज्य कणों को कोई हानि नहीं पहुँचाती हैं, बल्कि वे उन कणों को उस समय तरंग के समान कम्पित (वाइब्रेट) अवश्य करती हैं। इस वाइब्रेशन में प्राण नामक प्राण रश्मियाँ, जो धनावेशित कणों से उत्सर्जित होती हैं, कणों के मध्य सूक्ष्म रूप में विद्यमान डार्क एनर्जी पर प्रहार करके उसे सर्वथा क्षीण करके आकाश में मिला देती हैं। इससे वह संयोग प्रक्रिया में बाधा नहीं पहुँचा सकती।

मेरा आध्यात्मिक भाष्य—

(त्वम् = सारमेय) योग साधना में प्रवृत्त मनुष्य के साथ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति नामक पाँच वृत्तियाँ (सूकरस्य, दर्दृहि) साधक को शीघ्रतापूर्वक अपने प्रभाव से आच्छादित करने वाले पञ्च क्लेशों अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश को बढ़ाती हैं तथा (तव) उन पाँच वृत्तियों को (सूकरः) वे पञ्च क्लेश भी (दर्दर्तु) समृद्ध करते हैं। (स्तोतृन्, इन्द्रस्य, किम्, रायसि, अस्मान्) इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान् परमेश्वर के हम स्तोताओं = योग साधकों के चित्त को ये वृत्तियाँ एवं क्लेश [रायसि = गच्छसि — सायणभाष्य] क्यों चंचल बनाती हैं? इसका उत्तर यह है कि (दुच्छुनायसे) इससे योगपथ का पथिक मनुष्य उन दुष्ट वृत्तियों व क्लेशों के प्रभाव में बहता हुआ (नि, षु, स्वप) उस साधना से नितराम् उपरत हो जाता है। इस कारण योग साधक को चाहिए कि वह इन दोनों अर्थात् वृत्तियों व क्लेशों को सतत अभ्यास व सम्यक् ज्ञान के द्वारा नियन्त्रित व निर्मूल करके उन्हें प्रसुप्तवत् बनाने का प्रयत्न करता रहे।

भावार्थ — जब कोई योगसाधक योग मार्ग पर अग्रसर होता है, तब प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति नाम वाली पाँच वृत्तियाँ तथा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश नाम वाले पाँच क्लेश उसके मन को बार-2 अस्थिर करने लगते हैं। इससे योगाभ्यासी अपने पथ से उपरत होने लगता है। इस कारण योगाभ्यासी को चाहिए कि वह इन वृत्तियों व क्लेशों से दूर रहने का धैर्यपूर्वक निरन्तर प्रयत्न करता रहे, जिससे उसकी योगमार्ग में सतत प्रवृत्ति बनी रहे।

४. एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्॥

[अथर्व.9.6.3.9]

इस मन्त्र का आचार्य सायण ने भाष्य नहीं किया है।

पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर भाष्य—

पदार्थ — एतत् वै उ स्वादीयः = वह जो स्वादयुक्त है, यत् अधिगवं क्षीरं वा मांसं वा = जो गौ से प्राप्त होने वाले दूध या अन्य मांसादि पदार्थ हैं, तत् एव न अश्नीयात् = उसमें से कोई पदार्थ अतिथि के पूर्व भी न खावे।

इस पर मेरा मत—

इसके भाष्य में आर्य विद्वान् प्रो. विश्वनाथ विद्यालंकार ने मांस का अर्थ पनीर किया है, तो पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने मनन साधक (बुद्धिवर्धक) पदार्थ को मांस कहा है। सभी ने इस मन्त्र तथा सूक्त के अन्य मन्त्रों का विषय अतिथि सत्कार बताया है। इस मन्त्र का देवता पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी की दृष्टि में अतिथि व अतिथिपति है, जबकि पण्डित सातवलेकर ने अतिथि विद्या माना है। पण्डित सातवलेकर ने इसका ऋषि ब्रह्मा माना है। इसका छन्द पिपीलिका मध्या गायत्री है। [ब्रह्मा = मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा (श.ब्रा.14.6.1.7), प्रजापतिर्वै ब्रह्मा (गो.उ.5.8)। अतिथिः = यो वै भवति यः श्रेष्ठतामश्नुते स वा अतिथिर्भवति (ऐ.आ.1.1.1)। अतिथिपतिः = अतिथिपतिर्वावातिथेरीशे (क.46.4 ब्रा.उ.को. से उद्धृत)। पिपीलिका = पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः (दै.ब्रा.3.9)। स्वादु = प्रजा स्वादु (ऐ.आ.1.3.4), प्रजा वै स्वादुः (जै.ब्रा.2.144), मिथुनं वै स्वादु (ऐ.आ.1.3.4)। क्षीरम् = यदत्यक्षरत् तत् क्षीरस्य क्षीरत्वम् (जै.ब्रा.2.228)। मांसम् = मांसं वै पुरीषम् (श.ब्रा.8.6.2.14), मांसं माननं

वा मानसं वा मनोऽस्मिन् सीदतीति वा (निरु.4.3), मांसं सादनम् (श.ब्रा.8.1.4.5)]

मेरा आधिदैविक भाष्य—

(एतत्, वा, उ, स्वादीय:) ये अतिथि अर्थात् सतत गन्त्री प्राण, व्यान रश्मियाँ एवं अतिथिपति अर्थात् प्राणापान रश्मियों की नियन्त्रक सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ स्वादुयुक्त होती हैं अर्थात् ये विभिन्न छन्दादि रश्मियों के मिथुन बनाकर नाना पदार्थों को उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। (यत्) जो प्राण, व्यान व सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ (अधिगवम्, क्षीरम्, वा, मांसम्, वा) गो अर्थात् 'ओम्' छन्द रश्मि रूपी सूक्ष्मतम वाक् तत्त्व में आश्रित होती हैं, साथ ही अपने पुरीष= पूर्ण संयोज्य बल [पुरीषम् = पूर्णं बलम् (म.द.य.भा.12.46), ऐन्द्रं हि पुरीषम् (श.ब्रा. 8.7.3.7), अन्नं पुरीषम् (श.ब्रा.8.1.4.5)] के साथ निरन्तर नाना रश्मि वा परमाणु आदि पदार्थों के ऊपर झरती रहती हैं। इन 'ओम्' रश्मियों का झरना ही क्षीरत्व तथा पूर्ण संयोज्यता एवं पर्याप्त बल ही मांसत्व कहलाता है। यहाँ 'मांस' शब्द यह संकेत देता है कि ये 'ओम्' रश्मियाँ मनस्तत्त्व से सर्वाधिक रूप से निकटता से सम्बद्ध होती हैं किंवा मनस्तत्त्व इनमें सर्वाधिक मात्रा में बसा हुआ रहता है। ये 'ओम्' रश्मियाँ प्राण, व्यान एवं सूत्रात्मा वायु रश्मियों के ऊपर झरती हुई अन्य स्थूल पदार्थों पर गिरती रहती हैं।

(तत्, एव, न, अश्नीयात्) इस कारण से विभिन्न रश्मि वा परमाणु आदि पदार्थों के मिथुन बनने की प्रक्रिया नष्ट नहीं होती। यह प्रक्रिया अतिथिरूप प्राणव्यान के मिथुन बनने किंवा इनके द्वारा विभिन्न मरुदादि रश्मियों को आकृष्ट करने की प्रक्रिया शान्त होने से पूर्व नष्ट नहीं होती है, बल्कि उसके पश्चात् अर्थात् दो कणों के संयुक्त होने के पश्चात् मिथुन बनने की प्रक्रिया नष्ट वा बन्द हो सकती है, यह जानना चाहिए।

इस ऋचा का सृष्टि पर प्रभाव—

आर्ष व दैवत प्रभाव — इसका ऋषि ब्रह्मा होने से यह संकेत मिलता है कि इसकी उत्पत्ति 'ओम्' रश्मियों से ही होती है। ये रश्मियाँ इस छन्द रश्मि को निरन्तर व निकटता से प्रेरित करती रहती हैं। इसके दैवत प्रभाव से प्राण, व्यान तथा सूत्रात्मा वायु रश्मियाँ विशेष सक्रिय होकर नाना संयोग कर्मों को समृद्ध करती हैं।

छान्दस प्रभाव — इसका छन्द पिपीलिका मध्या गायत्री होने से यह छन्द रश्मि विभिन्न

पदार्थों के संयोग के समय उनके मध्य तीव्र तेज व बल के साथ सतत संचरित होती है। इससे उन पदार्थों के मध्य विभिन्न पदार्थ तेज एवं बल को प्राप्त करते रहते हैं।

ऋचा का प्रभाव — जब दो कणों का संयोग होता है, तब उनके मध्य प्राण, व्यान व सूत्रात्मा वायु रश्मियों का विशेष योगदान होता है। ये रश्मियाँ विभिन्न मरुद् रश्मियों द्वारा आकुंचित आकाश तत्त्व को व्याप्त कर लेती हैं। इसी समय इन रश्मियों के ऊपर सूक्ष्म 'ओम्' रश्मियाँ अपना सेचन करके इन्हें अधिक बल से युक्त करती हैं। इससे दोनों कणों के मध्य फील्ड निरन्तर प्रभावी होता हुआ उन दोनों कणों को परस्पर संयुक्त कर देता है।

मेरा आधिभौतिक भाष्य—

(एतत्, वा, उ, स्वादीयः) ये जो स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ होते हैं। (यत्, अधिगवम्, क्षीरम्, वा) जो गाय से प्राप्त होने वाले दूध, घृत, मक्खन, दही आदि पदार्थ हैं अथवा (मांसम्, वा) मनन, चिन्तन आदि कार्यों में उपयोगी फल, मेवे आदि पदार्थ हैं।[१०] (तदेव न अश्नीयात्) उन पदार्थों को अतिथि के खिलाने से पूर्व न खावे अर्थात् अतिथि को खिलाने के पश्चात् ही खाना चाहिए। यहाँ अतिथि से पूर्व न खाने का प्रसंग इसके पूर्व मन्त्र से सिद्ध होता है, जहाँ लिखा है— 'अशितावत्यतिथावश्नीयात्' = अशितावति अतिथौ अश्नीयात्। इस प्रकरण को पूर्व आधिदैविक भाष्य में भी समझें।

मेरा आध्यात्मिक भाष्य—

[मांसम् = मन्यते ज्ञायतेऽनेन तत् मांसम् (उ.को.3.64), मांसं पुरीषम् (श.ब्रा.8.7.4.19)। पुरीषम् = पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा (निरु.2.22), सर्वत्राऽभिव्याप्तम् (म.द.य.भा.38.21), यत् पुरीषं स इन्द्रः (श.ब्रा.10.4.1.7), स एष प्राण एव यत् पुरीषम् (श.ब्रा.8.7.3.6)]

(एतत्, वा, उ, स्वादीयः) योगी पुरुष के समक्ष परमानन्द का आस्वादन कराने वाले ये पदार्थ विद्यमान रहते हैं, जिनके कारण जीव का परमात्मा के साथ सायुज्य रहता है, (यत्, अधिगवम्, क्षीरम्, वा, मांसम्, वा) वे पदार्थ योगी की मन आदि इन्द्रियों में प्रतिष्ठित होते हैं। वे पदार्थ क्या हैं, इसका उत्तर यह है कि सर्वत्र अभिव्याप्त परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्ररूप

---

10 परिशिष्ट १ देखें।

परमात्मा से झरने वाली 'ओम्' वा गायत्री आदि वेदों की ऋचाएँ ही वे पदार्थ हैं, जो योगी की इन्द्रियों व अन्तःकरण में निरन्तर स्रवित होती रहती हैं। जब योगी उन आनन्दमयी ऋचाओं का रसास्वादन करने लगता है, तब वह परमानन्द का अनुभव करने लगता है। (तदेव, न, अश्नीयात्) योगी उन ऋचाओं के आनन्द को उस समय तक अनुभव नहीं कर पाता, जब तक कि अतिथिरूप प्राण तत्त्व, जो योगी के मस्तिष्क व शरीर में सतत संचरित होते हैं, उन ऋचाओं के साथ संगत नहीं होते हैं। यहाँ अतिथि से पूर्व का प्रकरण पूर्ववत् समझें।

भावार्थ — जब कोई योगी योगसाधना करता है और एतदर्थ प्रणव वा गायत्री आदि का यथाविध जप करता है, तब सर्वत्र अभिव्याप्त परमैश्वर्यवान् इन्द्ररूप ईश्वर से निरन्तर प्रवाहित **'ओम्'** रश्मियाँ उस योगी के अन्तःकरण तथा प्राणों के अन्दर स्रवित होती रहती हैं। इससे वह योगी उन रश्मियों का रसास्वादन करता हुआ आनन्द में निमग्न हो जाता है।

* * * * *

परिशिष्ट-१

'मांसम्' पद की विवेचना

इस विषय में आर्य विद्वान् पण्डित रघुनन्दन शर्मा 'वैदिक सम्पत्ति' नामक ग्रन्थ में आयुर्वेद के कुछ ग्रन्थों को उद्धृत करते हुए कहते हैं—

सुश्रुत में आम के फल का वर्णन करते हुए लिखा है—

अपक्वे चूतफले स्नाय्वस्थिमज्जानः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते पक्वे त्वाऽविर्भूता उपलभ्यन्ते।

अर्थात् आम के कच्चे फल में नसें, हड्डियाँ और मज्जा आदि प्रतीत नहीं होती, किन्तु पकने पर सब आविर्भूत हो जाती हैं।

यहाँ गुठली के तन्तु रोम, गुठली हड्डियाँ, रेशे नसें और चिकना भाग मज्जा कहा गया है। इसी प्रकार का वर्णन भावप्रकाश में भी आया है। वहाँ लिखा है—

आम्रास्यानुफले भवन्ति युगपन्मांसास्थिमज्जादयो लक्ष्यन्ते न पृथक् पृथक् तनुतया पुष्टास्त एव स्फुटाः। एवं गर्भसमुद्भवे त्ववयवाः सर्वे भवन्त्येकदा लक्ष्याः सूक्ष्मतया न ते प्रकटतामायान्ति वृद्धिङ्गताः।

अर्थात् जिस प्रकार कच्चे आम के फल में मांस, अस्थि और मज्जादि पृथक्-पृथक् नहीं दिखलाई पड़ते, किन्तु पकने पर ही ज्ञात होते हैं, उसी प्रकार गर्भ के आरम्भ में मनुष्य के अंग भी ज्ञात नहीं होते, किन्तु जब उनकी वृद्धि होती है, तब स्पष्ट हो जाते हैं।

इन दोनों प्रमाणों से प्रकट हो रहा है कि फलों में भी मांस, अस्थि, नाड़ी और मज्जा आदि उसी प्रकार कहे गये हैं, जिस प्रकार प्राणियों के शरीर में। वैद्यक के एक ग्रन्थ में लिखा है—

प्रस्थं कुमारिकामांसम्।

अर्थात् एक सेर कुमारिका का मांस। यहाँ घीकुवार को कुमारिका और उसके गूदे को मांस कहा गया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार औषधियों और पशुओं के नाम एक ही शब्द से रखे गये हैं, उसी प्रकार औषधियों और पशुओं के शरीरावयव भी एक ही शब्द से

कहे गये हैं। इस प्रकार का वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में भरा पड़ा है। श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई में छपे हुए 'औषधिकोष' में नीचे लिखे समस्त पशुसंज्ञक नाम और अवयव वनस्पतियों के लिए भी आये हुए दिखलाये गये हैं। हम नमूने के लिए कुछ शब्द उद्धृत करते हैं—

वृषभ- ऋषभकन्द	सिंही- कटेली, वासा
श्वान- कुत्ताघास, ग्रन्थिपर्ण	खर- खरपर्णिनी
मार्जार- बिल्लीघास, चित्ता	काक- काकमाची
मयूर- मयूरशिखा	वाराह- वाराहीकन्द
बीछू- बीछूबूटी	महिष- महिषाक्ष, गुग्गुल
सर्प- सर्पिणीबूटी	श्येन- श्येनघंटी (दन्ती)
अश्व- अश्वगन्धा, अजमोदा	मेष- जीवशाक
नकुल- नाकुलीबूटी	कुक्कुट (टी)- शाल्मलीवृक्ष
हंस- हंसपदी	नर- सौगन्धिक तृण
मत्स्य- मत्स्याक्षी	मातुल- घमरा
मूषक- मूषाकर्णी	मृग- सहदेवी, इन्द्रायण, जटामांसी, कपूर
गो- गौलोमी	पशु- अम्बाड़ा, मोथा
महाज- बड़ी अजवायन	कुमारी- घीकुमार
हस्ति- हस्तिकन्द	मेद- मेदा
वपा-झिल्ली= बक्कल के भीतर का जाला	लोम(शा)- जटामांसी
अस्थि- गुठली	हृद- दालचीनी
मांस- गूदा, जटामांसी	पेशी- जटामांसी
चर्म- बक्कल	रुधिर- केसर
स्नायु- रेशा	आलम्भन- स्पर्श
नख- नखबूटी	

इस सूची में समस्त पशु-पक्षियों और उनके अवयवों के नाम तथा समस्त वनस्पतियों और उनके अवयवों के नाम एक ही शब्द से सूचित किये गये हैं। ऐसी दशा में किसी शब्द

से पशु और उसका अवयव ही ग्रहण नहीं किया जा सकता।

विज्ञ पाठक यहाँ विचारें कि ऐसी स्थिति में यहाँ '**मांसम्**' पद से गौ आदि पशुओं वा पक्षियों का मांस ग्रहण करना क्या मूर्खता नहीं है? यहाँ कोई पाश्चात्य शिक्षा से अभिभूत तथा वैदिक वा भारतीय संस्कृति व इतिहास का उपहासकर्ता कथित प्रबुद्ध किंवा मांसाहार का पोषक संस्कृत भाषा के ऐसे नामों पर व्यंग्य न करे, इस कारण हम यहाँ अंग्रेजी भाषा के भी कुछ उदाहरण देते हैं—

1. 'लेडीफिंगर' भिण्डी को कहते हैं। यदि भोजन के विषय में कोई इसका अर्थ किसी 'महिला की अंगुली' करे, तब क्या उसका अपराध नहीं होगा?
2. 'वेजिटेबल' किसी भी शाक वा वनस्पति को कहते हैं। उधर चेम्बर डिक्शनरी में इसका अर्थ 'डल अंडरस्टैंडिंग पर्सन' भी दिया है। यदि वेजिटेबल खाते हुए किसी व्यक्ति को देखकर कोई उसे मन्दबुद्धि मनुष्य को खाने वाला कहे, तब क्या यह मूर्खता नहीं होगी?
3. आयुर्वेद में एक पौधा है— गोविष, जिसे हिन्दी में 'काकमारी' तथा अंग्रेजी में 'फिश बेरी' कहा जाता है। यदि कोई इसका अर्थ मछली का रस लगाये, तो उसे क्या कहा जाए?
4. 'पोटैटो' आलू को कहते हैं, उधर इसका अर्थ 'ए मेंटली हैंडीकैप्ड पर्सन' भी होता है, तब क्या आलू खाने वाले को मानसिक रोगी मनुष्य को खाने वाला माना जाये?
5. 'हग' यह एक प्रकार का फल है, उधर 'एन अग्ली ऑल्ड वुमन' को भी 'हग' कहा जाता है, तब क्या यहाँ भी कोई 'हग' फल का अर्थ उल्टा ही लगाने का प्रयास करेगा?

अब हम इस पर विचार करते हैं कि फलों के गूदे को मांस क्यों कहा? जैसा कि हम अपने आधिदैविक भाष्य में लिख चुके हैं कि पूर्ण बलयुक्त वा पूर्ण बलप्रद पदार्थ को मांस कहा जाता है। संसार में सभी मनुष्य फलों के गूदे का ही प्रयोग करते हैं, अन्य भागों का नहीं, क्योंकि फल का सार भाग वही है। वही भाग बल-वीर्य का भण्डार है अर्थात् उसके

भक्षण से बल-वीर्य, बुद्धि आदि की वृद्धि होती है। अब कोई प्रश्न करे कि प्राणियों के शरीर का मांस क्यों मांस कहलाया?

इसका उत्तर यह है कि किसी भी प्राणी के शरीर का बल उसकी मांसपेशियों के अन्तर्गत ही निहित है, इस कारण से यह भी मांस कहा जाता है। जैसे शाकाहारी प्राणी फलों के गूदे का ही विशेष भक्षण करते हैं, वैसे ही सिंहादि मांसाहारी प्राणी किसी प्राणी के मांस भाग को ही विशेष रूप से खाते हैं। यह दोनों में समानता है। जो स्थान फलों में गूदे का है, वही स्थान प्राणियों के शरीर में मांस का है। मनुष्य प्राकृतिक रूप से केवल शाकाहारी व दुग्धाहारी प्राणी है, इस कारण वेदादि शास्त्रों में प्राणियों के मांस खाने की चर्चा बतलाना वेदादि शास्त्रों की परम्परा से सर्वथा अनभिज्ञता की परिचायक है। ऐसी चर्चा करने वाले कथित वेदज्ञ, चाहे विदेशी हों वा स्वदेशी, हमारी दृष्टि में वे वेदादि शास्त्रों की वर्णमाला भी नहीं जानते, भले ही वे व्याकरणादि शास्त्रों के कितने ही बड़े अध्येता वा अध्यापक क्यों न हों।

प्रश्न— वेद में 'मांसम्' पद का अर्थ प्राणियों का मांस कदापि नहीं हो सकता, इसे आपका पूर्वाग्रह क्यों न माना जाये, जो केवल शाकाहार के आग्रहवश ही किया गया है?

उत्तर— जिस परम्परा में सामान्य योगसाधक के लिए अहिंसा को प्रथम सोपान कहा गया हो, जहाँ मन, वचन, कर्म से कहीं भी व कभी भी सभी प्राणियों के प्रति वैर त्याग अर्थात् प्रीति का सन्देश दिया गया हो, वहाँ सिद्धपुरुष योगियों एवं उसी क्रम में अपनी योगसाधना द्वारा ईश्वर व मन्त्रों के साक्षात्कृतधर्मा महर्षियों, उनके ग्रन्थों एवं वेदरूप ईश्वरीय ग्रन्थों से हिंसा का सन्देश देना मूर्खता व दुष्टता नहीं है, तो और क्या है? जो विद्वान् वैदिक अहिंसा का स्वरूप देखना चाहें, वे पातञ्जल योगदर्शन के व्यासर्षि भाष्य को स्वयं पढ़कर देखें। इस ऐतरेय ब्राह्मण में जहाँ प्रायः सभी भाष्यकारों ने पशुओं का नृशंस वध एवं उसके अंगों के भक्षण का विधान किया है, वहाँ हमने उसी प्रसंग का कैसा गूढ़ विज्ञान प्रकाशित किया है, यह पाठक 'वेदविज्ञान-आलोक' ग्रन्थ के सम्पूर्ण अध्ययन से जान सकते हैं। पाठकों की जानकारी के लिए हम वेद से ही कुछ प्रमाण देते हैं-

○ यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। तं त्वा सीसेन विध्यामः।। (अथर्व.1.16.4)

अर्थात् तू यदि हमारी गाय, घोड़े वा मनुष्य को मारेगा, तो हम तुझे सीसे से बेध देंगे।

○ मा नो हिंसिष्ट द्विपदो मा चतुष्पदः।। (अथर्व.11.2.1)
अर्थात् हमारे मनुष्यों और पशुओं को नष्ट मत कर।

○ इमं मा हिंसीर्द्विपाद पशुम्। (यजु.13.47)
अर्थात् इस दो खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।

○ इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम्। (यजु.13.48)
अर्थात् इस एक खुर वाले पशु की हिंसा मत करो।

○ यजमानस्य पशुन् पाहि। (यजु.1.1) अर्थात् यजमान के पशुओं की रक्षा कर।

आप कहेंगे यह बात यजमान वा किसी मनुष्य विशेष के पालतू पशुओं की हो रही है, न कि हर प्राणी की। इस भ्रम के निवारणार्थ अन्य प्रमाण–

○ मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। (यजु.36.18)
अर्थात् मैं सब प्राणियों को मित्र की भाँति देखता हूँ।

○ मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः। (यजु.12.32) अर्थात् इस शरीर से प्राणियों को मत मार।

○ मा स्रेधत। (ऋ.7.32.9) अर्थात् हिंसा मत करो।

महर्षि जैमिनी के पश्चात् सबसे महान् वेदवेत्ता ऋषि दयानन्द के मांसाहार के विषय में विचारों को भी पाठक पढ़ें—

"मद्यमांसाहारी म्लेच्छ कि जिनका शरीर मद्यमांस के परमाणुओं से ही पूरित है, उनके हाथ का न खावें।"

"इन पशुओं को मारने वाले को सब मनुष्यों की हत्या करने वाले जानियेगा।"

"जब से विदेशी मांसाहारी इस देश में आकर गो आदि पशुओं को मारने वाले मद्यपायी राज्याधिकारी हुए हैं, तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की सीमा बढ़ती जाती है।"
—सत्यार्थ प्रकाश, दशम समुल्लास

देखिये दया के सागर ऋषि दयानन्द क्या कहते हैं—

''पशुओं के गले छुरे से काटकर जो अपना पेट भरते हैं, वे सब संसार की हानि करते हैं। क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देने वाले पापीजन होंगे?''

''हे मांसाहारियो! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं?''

''हे धार्मिक लोगो! आप इन पशुओं की रक्षा तन, मन और धन से क्यों नहीं करते?'' (गोकरुणानिधि)

आशा है बुद्धिमान् एवं निष्पक्ष पाठकों की मांसाहार की भ्रान्ति निर्मूल हो चुकी होगी।

* * * * *

वेद-रक्षार्थ मार्मिक निवेदन

वैदिक सनातन विचारधारा विश्व की सर्वश्रेष्ठ, सनातन एवं सर्वहित-कारिणी विचारधारा है। सृष्टि के आदि से लेकर महाभारत काल पर्यन्त वैदिक सत्य सनातन धर्म संसार के मनुष्यों का एकमात्र धर्म रहा। महर्षि ब्रह्मा, भगवान् मनु, महाराजा इक्ष्वाकु, महाराजा हरिश्चन्द्र, भगवान् शिव, भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, महर्षि परशुराम, महर्षि वसिष्ठ, महर्षि अगस्त्य, महर्षि भरद्वाज, महर्षि विश्वामित्र, महर्षि वाल्मीकि, महर्षि व्यास, महावीर हनुमान, महर्षि पतञ्जलि, महर्षि ऐतरेय महीदास, कणाद, कपिल जैसे दिव्य पुरुषों, भगवती उमा, देवी सीता, सती अनसूया, देवी लोपामुद्रा, देवी रुक्मिणी, गार्गी, अपाला जैसी महिमामयी नारियाँ इस वैदिक धर्म की ही देन हैं। वेद प्रतिपादित धर्म (भौतिक व पदार्थ विज्ञान) के कारण सम्पूर्ण आर्य्यावर्त सम्पूर्ण विश्व में सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित था। सम्पूर्ण विश्व भी सुखी, सम्पन्न एवं आध्यात्मिक उन्नति से परिपूर्ण था। भगवान् श्रीराम का राज्य, जहाँ किसी प्राणी को किसी प्रकार का कोई दुःख नहीं था, आज तक संसारभर में विख्यात है।

क्या आप जानते हैं कि इस सबका कारण क्या था? इसका उत्तर वर्तमान काल में केवल ऋषि दयानन्द सरस्वती ने दिया और कहा कि भूमण्डल की सम्पूर्ण उन्नति एवं ज्ञान-विज्ञान व तकनीक की पराकाष्ठा का मूल कारण था— वेद। सभी मनुष्य वेदों के विद्वान् एवं तदनुसार आचरणवान् होते थे। सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान-विज्ञान का विस्तार आर्य्यावर्त से ही हुआ। दुर्भाग्य से महाभारत काल से पूर्व ही आर्य्यावर्त के साथ-साथ विश्व में मनुष्यों के सत्त्वगुण का ह्रास होते जाने के कारण वेदविद्या का भी अत्यधिक ह्रास होने लगा। इस कारण वैदिक सनातन धर्म विद्रूप हो गया। इसके नाम पर पशुबलि, नरबलि, मांसाहार, रंगभेद, छुआछूत, मदिरापान, अश्लीलता आदि पापों का प्रचलन हो गया। इसके प्रतिक्रिया-स्वरूप चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि मतों का प्रादुर्भाव हुआ। चार्वाक मत नितान्त भोगवादी था, परन्तु जैन व बौद्ध मतों के प्रवर्तक पवित्रात्मा होने के कारण सदाचार के पथिक बने, लेकिन महात्मा बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध मत वैदिक धर्म का प्रबल विरोधी एवं वैदिक साहित्य का विध्वंसक बन गया।

ऐसे अन्धकार भरे काल में कुमारिल भट्ट एवं आद्य शंकराचार्य जैसे महापुरुषों ने वैदिक सनातन धर्म को आर्य्यावर्त में पुनः प्रतिष्ठित करने का बीड़ा उठाया, परन्तु आचार्य शंकर

की महती प्रज्ञा से घबराकर वेदविरोधियों ने छल से उन्हें विष दे दिया और इस अद्‌भुत प्रत्युत्पन्नमति सम्पन्न शास्त्रार्थ समर के योद्धा को भारतभूमि से विदा कर दिया। इनके जाने के पश्चात् इनके अनुयायी भी इनके मन्तव्यों को अच्छी प्रकार समझ नहीं पाये और स्वयं को ब्रह्म मानकर कमण्डलु लेकर मिथ्या वैरागी भिक्षोपजीवी बनकर रह गये। उधर बौद्ध व जैन मतों के द्वारा अहिंसा की मिथ्या परिभाषा के प्रचार से क्षत्रिय भी क्षात्रधर्म भूलकर कायर वा शस्त्रास्त्र-विहीन बन गये।

उधर विश्व के अन्य देशों में पारसी, यहूदी, ईसाई व इस्लाम आदि मत भी प्रचलित होने से सम्पूर्ण विश्व में नाना पापों, दु:खों, अशान्ति व अराजकता का ताण्डव होने लगा। ऐसे दुष्काल में गुरु नानकदेव, संत कबीर, संत रविदास, संत ज्ञानेश्वर आदि ने अपने-अपने स्तर पर समाज को दिशा देने का प्रयास किया, परन्तु वेदविद्या का पूर्ण प्रकाश न होने से ये सभी महापुरुष काल की क्रूर गति को रोक नहीं पाये, बल्कि नये-नये सम्प्रदाय और उत्पन्न हो गये। वेद का नाम लेने वाले कथित ब्राह्मणों ने अन्य वर्णों एवं महिलाओं को वेद पढ़ने से ही वंचित कर दिया और स्वयं भी वेद के नाम पर मात्र कर्मकाण्डोपजीवी होकर रह गये। पशुबलि, नरबलि, मांसाहार, मदिरा सेवन, छुआछूत, नारी शोषण, बाल विवाह, जैसे पाप वैदिक कर्मकाण्ड के नाम पर प्रचलित थे। उधर देश के क्षत्रिय राजा मूर्तिपूजा व फलित ज्योतिष के भ्रमजाल में फँसकर तथा पारस्परिक फूट के कारण विदेशी आक्रान्ताओं से पराजित होने लगे और विदेशी लुटेरे हमारे घर में शासक बन गये। उन्होंने हमारा धन लूटा, हमारे साहित्य को जलाया, तो अंग्रेज उसे लूटकर वा चुराकर अपने देश ले गये। इस प्रकार संसार में हमारा शिरोमणि देश दीन-हीन हो गया। ऐसे समय में इस भारतभूमि में ऋषि दयानन्द जैसे दिव्य पुरुष ने जन्म लिया। उन्होंने वेदविद्या को भुला देना ही, अपने देश के ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व के अध:पतन का कारण माना।

इस कारण उन्होंने सम्पूर्ण क्रान्ति का बिगुल बजाने का संकल्प लिया। स्वराज्य का प्रथम उद्‌घोष किया, सामाजिक दुरितों के विरुद्ध शंखनाद किया, परन्तु उनके सब कार्यों में से सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था— वेदोद्धार करना। उन्होंने मध्यकालीन वेदभाष्यकारों के भाष्यों के दोषों को दर्शाते हुए वेद की यथार्थ भाष्य शैली, जो वेद के वेदत्व का संकेत दे सकती थी, को संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया। दुर्भाग्यवश ऋषि दयानन्द का जीवन बहुत छोटा रहा, विधर्मियों ने उन्हें भी संसार से विदा कर दिया। इस कारण उनका वेदभाष्य बहुत ही

संक्षिप्त व सांकेतिक रह गया। यही कारण था कि उनके अनुयायी आर्य विद्वान् भी उसे पूर्णतः नहीं समझ पाये और जो शेष वेद का भाष्य इन विद्वानों ने किया, उसमें भी अनेकत्र वही दोष आ गये, जो सायण, महीधर, स्कन्दस्वामी आदि के भाष्यों में विद्यमान थे। आर्यसमाज ने इस देश में स्वाधीनता संग्राम के साथ समाज सुधार के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। किसी भी संस्था-संगठन वा सम्प्रदाय से अधिक बलिदान आर्यसमाज ने दिये, परन्तु वेद के अपौरुषेयत्व तथा सर्वविज्ञानमयत्व की सिद्धि की दिशा में विगत डेढ़ सौ वर्ष में भी आर्यसमाज कोई कार्य नहीं कर पाया। आर्यसमाज सदैव शास्त्रार्थ-सभा का एकछत्र विजेता भी रहा, परन्तु वेद के यथार्थ विज्ञान के बिना यह विजय अधूरी है।

आज परमपिता परमात्मा ने पूज्य आचार्य अग्निव्रत के रूप में हमें पुनः एक अवसर दिया है। भीनमाल, राजस्थान से 10 कि.मी. दूर एक छोटे से न्यास में रहकर आचार्य श्री वेदों का वास्तविक स्वरूप संसार के समक्ष रखने का प्रयास कर रहे हैं। इस प्रयास में पहले आपने ऋग्वेद को समझाने वाले उसके ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण, जिसे लगभग सात हजार साल पुराना माना जाता है, का वैज्ञानिक (वस्तुतः वास्तविक) भाष्य वेदविज्ञान-आलोकः (लगभग 2800 पृष्ठ) के रूप में विश्व में पहली बार किया है। यह ग्रन्थ सृष्टि विज्ञान के ऐसे अत्यन्त गम्भीर व अनसुलझे रहस्यों का उद्घाटन करता है, जिनके बारे में विज्ञान की वर्तमान पद्धति से सैकड़ों वर्षों में भी नहीं जाना जा सकेगा।

इसके पश्चात् आचार्य श्री ने वेदों को समझने के लिए वैदिक पदों की व्याख्या करने वाले एक अनिवार्य ग्रन्थ महर्षि यास्क विरचित निरुक्त का वैज्ञानिक भाष्य 'वेदार्थ-विज्ञानम्' (लगभग 2000 पृष्ठ) के रूप में संसार के सामने प्रस्तुत किया। इस ग्रन्थ में आचार्य श्री ने सैकड़ों मन्त्रों का भाष्य किया, किसी मन्त्र का एक, किसी का दो, तो किसी का तीन प्रकार का भाष्य किया है। उदाहरणार्थ 'विश्वानि देव...' मन्त्र का 16 प्रकार का भाष्य कर आचार्य श्री ने यह सिद्ध किया है कि किसी भी वेद मन्त्र के अनेक प्रकार के भाष्य सम्भव हैं, जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण 3.10.11 में कहा है— 'अनन्ता वै वेदाः' अर्थात् वेदों में अनन्त ज्ञान है। ये दोनों ग्रन्थ आर्यसमाज ही नहीं, अपितु सनातन धर्म के गौरव हैं और हमें गर्व है कि हमारे मध्य में आचार्य श्री के रूप में अभी भी ऐसे वैज्ञानिक (वर्तमान की भाषा में) विद्यमान हैं, जो हमें हमारे मूल वेद, ईश्वर, धरती माँ और गौ माता से जोड़ते हैं। यह एक अकाट्य सत्य है कि जो अपने मूल से कट जाता है, वह नष्ट हो जाता है और यही हो भी रहा है। वेद और

ईश्वर से दूर जाता यह संसार निरन्तर विनाश की ओर बढ़ता जा रहा है।

समाधान एक ही है— हमें आचार्य श्री के इस दुष्कर कार्य में अपना अधिक से अधिक सहयोग करना होगा, नहीं तो समय निकलने के पश्चात् हमारे पास पछताने के अलावा कुछ नहीं बचेगा। भारत के डी.आर.डी.ओ., इसरो से लेकर नासा, सर्न तक व नोबेल पुरस्कार विजेता तक कितने ही वैज्ञानिकों ने आचार्य श्री के अनुसंधान कार्य का लोहा माना है अथवा वर्तमान विज्ञान के सिद्धान्तों पर उठाये प्रश्नों से अभिभूत हुए वा निरुत्तर हुए हैं। जिस कार्य में वैज्ञानिकों को अरबों-खरबों डॉलर खर्च करने के बाद भी सफलता नहीं मिली, वह कार्य आचार्य श्री ने अत्यल्प संसाधनों में एक छोटी सी जगह पर रहकर और विपरीत परिस्थितियों में अनेक प्रकार के विरोधों को सहन करते हुए भी कर दिखाया है। इसके पश्चात् आचार्य श्री की योजना वेदों के ऐसे सूक्तों का भाष्य करने की है, जिनका भाष्य अत्यन्त कठिन है या जिनमें विज्ञान के गम्भीर रहस्य छुपे हुए हैं।

इसलिए हमारा यह कर्त्तव्य बन जाता है कि वैदिक विज्ञान के इस महान् यज्ञ में हम अपनी पवित्र आहुति अवश्य प्रदान करें और परमपिता परमात्मा के आशीर्वाद के पात्र बनें। इसके अतिरिक्त वेद, वैदिक धर्म और राष्ट्र को बचाने का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

निवेदक— विशाल आर्य व डॉ. मधुलिका आर्या, प्राचार्य व उप-प्राचार्या,
आधुनिक एवं वैदिक भौतिकी शोध संस्थान
(श्री वैदिक स्वस्ति पन्था न्यास द्वारा संचालित) भीनमाल (राजस्थान) 343029

जय माँ वेद भारती

वैदिक रश्मि विज्ञानम्

/vaidicphysics

आचार्य अग्निव्रत

“**‘वैदिक रश्मि विज्ञान’** वेद के साथ सम्पूर्ण सृष्टि को समझने का श्रेष्ठतम विज्ञान है। यह विज्ञान वेद के स्वरूप को समझने में हजारों वर्षों से होती आ रही भूलों तथा आधुनिक भौतिक विज्ञान की अनेक अनसुलझी समस्याओं के परिष्कार का सर्वोत्तम साधन है। यह ग्रन्थ **‘वेदविज्ञान-आलोकः’** के प्रथम संस्करण की पूर्वपीठिका का संशोधित रूप है। यह ग्रन्थ **‘वेदविज्ञान-आलोकः’** एवं **‘वेदार्थ-विज्ञानम्’** को समझने की कुंजी है। यह ग्रन्थ वेद व आर्ष ग्रन्थों की परम्परागत शैली तथा वर्तमान भौतिक विज्ञान के अनुसंधाताओं को सर्वथा नवीन वस्तुतः सनातन आर्ष दृष्टि प्रदान करेगा। इस ग्रन्थ के गम्भीर अध्ययन से प्रतिभाशाली एवं सात्त्विक प्रज्ञा व अन्तःकरण वाले अध्येताओं को वेदादि शास्त्रों तथा ब्रह्माण्ड के गम्भीरतम रहस्य सहज ही उद्घाटित होते प्रतीत होंगे। उन्हें ऐसा प्रतीत होगा मानो शास्त्र एवं सृष्टि दोनों ही अपने रहस्यों से पर्दा उठाने के लिए उद्यत हो रहे हैं।

वस्तुतः यह विज्ञान मेरा अपना नहीं है, बल्कि महर्षि ऐतरेय महीदास, महर्षि याज्ञवल्क्य, महर्षि तित्तिर, महर्षि जैमिनी, महर्षि यास्क जैसे एवं इनके भी पूर्वज वेद के महान् तत्त्वद्रष्टा महर्षियों का सनातन विज्ञान है। मैंने तो उन महापुरुषों के विज्ञान को मात्र उद्घाटित किया है। सम्पूर्ण सृष्टि वेदमन्त्रों के स्पन्दनों से ही बनी है, यह इस विज्ञान का सार तत्त्व है। विषय नवीन प्रतीत होने से पाठकों को इसके अध्ययन में कठिनाई अवश्य आयेगी, परन्तु वेदों व ऋषियों के महान् ज्ञान-विज्ञान पर श्रद्धा तथा भगवत्पाद परमर्षि ब्रह्मा से लेकर ऋषि दयानन्द पर्यन्त ऋषियों की वेद के प्रति घोषणा पर विश्वास करने वाले इस ग्रन्थ को पढ़कर आनन्दित व रोमांचित अवश्य होंगे।

thevedscience.com

सर्वं वेदात् प्रसिध्यति
द वेद साइंस पब्लिकेशन

ISBN 978-81-976604-2-9